श्री हरिः

निवेदन

समालोचना एक बड़ी ही कठिन साहित्य-साधना है। वास्तव में यह 'क्षुरस्य धारा निषिता दुरत्यया' है। राग और द्वेष से सर्वथा मुक्त हो कर, पक्षपात से परे जाकर किसी साहित्यकृति का आस्वादन करना और अपने इस उपभोग का आनन्द औरों तक ज्यों का त्यों उतार देना कितना कठिन है इसे सुधीजन जानते हैं, समझते हैं और अनुभव करते हैं। समालोचना यदि नीर-क्षीर-विवेचन-मात्र होती तब तो बड़ी आसान होती; पर आज समालोचना साहित्य की पूरी गहराई और साथ ही पूरे विस्तार को पीकर, पचाकर, अपनी मर्मभरी वाणी बोलती है। समालोचक में कवि और वैज्ञानिक का विलक्षण मणि-कांचन योग होता है—कवि का हृदय लेकर समालोचक रस का आस्वादन करता है। पर मात्र रसास्वादन और रसनिरूपण ही तो समालोचना नहीं है। रस पीते समय यदि समालोचक की आँखें झँप गयीं, यदि वह 'बेखबर' हो गया, तो गया। उसे अपने आस्वादन को औरों के लिए आस्वाद्य बनाना है। तर्क से, विवेक से, रस की धार बहाकर, भावना की जगमगाहट पहुँचा कर। इसीलिए समालोचक सतत सावधान है, चिर जाग्रत है। अमुक वस्तु अच्छी है या बुरी है इतना कहकर छुट्टी पा लेना होता तो हम सभी समालोचक ही समालोचक हैं; क्यों अच्छी हैं, क्यों बुरी है प्रमाणों से सिद्ध कर देना होता तो भी काम बहुत कुछ आसान ही था पर 'मुझे यह प्रिय लग रहा है' ऐसा सीधे न कहकर समालोचक कुछ ऐसा समाँ बाँध देता है कि वह वस्तु पाठक के हृदय को भी सहज ही प्रिय लगने लगती है और पाठक मन ही मन प्रसन्न होकर यह कह उठता है कि समालोचक ने उसके ही मन की बात लिख दी है। समालोचक यदि राग या द्वेष के आवेश में है तो उसकी बात का अशुभ, अप्रिय एवं प्रायः अन्यथा प्रभाव पाठक के चित्त पर पड़ता है। वह उस समय समालोचक के महान पद से गिरकर मात्र-प्रचारक रह जाता है और इसीलिए समालोचना में, सत्समालोचना में 'हिरो वर्शिप' अक्षम्य अपराध माना गया है।

प्रतिभा, अभ्यास, निपुणता, पक्षपातरहित शुद्ध निर्मल दृष्टि, राग द्वेष से मुक्त शुद्ध अन्तःकरण, सहज प्रज्ञा एवं भावयित्री तथा कारयित्री प्रतिभा—समालोचक के लिए अनिवार्य गुण हैं। समालोचक कवि भी है और विद्वान भी, कलाकार-कलामर्मज्ञ भी और विज्ञानवेत्ता-वैज्ञानिक भी। गंभीर अध्ययन, चिन्तन, मनन,

कालेज में सहाध्यापन का परमानन्द मुझे प्राप्त हुआ है। अध्ययन उसका व्यसन, चिन्तन और मनन उसका नशा है। इस दृष्टि से उसका अन्तस् और बाह्य शुद्ध मनीषी का है। 'दिनकर' में उसके अन्तर्जगत् का सौन्दर्य चहक उठा है। कोई भी पाठक लेखक की प्रतिभा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

प्रस्तुत पुस्तक दो भागों में विभक्त है - प्रथम भाग में सामान्य आलोचना है और द्वितीय भाग में दिनकर की अब तक प्रकाशित समस्त कृतियों का साहित्यिक मूल्यांकन है। प्रथम भाग में राष्ट्रीय भावना के क्रमविकास का इतिहास बड़े ही विशद रूप में, एक बड़े पट पर रख कर लिखा गया है। इसमें लेखक के गम्भीर अध्ययन तथा अपनी मौलिक सूझ-बूझ का अन्दाज मिलता है। लेखक ने 'भूषण' के समर्थन में जो कुछ लिखा है वह इतना सबल एवं प्राञ्जल है कि उसकी कलम चूम लेने का जी करता है। देश-प्रेम को लेखक ने भगवान के विराट् रूप के दर्शन का दूसरा नाम माना है और इसी विशाल तथा उदार भूमिका पर उसने राष्ट्रीयता को समझा और समझाया है। लेखक ने दिनकर को सब ओर से निरखा-परखा है, अच्छी तरह, जमकर, लुभाई हुई पर सावधान नजरों से। उसकी रसभरी रसग्राहिणी पर विवेकवती प्रतिभा की गोद में दिनकर का सम्पूर्ण साहित्यिक व्यक्तित्व एक शिशु-सा खेलता दीख रहा है। लेखक दुलराता है, दुलराता है पर आवश्यकता पड़ने पर उसके दोनों हाथों को बाँधकर 'साँटी' से खबर लेने में भी चूकता नहीं। और क्या गजब की शैली पाई है लेखक ने— अनाघ्रात पुष्प की तरह पवित्र, उषा की तरह नवीन, मधु की तरह मीठी। वह सर्वथा उसकी अपनी है, सर्वथा निराली, सर्वथा मौलिक। आरम्भ से अंत तक यह सम्पूर्ण पुस्तक बड़े परिश्रम और रुचि के साथ खूब जम कर लिखी गई है। लेखक अपने साथ पाठक को बहा ले जाता है उसकी भाव व्यंजना कहीं चहकती हुई, कहीं बिछलती हुई, कहीं थिरकती और कहीं सर सर भागती नजर आती है। पाठक कहीं भावों की अथाह गहराई में डूबता है, कहीं सतह पर तैरता, कभी खीझता और कभी मुसकराता है और कई ऐसे स्थल हैं जहाँ हँसते-हँसते वह लोट-पोट हो जाता है, पेट में बल पड़ने लगते हैं। यह स्वीकार करना चाहिए कि गम्भीरता के साथ-साथ व्यंग्य विनोद के सुमधुर सन्निवेश में शिवबालक जी शुक्ल जी से होड़ लेते हैं और सफलता पूर्वक। कहीं-कहीं इनकी शैली इमरती की तरह पेंच खाती चली है पर उसके कण कण में शब्द-शब्द में माधुर्य का रस लबालब भरा है। पाठक कहीं थकता नहीं, अघाता नहीं;—वह और, अभी और की प्यास लिए बढ़ता ही जाता है।

बीच-बीच में, अवश्य ही अनजान में, लेखक की लेखनी से ऐसे वाक्य निःसृत हुए हैं जो अमर हैं और याद रखने लायक हैं—जैसे, "कला के अधरों में

अमृत का निवास है, वह जिस वस्तु को चूमती है वह अमर हो जाता है।" "पुस्तक के अन्दर का प्रेमी कभी मरता नहीं।" "विक्रम के शिलालेख पुराने पड़ गये, लोग पढ़ नहीं पाते पर शकुन्तला के कमल पर लिखे हुए पद आज भी नये मालूम होते हैं।" "कवि के गीत काल की प्रखर धारा पर आरती की तरह चले आ रहे है।" "कल्पना बासीपन को बर्दाश्त नहीं कर पाती।" "गरमी सर्दी और [illegible] इसकी दासी है।" इत्यादि इत्यादि। ऐसे वाक्यों से यह सहज ही अनुमान लगता है कि लेखक ने साहित्य और कला की गहराई में डूबकर उसका आस्वादन किया है।

लेखक को दिनकर में 'धब्बे' भी दिखे हैं पर उसे दिखलाने का ढंग इतना सरस एवं मधुर है कि दूषण भूषण हो गये हैं। 'सामधेनी' के नामकरण पर लेखक की आपत्ति श्लाघ्य है। सच, अकबर और दिनकर की कविताओं को मिलाकर जो अध्ययन प्रस्तुत किया है वह परम रमणीय हुआ है। 'कवि के मित्र' का स्वरूप-चित्रण स्वस्थ हास्य को उकसाता है। दिनकर की दो पंक्तियों पर जो शास्त्रार्थ खड़ा किया है वह देखने सुनने लायक है। वे पंक्तियाँ ग्रामबाला का ससुराल जाते समय का चित्र उपस्थित करती हैं—

भींग रहा मीठी उमंग से दिल का कोना कोना।
भीतर भीतर हँसी देख लो बाहर बाहर रोना॥

लेखक ने आरम्भ में तो जी-जान से समर्थन किया है पर अन्त में वह परास्त होकर पछाड़ खा जाता है। अन्त में उसने स्वीकार किया है कि "यहाँ तर्क द्वारा उक्त आक्षेप के खंडन का प्रयास भर किया गया है; हृदय से मैं उस आक्षेप का समर्थन करता हूँ।" स्पष्टोक्ति पर सैकड़ों युक्तियाँ निछावर। यहाँ हार भी जीत है। 'मिट्टी की ओर' की समालोचना करते हुए कई स्थानों पर लेखक ने दिनकर से गहरा मतभेद प्रकट किया है और अपने कथन को प्रमाणों से पुष्ट किया है। इस प्रकार के मतभेदों का साहित्यक महत्व और भी बढ़ गया है।

एक बात हमारा ध्यान बार बार आकृष्ट करती है--जहाँ लेखक दिनकर के साथ पूर्ण 'सामरस्य' स्थापित करने में सफल हुआ है वहाँ उसकी वाणी में से गङ्गा की प्रखरतर धारा फूट पड़ी है --वह रस का आस्वादन करता है, भाव में नहाता है और प्रयुक्त शब्दों की सरसता पर नाच उठता है। ऐसे स्थल इस ग्रन्थ में कई हैं जहाँ शब्दों की सजावट पर बड़ी पैनी दृष्टि से विचार किया गया है और लक्षण-ग्रन्थों के आधार पर उनकी रसोन्मेषिनी शक्ति पर प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थ में कुछ पुनरुक्तियाँ भी हैं। ऐसा प्रतीत होता है लेखक एक बार, दो बार किसी बात को कहकर भी अघा नहीं रहा है, तृप्त नहीं हो रहा है। उसे भय है कि उसके अंदर

बहने वाली रसधार में पाठक 'सिक्त' नहीं हुआ है, इसलिए बार-बार वह उसे छेड़ता और भिगोता है।

भारतीय विश्वविद्यालयों की सर्वोच्च कक्षाओं में शुद्ध समीक्षा का उदाहरण उपस्थित करने की दृष्टि से आदर के साथ इस ग्रन्थ को स्थान दिया जाना चाहिए। ऐसा सुन्दर ग्रन्थ लिखने पर, समालोचना कला का ऐसा दिव्य मनोहारी साफल्य प्राप्त करने पर मैं ग्रंथकार को किन शब्दों में बधाई दूँ ? उनकी लेखनी धन्य है, इसी प्रकार आगे भी अधिकाधिक धन्य हो।

सच्चिदानन्द सिन्हा कालेज
औरंगाबाद (गया)

—भुवनेश्वरनाथ मिश्र, 'माधव'

दो शब्द

हमेशा मैं भागता ही रहा; बचपन में पढ़ने से और अब लिखने से। एक की जगह दो घंटे भले बोल लेता हूँ, लेकिन लिखना; मत पूछिए, मुझे पहाड़ लगता है। 'दिनकर' के एक एक वाक्य लिखते समय मुझ पर जो गुजरी है सो मैं ही जानता हूँ। खैर, जैसे-तैसे पुस्तक पूरी हुई! कैसी हुई, सो आप जानें। बालक की 'तोतरि वार्ता' आप को प्रिय लगेगी? संस्कृत और हिन्दी साहित्य के प्रौढ़ विद्वान, गुरुवर, पं० जगन्नाथ राय शर्मा जी एम. ए. ने इस पुस्तक के कई अंशों को देख-सुनकर मुझे उचित परामर्श प्रदान किये हैं। इस स्नेह के लिये मैं इनका चिर ऋणी हूँ। संत-साहित्य के मर्मज्ञ, सदा प्रसन्न, प्रिंसिपल 'माधव' के साहित्यिक विचारों से मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ। माधव जी बिल्कुल अपने हैं, कुछ कहते नहीं बनता।

'दिनकर' को शीघ्र में प्रकाश लाने का श्रेय मेरे प्रिय शिष्य श्री रामेश्वरनाथ जी तिवारी, एम. ए. को है। यदि इनके कड़े तकाजे न होते तो दिनकरजी मेरे 'आलस्य बक्स' में और दो चार साल पड़े रहते। श्री तिवारी जी स्वयं एक मेधावी विद्वान और प्रतिभाशाली कहानीकार हैं। इस पुस्तक में कई जगह मैंने इनके विचारों से लाभ उठाया है। इन्हें मेरा हार्दिक धन्यवाद है। श्री धनंजय जी और श्री ललन जी दोनों अभी एम. ए. के छात्र हैं; 'दिनकर' के सामग्री-संकलन में इनसे मुझे पर्याप्त सहायता पहुँची है। मैं इनके उज्ज्वल भविष्य की शुभकामना करता हूँ।

अंत में, अपने स्कूल जीवन के हिन्दी अध्यापक, पं० किन्नू चौधरी जी पं० हरिकिशोर झा जी 'हेम' के प्रति चिरकृतज्ञता का भाव सादर प्रकट करता हूँ। इनने ही मुझमें, क्रमशः, व्यास-वाल्मीकि, माघ-कालिदास और तुलसी-विहारी के प्रति प्रेम उत्पन्न किया है। इस पुस्तक में इन गुरुवरों के पद-पद्म की सरस सुवास वर्त्तमान है।

यदि श्री, जयराम जी भार्गव ने आगे बढ़कर 'दिनकर' के प्रकाशन में उत्साह नहीं प्रदर्शित किया होता तो यह कहना कठिन है कि इसका प्रकाशन कब तक रुका रहता। भार्गव जी की सुरुचि, संस्कृति और शालीनता की छाप उन के प्रकाशनों पर भी रहती है। ऐसे व्यक्ति के हाथों 'दिनकर' का प्रकाशन हो रहा है इसका मुझे उचित गर्व है।

—लेखक

विषय-सूची

प्रथम भाग—सामान्य आलोच

द्वितीय भाग—कृतियों का परिचय

प्रवेश

राष्ट्रीय कविता का उद्गम और विकास—आधुनिक राष्ट्रीय कविता अनादि काल से प्रवाहित होती हुई भाव-सरिता की एक विशेष धारा है। विश्व के प्राचीन-तम साहित्य में राष्ट्र या देश के प्रति सुन्दर उद्गार व्यक्त हुए हैं। ऋग्वेद संसार का सबसे पुराना ग्रंथ माना जाता है। इसमें कई स्थलों पर राष्ट्र-सम्बन्धी उदात्त भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। सभी प्रकार की राष्ट्रीय भावनाओं का मूलाधार अपने देश विशेष में मातृ-भावना का प्रतिष्ठापन ही है। जिस प्रकार बालक पयपान द्वारा पालन करने वाली अपनी माता के प्रति अनुगृहीत रहता है उसी प्रकार किसी देश की जाति भी अपनी धरती के प्रति स्वभावतः कृतज्ञता प्रकट करती है। बालक के लिए पिता की अपेक्षा माता का साहचर्य अधिक सुलभ होता है। गृह-शासक पिता से वह भय खाता है, दूर भागता है, लेकिन स्नेहमयी जननी के गले लिपटता है और अपने दिल की हँसी खुशी कह सुनाता है। इसलिए अपने देश में मातृ-भूमि-भावना का आरोपण* जितना मनोवैज्ञानिक है उतना पितृ-भूमि-भावना का नहीं ऋग्वेद के दशम मण्डल में मातृ-भूमि की सेवा करने का स्पष्ट आदेश दिया गया है। 'उपसर्प मातरं भूमिम्'। [१०।१८।१०] आर्य ऋषियों के हृदय में धरती-माता के प्रति कैसे भाव भरे थे यह जानने के लिए अथर्ववेद के १२ वें काण्ड का पृथ्वी-सूक्त द्रष्टव्य है। इस सूक्त में ६३ मंत्र हैं और प्रत्येक में मातृ-भूमि की महिमा का गान किया गया है। कई स्थलों पर पृथ्वी को गौ, धेनु आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। यह धरती धेनु के समान होकर हमारे लिए धन का सहस्र धारों में वर्षण करे :—

"सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती।"

ऋषियों ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि हे भूमि, तुम हम सब की माता हो और हम तुम्हारे पुत्र हैं। जीवनदाता पिता पर्जन्य हम सबों की रक्षा करे :—

"भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु।"

मेघ के जल का जब मिट्टी से संयोग होता है तब उससे धान्य की उत्पत्ति होती है और इसी अन्न से मानव-जाति का पालन होता है। धरती और मेघ को माता-पिता के रूप में देखना कितना स्वाभाविक और सुन्दर है।

---

*फ्रायड के अनुसार प्रत्येक पुत्र अपने पिता के प्रति अवचेतन मन में द्वेषभावना का पोषण करता है। पिता के प्रति स्वाभाविक शत्रु-भावना को एडीपस कहा गया है।

ऋषियों ने पृथ्वी के आधिभौतिक और आधिदैविक दोनों रूपों के दर्शन किए हैं। सिंह, भालू जैसे हिंसक पशुओं से सदा रक्षा करने की प्रार्थना की गई है। ऋषियों ने केवल भोग्य पदार्थों की ही याचना नहीं की है वरन् अपनी दीर्घ आयु को जननी के चरणों में समर्पित करने की, आत्म-बलिदान करने की भावना भी व्यक्त की है। यथा— 'दीर्घं न आयुः प्रति बुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम', ऋषियों के श्रद्धावनत मस्तक मातृ भूमि को सदा प्रणाम करते रहे हैं:—

"तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः।"

आधुनिक राष्ट्रीय कविता में मातृ-भूमि सम्बन्धी जो भाव वर्णित होते हैं उनका स्रोत वैदिक काल से ही बहता आ रहा है। मैथिलीशरण गुप्त की 'मातृभूमि' कविता में पृथ्वी-सूक्त के कई मंत्रों की छाया वर्तमान है। गुप्त जी की यह विशेषता है कि उन्होंने पुरातन राष्ट्रीय भावों को नूतन भंगिमा के साथ फिर से हमारे सामने खड़ा किया।

वैदिक और संस्कृत साहित्य में राष्ट्र शब्द का प्रयोग बहुलता के साथ किया गया है। यह शब्द एक सुनिर्दिष्ट अर्थ और भाव का प्रतीक हो चुका था। प्रत्येक आर्य अपने देश का सुयोग्य नेता बनने की कामना करता था।"वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः।" [यजुर्वेद, ९।२३] अर्थात् हम अपने देश में सावधान होकर पुरोहित 'अगुआ' बनें। अथर्ववेद में राष्ट्र के धन-धान्य, दुग्धादि से संवर्धित होने की कामना की गई है:—

'अभिवर्धतामं पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्, [अथर्व, ६।७८।२] अर्थात् मनुष्य दुग्धादि पदार्थों से बढ़ें, राज्य से बढ़ें।

यही नहीं, बल्कि राष्ट्र को शासित करने वाले राजा के लिए भी ब्रह्मचर्य और तपस्या के आचरण का विधान कहा गया है :— 'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।' [अथर्व०, ११।३।५] राष्ट्र का आशय उस विशेष भूखंड से है जहाँ के निवासी एक संस्कृति के सूत्र से अनुस्यूत हैं, जहाँ की जनता एक संविधान से अनुशासित है और जहाँ के निवासियों में तद्देशीय प्राचीन पुरुषों, साहित्यों और कलाओं के प्रति श्रद्धा, स्नेह और सहानुभूति के भाव वर्त्तमान हैं। उपर्युक्त दृष्टि-कोण से विचार करने पर आर्यों की राष्ट्रीय भावना अत्यन्त पुष्ट और विकसित प्रतीत होती है। शासन करने वाली स्त्री के लिए 'राष्ट्री' शब्द का प्रयोग आर्यों के समतावाद का द्योतक है। वैदिककाल की राष्ट्रीय भावना की सब से प्रमुख विशेषता है उसका कुटुम्ब-भाव। सम्पूर्ण देश के जन-समुदाय को आर्यों ने एक विशाल कुटुम्ब के रूप में देखा है। एक दूसरे को मित्र-दृष्टि से देखने की कामना सर्वत्र प्रकट की है।

'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।' [यजुः, ३६।१८] अर्थात्, हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें । साथ रहने, साथ चलने, साथ भोजन करने का भाव उन दिनों जितना प्रबल था आज कल वह उतना ही दुर्बल है। ऋग्वेद के संगठन-सूक्त में यह भावना कितनी परिपुष्टता के साथ अभिव्यक्त हुई है :—

> संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
> देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥
>
> —[ऋ० १०।१९१।२]

अर्थात् हम सब की गति एक ही प्रकार की हो, हम लोग एक साथ चलें, एक प्रकार की वाणी बोलें, हम सब के मन में एक ही प्रकार के भाव उत्पन्न हों... ... ।

जब हम सब एक दूसरे को मित्र और कुटुम्ब समझने लगेंगे तब फिर द्वेष, संघर्ष और साम्प्रदायिक दंगों की कहाँ जरूरत रहेगी ?

आर्य ऋषियों की दृष्टि में राष्ट्र मानवता के लिये साधन था, साध्य नहीं । निखिल मानवता का आनन्द, परमानन्द या सदानन्द ही उनका लक्ष्य था । यदि राष्ट्र-भावना विश्वकल्याण के मार्ग में बाधा उपस्थित करती हो तो वह सर्वथा त्याज्य है । राष्ट्र का उद्देश्य व्यक्ति या प्रजा के आनन्द की संवृद्धि है । अन्य राष्ट्र की प्रजा को प्रपीड़ित करके यदि अपने सुख-वैभव की वृद्धि की जाय तो वह भी नितान्त हेय और गर्हित है । वेद की राष्ट्र-भावना विश्व के कल्याण के साथ ही अपना कल्याण चाहती है । अन्य राष्ट्र पर अकारण आक्रमण, वहाँ की प्रजा का शोषण एवं उत्पीड़न ऋषियों का कभी ध्येय नहीं रहा । जर्मनी, इङ्गलैंड, इटली आदि राष्ट्र जिस राष्ट्रीय भावना से विपाक्त हैं उसकी तनिक भी बू वैदिक काल में नहीं मिलेगी ।

आर्यों ने राष्ट्र को एक सूत्र में आबद्ध करने के लिये राजनीति की अपेक्षा धर्म और संस्कृति को अधिक महत्त्व प्रदान किया । धर्म और संस्कृति ही इस विशाल भारतवर्ष का प्राणाधार है । राजनीति के सिद्धांत अल्पकालीन, क्षणस्थायी और द्वन्द्व-प्रधान होते हैं; धर्म और संस्कृति के सिद्धांत राजनीति की अपेक्षा अधिक चिरंतन, सार्वभौम एवं चिरस्थायी होते हैं । राजा, राज्य और कानून बदल जाते हैं लेकिन जन-समुदाय के हृदय से सत्याराधन, आतिथ्य-सत्कार, सतीत्व-पूजा, आस्तिक भावना, साहित्य-प्रेम आदि निष्कासित नहीं होते । तीर्थ, व्रत, देवपूजा आदि के प्रति जनता के भाव जल्द नहीं बदलते । सच पूछिये तो इस विशाल भारत-राष्ट्र को वेदों, पुराणों और शास्त्रों ने ही एक धागे में बांध रखा है ।

वाल्मीकि, व्यास, भवभूति, कालिदास आदि महाकवि भी इस राष्ट्र की एकता, एकतानता के प्रधान कारण हैं। अयोध्या, मथुरा, काशी, कांची, पुरी आदि तीर्थ-स्थान मुक्ति प्रदान करने वाले हैं। भारतवर्ष के चारों कोने पर चार धाम इस राष्ट्र को चारों ओर से धर्म-सूत्र में लपेटे हुए हैं। मुक्ति के लोभ से ही सही, प्रत्येक भारतवासी इन धामों के पर्यटन का प्रयास करता है। चारों धाम कर लेने पर भारत-माता की मूर्त्ति तीर्थयात्री के हृदय में प्रतिष्ठित हो जाती है। हरिद्वार का गङ्गा-जल देवघर और रामेश्वर के महादेव पर चढ़ाने का यही अर्थ था कि सम्पूर्ण भारतवर्ष एक तीर्थ है, देव-भूमि है। इस धर्म-भाव ने प्रांतीयता का ज़हर कभी पनपने नहीं दिया। राजा भले ही आपस में युद्ध किया करें लेकिन प्रजा का हृदय सदा धर्म-संस्कृति के रज्जु में बँधा रहता था। राष्ट्र के प्रतिनिधि कवियों ने भी इस राष्ट्र-भावना को अपनी कला में प्रमुख स्थान दिया। महाकवि कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल की नांदी में भगवान शंकर की अष्ट मूर्त्तियों का उल्लेख किया है। कुमार-संभव में फिर इन्हीं मूर्त्तियों का विस्तार के साथ वर्णन [कुमा० ६। २६] किया गया है। शंकर की आठ मूर्त्तियाँ ये हैं—सूर्य, चन्द्र, यजमान, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। महादेव की ये मूर्त्तियाँ प्रत्यक्ष दीखती हैं।

'प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।'

सूर्य तो प्रत्यक्ष हैं ही। चन्द्र-मूर्ति के दो रूप हैं—एक कठियावाड़ में सोमनाथ मन्दिर और दूसरा भारत के पूरब में बंगाल का चन्द्रनाथ क्षेत्र। नैपाल में पशुपतिनाथ (यजमान मूर्त्ति) मानुषी विग्रह में हैं। शेष पांच शिव-लिंग निम्न-लिखित स्थानों में हैं :—

(१) क्षिति-लिङ्ग— शिव काञ्ची में।
(२) जल-लिङ्ग— जम्बुकेश्वर में।
(३) तेजोलिङ्ग— अरुणाचल पर।
(४) वायु-लिङ्ग— दक्षिण तिरुपति में।
(५) आकाश-लिङ्ग— चिदम्बर के मन्दिर में [इस मंदिर में कोई भी मूर्ति नहीं है]

शिव के द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग भी प्रसिद्ध हैं। ये लिङ्ग सम्पूर्ण भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में विराजमान हैं :—

"सौराष्ट्रे सोमनाथं च श्रीशैले मल्लिकार्जुनम्।
उज्जयिन्यां महाकालमोङ्कारममलेश्वरम् ॥१॥

परल्यां वैद्यनाथं च डाकिन्यां भीमशङ्करम् ।
सेतुबन्धे तु रामेशं नागेशं दारुकावने ॥२॥
वाराणस्यां तु विश्वेशं त्र्यम्बकं गौतमीतटे ।
हिमालये तु केदारं घुश्मेशं च शिवालये ॥३॥
एतानि ज्योतिर्लिङ्गानि सायं प्रातः पठेन्नरः ।
सप्तजन्मकृतं पापं स्मरणेन विनश्यति ॥४॥"

इन ज्योतिर्लिङ्गों के सायंप्रातः पाठ करने से सात जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं। पाप नष्ट होने में किसी को शंका हो सकती है लेकिन इन श्लोकों द्वारा राष्ट्र के ऐक्य का प्रतिपादन होने में कोई संदेह नहीं कर सकता । आज भी प्रत्येक आर्य संकल्प करते समय 'जम्बूद्वीपे भरत - खण्डे.......' का स्मरण करता है। स्नान करते समय गंगा, यमुना, सरस्वती, सिन्धु, कावेरी, गोदावरी आदि भारतीय नदियों के नामों का सामूहिक रूप से स्मरण करता है। राष्ट्र-प्रेम का अर्थ है, उसकी नदियों, पर्वतों, तीर्थों आदि से प्रेम। आधुनिक काल में छिछली राजनीति को प्राधान्य मिलने के कारण बंगाल-बिहार की समस्या उठ खड़ी होती है।

आर्यों की इस पवित्र भूमि का अत्यधिक प्रचलित नाम भारतवर्ष है। पुराणों की प्राचीन वंशावलियों में ऋषभ और उनकी पत्नी जयन्ती के नाम आते हैं। इनके एक सौ पुत्र थे। सबसे बड़े पुत्र का नाम भरत था। त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप की कन्या से भरत का विवाह हुआ। इन्हें पांच पुत्र हुए—सुमति, राष्ट्र-भृत, सुदर्शन, आवरण और धूमकेतु । राजा भरत के नाम पर ही इनके राज्य का नाम-भारतवर्ष पड़ा। भरत की मृत्यु के उपरान्त उनके पांचों पुत्रों ने भारतवर्ष को पाँच भागों में बाँट लिया। उक्त कथन की सत्यता के लिये निम्नलिखित पुराण द्रष्टव्य हैं:—भागवत पु० [५।४], वायु पु० [१।३३], लिङ्ग पु० [१।४७।२४] और विष्णु पुराण [२।१।३२]। इस सिलसिले में यह भी जान लेना आवश्यक है कि भारतवर्ष का नाम इसके पहले अजनाभवर्ष था। वैदिक साहित्य में राजा पृथु के नाम का कई बार उल्लेख हुआ है। यह आदि राजा कहलाते हैं। इन्हीं के नाम पर इस धरती का नाम पृथ्वी पड़ा। राजा पृथु अपने को भरत भी कहा करते थे। संभवतः इनके नाम से भी इस देश का नामकरण भारतवर्ष हुआ हो। दुष्यंत-शकुन्तला के पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ—इस बात से सर्व-साधारण में परिचित है। ऋग्वेद के कई स्थलों पर भरत नाम के कुल या वंशों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के तीसरे और सातवें मण्डलों में तृत्सु और सुदास के साथ तथा छठे मण्डल में दिवोदास के साथ भारतों का वर्णन आया है:—

"य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम् ।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम् ॥"

— ऋग्वेद, मं०३ । सू० ५३ । मं० १२ ।

अर्थात्, आकाश पृथ्वी दोनों के मध्य अन्तरिक्ष में स्थित इन्द्र की मैंने स्तुति की है । विश्वामित्र का किया हुआ स्तोत्र भारत-जन की रक्षा करता है । 'भारत जनम्' का अर्थ यहाँ भरत के कुल के जन होता है । जिन दिवोदास ने सिन्धु नदी के पश्चिमी तट से पूर्व की ओर दिग्विजय की वे भरत कुल के ही राजा थे । ये दिवोदास दुष्यंत के पुत्र भरत से और दस पीढ़ी पहले के हैं । देश के अर्थ में भारत का प्रयोग पुराणों में अत्यन्त स्पष्टता के साथ किया गया है:—

"गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे ।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥"

भविष्य पुराण के प्रति सर्ग पर्व में आर्य-राष्ट्र के लिए 'सिन्धु-स्थान' शब्द का प्रयोग एक स्थल पर आया है:—

"सिन्धुस्थानमिति ज्ञेयं राष्ट्रमार्यस्य चोत्तमम् ।
म्लेच्छ स्थानं परे सिन्धोः कृतं तेन महात्मना ॥"

इसी 'सिन्धु-स्थान' से कुछ लोग 'हिन्दुस्थान' की उत्पत्ति मानते हैं । अब तक जो प्राचीन शिलालेख उपलब्ध हुए हैं उनमें 'भारतवर्ष' का सबसे प्रथम प्रयोग कलिङ्ग के राजा खारवेल [१५० ई० पू० लगभग] के शिला-लेख में हुआ है । खारवेल के शिला-लेख की दसवीं पंक्ति इस प्रकार है:—

"......उभय प्राचीतट राजनिवासं महाविजय प्रासादं
कारयति अठतिसाय-सत-सह-सेहि दसमे
च व द - डस.........नदस भरधवस पठान.........
कारापयति......पुन च मनोरधानि उपलभता......।"

अर्थात्, "प्राची नदी के दोनों किनारों पर अड़तालीस सौ हजार मुद्रा-व्यय करके 'महा विजय प्रासाद' बनवाता है । दशमवर्ष पुनः सैन्य का भारत-वर्ष की ओर प्रस्थान कराता है... फिर (उसके) मनोरथ पूर्ण होते हैं ।" जैन शास्त्रों में भारत के छः खड माने गये हैं, जिनमें अयोध्या-खंड की अधिक प्रधानता है । संभवतः यहाँ [शिला-लेख में] भारतवर्ष का प्रयोग अयोध्या के लिए किया गया हो । जो हो, इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि ईसा के जन्म के दो-

तीन सौ वर्ष पूर्व 'भारतवर्ष' का प्रयोग देश के अर्थ में होता था। भारतीय जनता के हृदय सम्राट् महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी 'कवितावली' के उत्तरकांड में अत्यन्त प्रेम और श्रद्धा से 'भारत' का नामोल्लेख किया है :—

"भलि भारत भूमि, भले कुल जन्मु,
समाजु सरीरु भलो लहिकै।"

अन्यत्र भी:— "यह भरत-खंड, समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।" जब हमारा देश पराधीन हो गया था तो इसका नाम 'हिन्दुस्तान' और 'इन्डिया' था। आज स्वतंत्रता के नव विहान में इसको हम उसी अपने पुराने प्यारे नाम से पुकारते हैं – भारत !

प्रागैतिहासिक काल से हर्षवर्द्धन के समय [सातवीं शताब्दी] तक भारत वर्ष की राष्ट्र-भावना, साम्राज्य-भावना किसी न किसी प्रकार अक्षुण्ण बनी रही। इस विशाल देश ने ग्रीक, शक, हूण, आभीर आदि विदेशी जातियों के आक्रमण का वीरता के साथ सामना किया और उन्हें अपने विराट् उदर में आत्मसात् भी कर लिया; लेकिन जब आठवीं या ग्यारहवीं शताब्दी से मुसलमानों के आक्रमण शुरू हुए तब इसकी एकता छिन्न-भिन्न-सी होने लगी। और संस्कृतियों की तरह यह देश मुस्लिम संस्कृति को हज़म नहीं कर सका, यह इसका सबसे बड़ा दुर्भाग्य रहा। हर्षवर्द्धन के साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होते ही यहाँ के समाज और साहित्य में भी अस्तव्यस्तता के चिह्न प्रकट होने लगे। राष्ट्र के प्रधान शासक राजा या राष्ट्रपति के चरित के अनुकूल वहाँ की जनता का भी चरित या आदर्श बनता - बिगड़ता रहता है। साधारण जन - समुदाय अपने अवचेतन मन में राजा के चरित से प्रभावित होता रहता है। इसीलिये प्राचीन शास्त्रकारों ने 'राजा' में सभी प्रकार के गुणों का सन्निवेश किया है। नाटक या महाकाव्य के नायक प्रायः राजा इसीलिये हुआ करते थे कि उनके चरित से प्रजा का चरित निर्मित होता रहता था। हर्षवर्द्धन के बाद यानी आठवीं सदी के प्रारम्भ में उत्तरापथ के जन-वर्ग की चेतना-धारा किसी विशिष्ट दिशा की ओर प्रवाहित नहीं हो रही थी। अधिकांश सामंत रण-रङ्ग की अपेक्षा रस-रङ्ग में अपना जीवन व्यतीत करने लगे। इन सामंत कुमारों की सौन्दर्य-भावना और कला-विलासिता इतनी बढ़ गई थी कि ये अन्तर्बाह्य कोमल कमनीय हो गये थे। जीवन के सामने कोई महान आदर्श नहीं रहने के कारण ये अपने अनमोल क्षण कला, कामिनी और कादंब की उपासना में लगाते थे। रोम से व्यापार-सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण विलासिता के सारे सामान विदेशों से यहाँ आते रहते थे। ओज और पुरुषत्व का ह्रास होने से वैभवशाली लोगों में कामुकता एवं व्यभिचार की वृद्धि

"य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम्।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्॥"

—ऋग्वेद, मं०३। सू० ५३। मं० १२।

अर्थात्, आकाश पृथ्वी दोनों के मध्य अन्तरिक्ष में स्थित इन्द्र की मैंने स्तुति की है। विश्वामित्र का किया हुआ स्तोत्र भारत-जन की रक्षा करता है। 'भारत जनम्' का अर्थ यहाँ भरत के कुल के जन होता है। जिन दिवोदास ने सिन्धु नदी के पश्चिमी तट से पूर्व की ओर दिग्विजय की वे भरत कुल के ही राजा थे। ये दिवोदास दुष्यंत के पुत्र भरत से और दस पीढ़ी पहले के हैं। देश के अर्थ में भारत का प्रयोग पुराणों में अत्यन्त स्पष्टता के साथ किया गया है:—

"गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥"

भविष्य पुराण के प्रति सर्ग पर्व में आर्य-राष्ट्र के लिए 'सिन्धु-स्थान' शब्द का प्रयोग एक स्थल पर आया है:—

"सिन्धुस्थानमिति ज्ञेयं राष्ट्रमार्यस्य चोत्तमम्।
म्लेच्छ स्थानं परे सिन्धोः कृतं तेन महात्मना॥"

इसी 'सिन्धु-स्थान' से कुछ लोग 'हिन्दुस्थान' की उत्पत्ति मानते हैं। अब तक जो प्राचीन शिलालेख उपलब्ध हुए हैं उनमें 'भारतवर्ष' का सबसे प्रथम प्रयोग कलिङ्ग के राजा खारवेल [१५० ई० पू० लगभग] के शिला-लेख में हुआ है। खारवेल के शिला-लेख की दसवीं पंक्ति इस प्रकार है:—

"......उभय प्राचीतट राजनिवासं महाविजय प्रासादं
कारयति अठतिसाय-सत-सह-सेहि दसमे
च व द - डस.........नदस भरधवस पठान.........
कारापयति......पुन च मनोरधानि उपलभता......।"

अर्थात्, "प्राची नदी के दोनों किनारों पर अड़तालीस सौ हजार मुद्रा-व्यय करके 'महा विजय प्रासाद' बनवाता है। दशमवर्ष पुनः सैन्य का भारतवर्ष की ओर प्रस्थान कराता है... फिर (उसके) मनोरथ पूर्ण होते हैं।" जैन शास्त्रों में भारत के छः खड माने गये हैं, जिनमें अयोध्या-खंड की अधिक प्रधानता है। संभवतः यहाँ [शिला-लेख में] भारतवर्ष का प्रयोग अयोध्या के लिए किया गया हो। जो हो, इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि ईसा के जन्म के दो-

तीन सौ वर्ष पूर्व 'भारतवर्ष' का प्रयोग देश के अर्थ में होता था। भारतीय जनता के हृदय सम्राट् महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी 'कवितावली' के उत्तरकांड में अत्यन्त प्रेम और श्रद्धा से 'भारत' का नामोल्लेख किया है :—

"भलि भारत भूमि, भले कुल जन्मु,
समाजु सरीरु भलो लहिकै।"

अन्यत्र भी:— "यह भरत-खंड, समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।" जब हमारा देश पराधीन हो गया था तो इसका नाम 'हिन्दुस्तान' और 'इन्डिया' था। आज स्वतंत्रता के नव विहान में इसको हम उसी अपने पुराने प्यारे नाम से पुकारते हैं – भारत !

प्रागैतिहासिक काल से हर्षवर्द्धन के समय [सातवीं शताब्दी] तक भारत वर्ष की राष्ट्र-भावना, साम्राज्य-भावना किसी न किसी प्रकार अक्षुण्ण बनी रही। इस विशाल देश ने ग्रीक, शक, हूण, आभीर आदि विदेशी जातियों के आक्रमण का वीरता के साथ सामना किया और उन्हें अपने विराट् उदर में आत्मसात् भी कर लिया; लेकिन जब आठवीं या ग्यारहवीं शताब्दी से मुसलमानों के आक्रमण शुरू हुए तब इसकी एकता छिन्न-भिन्न-सी होने लगी। और संस्कृतियों की तरह यह देश मुस्लिम संस्कृति को हज़म नहीं कर सका, यह इसका सबसे बड़ा दुर्भाग्य रहा। हर्षवर्द्धन के साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होते ही यहाँ के समाज और साहित्य में भी अस्तव्यस्तता के चिह्न प्रकट होने लगे। राष्ट्र के प्रधान शासक राजा या राष्ट्रपति के चरित के अनुकूल वहाँ की जनता का भी चरित या आदर्श बनता - बिगड़ता रहता है। साधारण जन - समुदाय अपने अवचेतन मन में राजा के चरित से प्रभावित होता रहता है। इसीलिये प्राचीन शास्त्रकारों ने 'राजा' में सभी प्रकार के गुणों का सन्निवेश किया है। नाटक या महाकाव्य के नायक प्रायः राजा इसीलिये हुआ करते थे कि उनके चरित से प्रजा का चरित निर्मित होता रहता था। हर्षवर्द्धन के बाद यानी आठवीं सदी के प्रारम्भ में उत्तरापथ के जन-वर्ग की चेतना-धारा किसी विशिष्ट दिशा की ओर प्रवाहित नहीं हो रही थी। अधिकांश सामंत रण-रङ्ग की अपेक्षा रस-रङ्ग में अपना जीवन व्यतीत करने लगे। इन सामंत कुमारों की सौन्दर्य-भावना और कला-विलासिता इतनी बढ़ गई थी कि ये अन्तर्बाह्य कोमल कमनीय हो गये थे। जीवन के सामने कोई महान आदर्श नहीं रहने के कारण ये अपने अनमोल क्षण कला, कामिनी और कादंब की उपासना में लगाते थे। रोम से व्यापार-सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण विलासिता के सारे सामान विदेशों से यहाँ आते रहते थे। ओज और पुरुषत्व का ह्रास होने से वैभवशाली लोगों में कामुकता एवं व्यभिचार की वृद्धि

होने लगती है। वैभव, विलास और व्यभिचार ये तीनों सदा से साथ मिले रहे हैं तत्कालीन सामंतों की अतिशय काम-लिप्सा समाज के लिये घातक सिद्ध हो रही थी। "कितनी जगह तो नव-विवाहिता की प्रथम रात भी सामंत के लिये रिज़र्व थी; चाहे वह हाथ से ही छूकर छुट्टी दे दे।" [राहुल: हिन्दी काव्य-धारा] ऐसा प्रतीत होता है कि यह परिस्थिति पृथ्वीराज-रासो तक कुछ अंशों में ज्यों की त्यों बनी हुई थी। चंदवरदाई ने अपने रासो में पृथ्वीराज की जितनी लड़ाइयों का का वर्णन किया है उनमें अधिकांश के मूल में कोई रमणी रही है। पृथ्वीराज अधिकांश युद्ध किसी सुन्दरी से विवाह करने के लिये करते हैं। राष्ट्र-संरक्षण का दायित्व, शत्रुओं से लोहा लेने का भार केवल क्षत्रियों पर रह गया था। वर्ण-व्यवस्था की घोर विकृति के फलस्वरूप प्रत्येक वर्ण के सैकड़ों भेदोपभेद बनते जा रहे थे। ब्राह्मणों में देश-विशेष के कारण 'कनौजिया', गौड़, मैथिल, सरयू-पारीण आदि भेदों की दीवारें खड़ी हो गई थीं। क्षत्रियों में भी कछवाहा, राठौर, सिसौदिया आदि के बीच ऊँच-नीच का ख्याल जम गया था। अस्पृश्यता का भाव इतनी तेज़ी से बढ़ रहा था कि कुछ ब्राह्मण अपनी 'धर्मपत्नी' तक के हाथ का भोजन खाने में या पानी में अधर्म समझते थे। इनकी देखादेखी शूद्रों में भी कुछ ऐसी जातियाँ निकल आईं जो 'बाभन' और 'रजपूत' के यहाँ की कच्ची रसोई खाने में अपना अपमान समझने लगीं। ऐसी परिस्थिति में शूद्र और क्षत्रिय एक पंक्ति में खड़े होकर देश-रक्षा के लिए !कैसे लड़ सकते थे ! कुछ क्षत्रिय लोग लड़ने में मुनाफा नहीं देखकर बनिया बन बैठे और उन्होंने जैन-धर्म खुशी-खुशी स्वीकार कर लिया। 'शुभ- लाभ' के उपासक व्यापारी लोग भोली जनता को चूसने में तनिक भी नहीं हिचकते --

"जानन हारा जानिया, बनिया तेरी बान।
बिनु छाने लोहू पिवै, पानी पीवै छान।"

'वीर गाथा-काल' के ढाई-तीन सौ वर्ष पहले के समय को राहुल सांकृत्यायन ने सिद्ध-सामंत-काल कहा है। इस समय का सिद्ध-साहित्य विरक्ति, नैराश्य और 'महासुखवाद' की रहस्यात्मक भावना से आप्लावित है। भारतवर्ष की राष्ट्रीय चेतना की झलक इनके 'दूहों' में न मिलेगी। लेकिन इसी समय कुछ ऐसे कवि हुए जिन्होंने सत्काव्य का सृजन किया। स्वयंभू कवि (७९० ई० में वर्तमान) ने अपभ्रंश भाषा में रामायण की रचना की है। पुष्पदंत ('पुप्फयंत कवि ने भी जो ९६० ई० के लगभग वर्त्तमान थे अपभ्रंश में सुन्दर रचनाएँ की हैं। स्वयंभू अवधी भाषा-क्षेत्र (.कोसल) के कवि थे और पुष्पदंत यौधेय-क्षेत्र (दिल्ली) के लेकिन उत्तर भारत के दरबार में संस्कृत कवियों (राजशेखर, श्री हर्ष) का

ही सम्मान होने के कारण ये अपभ्रंश के कवि दक्षिणापथ, राष्ट्रकूट चले आए। ये कवि स्वयं जैन थे इसलिए दक्षिण में आकर जैन राजा के यहाँ आश्रित हो गए। पुष्पदन्त कवि ने किसी राजा की एकाध स्थल पर शिकायत भी की है:—

"चमरानिल हो उड्डिउ गुणिइं ....
अभिसेके धोयउ सुअणत्तु ननाय... ।"

अर्थात्, हे राजा, चमर की हवा लगते ही तुम्हारे सद्‌गुण उड़ गए और जल से अभिषिक्त होते ही तुम्हारा सौजन्य धुल गया।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मुसलमानों के आक्रमण के करीब सौ वर्ष पूर्व उत्तरापथ के लोक और साहित्य की प्रवृत्ति किसी विशिष्ट दिशा की ओर निर्दिष्ट नहीं हो सकी थी। लेकिन "इस अनिर्दिष्ट लोक-प्रवृत्ति के उपरांत जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरम्भ होता है तबसे हम हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बँधती हुई पाते हैं।"

—[शुक्ल जी; हिन्दी सा. का इति., नवीन संस्करण, पृ० ३]

साहित्य में एक रूप में बँधती हुई प्रवृत्ति का दर्शन हमें वीर-गाथाकाल से ही उपलब्ध होता है। मुसलमानों के अनवरत आक्रमण ने भारत के उत्तरी-पश्चिमी भू-भागों को असुरक्षित एवं अव्यवस्थित बना दिया था। राजपूत राजाओं में परस्पर फूट होने के कारण यवनों पर सामूहिक रूप से आक्रमण नहीं किया जा सका। अलग-अलग, छिट-फुट लड़ाई जारी होने के कारण दुश्मनों की ताकत मन्द नहीं हो पाती थी। इस काल के चारण कवियों ने संघर्ष-काल में अपने देश का साथ नहीं छोड़ा अपनी सीमित शक्ति, और प्रतिभा के द्वारा इन्होंने अपने क्षेत्र के लोगों को युद्ध के लिए प्रोत्साहित किया। इस समय वीर काव्य के दो रूप प्रचलित थे; दरबारों में चारण-काव्य का शास्त्राश्रित रूप और गाँवों में भाटों द्वारा वीर गीतों का लोकाश्रित रूप। स्वभावतः पहले का रूप घटनात्मक होने के कारण प्रबन्धात्मक और दूसरे का भावोच्छ्वास-प्रधान होने के कारण मुक्तात्मक हो गया। इन दोनों प्रकार की रचनाओं में प्रेम और वीरत्व का अभिव्यंजन समान रूप से पाया जाता है। प्रेम और वीरत्व शृंगार रस और वीर रस के मूल में काम और संघर्ष की भावना काम करती है। काम की स्पष्ट अभिव्यक्ति व्यक्ति के कैशोर या यौवनकाल में होती है लेकिन संघर्ष का प्रत्यक्ष रूप तो शैशव-काल से ही दीख पड़ता है। किसी शिशु के हाथ से खिलौना छीनिये, वह छोड़ेगा नहीं। माँ की गोद में बैठने के लिए दो बच्चों में संघर्ष होता ही है। मनोनुकूल वस्तु पाने के लिए कोई भी शिशु प्रयास करता है, मार्ग की विघ्नबाधा से वह युद्ध करता है और कभी-कभी तो रो-धो करके भी इष्ट की प्राप्ति में सफल होता है। प्राचीन काल में भोजन, धन और नारी के लिए लोगों को शारीरिक संघर्ष करना पड़ता था। सभ्यता का

ज्यों-ज्यों विकास होता जाता है, त्यों-त्यों संघर्ष शारीरिक की अपेक्षा मानसिक होता जा रहा है। जिस प्रकार व्यक्ति के प्रारम्भिक के जीवन में संघर्ष और काम भाव का प्राधान्य रहता है उसी प्रकार सभ्यता और साहित्य के आदिकाल में भी वीर और शृंगार की प्रमुखता पाई जाती है। रामायण और महाभारत में वीरत्व का उत्कर्ष दिखाया गया है। साथ ही सीता और द्रौपदी दोनों महाकाव्यों के मूल में प्रेरणा-बिन्दु के रूप में अवस्थित हैं। ग्रीक-कवि होमर के महाकाव्य 'ईलियड' और 'औडेसी' में रमणी-प्रेम से प्रभावित युद्धों का व्यापक वर्णन किया गया है। अंग्रेज़ी भाषा की प्राचीनतम राष्ट्रीय कविता 'बयोउल्फ' (Beowulf) में बयोउल्फ की वीरता का पर्याप्त वर्णन है। वह ग्रेन्डल नामक एक भीमकाय राक्षस की वीरता के साथ हत्या कर वहाँ के राजा को कष्ट मुक्त करता है। जिस प्रकार रामायण के बालकांड में सुबाहु, मारीचि और राक्षसी ताड़िका के अत्याचारों का उल्लेख है उसी प्रकार ब्योउल्फ में भी ग्रेन्डल की माता, जो एक दुर्दमनीय राक्षसी थी, के जुल्मों का वर्णन है। बयोउल्फ इन सब की (राम की तरह) वीरता के साथ हत्या करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि विश्व-साहित्य के प्राचीन काव्यों में संघर्ष और प्रेम का पर्याप्त चित्रण हुआ है। हिन्दी साहित्य के वीर-गाथा काल में भी युद्ध और प्रेम के भरपूर वर्णन मिलेंगे।

वीर-गाथाकाल के वीर काव्य और आधुनिक राष्ट्रीय-काव्य में कुछ अंतर है। प्रथम तो दोनों के उद्देश्य में ही वैभिन्न है। वीर काव्य व्यष्टि के गुण-गौरव और समुत्थान का गान करता है; राष्ट्रीय काव्य में समष्टि की कल्याण भावना निहित रहती है। वीर काव्य व्यक्ति के यश, प्रताप, प्रसन्नता-अप्रसन्नता आदि का ख्याल करने के कारण सीमित और बंधनयुक्त है; राष्ट्रीय काव्य किसी आश्रयदाता राजा के भ्रूभंग की चिंता किए बिना उन्मुक्तता के साथ देश-गरिमा का गायन करता रहता है। वीर काव्य देश और काल के सीमित दायरे में चक्कर काटता है। वह किसी प्रांत या किसी नगर विशेष के वीरों की गाथा तत्कालीन घटनाओं को अतिरंजना के साथ प्रस्तुत करता है। वह अपने वर्तमान का उपासक और उद्गाता है। राष्ट्रीय काव्य सम्पूर्ण राष्ट्र को अपनी सम्पत्ति समझता है, अन्तर राष्ट्रीय दृष्टिकोण में वह विश्व की समस्याओं का भी उल्लेख कर सकता है; क्योंकि आधुनिक युग का कोई भी राष्ट्र अन्यान्य राष्ट्रों से प्रभावित होता ही है। राष्ट्रीय काव्य अपने वर्तमान का तो चित्रण करता ही है, वह अपने स्वर्णिम अतीत का यशोगान करता हुआ भविष्य की झाँकी भी दिखाता रहता है। अपने आश्रयदाता राजा को सद्यः प्रभावित करने के लिये वीरगाथा काल के कवि युद्धों का अतिशयोक्तिपूर्ण चित्र उपस्थित करते थे। कभी-कभी ऐतिहासिक घटनाओं की भी काफी तोड़-मरोड़ की जाती थी। इसलिए इस काल की ऐतिहासिकता सदा

संदिग्ध ही बनी रही। राष्ट्रीय काव्य का उद्देश्य व्यापक और स्थायी होने के कारण इसमें अतिरंजना का स्थान सदा गौण रहता है। वीर-गाथाकाल में मातृभूमि की भावना अत्यन्त संकुचित हो गई थी। अधिकांश राजपूत राजे अपने नगर या जिले को ही मातृभूमि समझे बैठे थे; नकली किले की रक्षा के लिये असली शान का जोरदार प्रदर्शन किया करते थे। वीर-गाथाकाल के वीरों का वैयक्तिक मान बहुत ऊपर उठ चुका था। उनकी मूछें बरछे की तरह तनी रहती थीं। आत्म-सम्मान के लिए सिर काटना और कटाना एक खेल हो गया था। हजारों राजपूत रमणियाँ सतीत्व रक्षा के लिये धधकती चिता में जल कर भस्मसात् नहीं, अग्निसात् हो गईं। लेकिन कभी-कभी झूठे मान के लिये भी लड़ाइयाँ मोल लेते फिरना, बात-बात में खून की धारा बहा देना उनकी लाइलाज बेवकूफी थी। वीर-काव्य में अपने वीर नायकों की त्रुटियों की ओर ध्यान कभी नहीं दिया जाता क्योंकि उनकी खुशी-नाराजगी कवियों पर प्रत्यक्ष फल दिखाती थी। राष्ट्रीय काव्य में देश की त्रुटियों का वर्णन निःसंकोच रूप से किया जा सकता है। भारतेन्दु ने 'भारत-दुर्दशा' में हमारी दुर्बलताओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। रस की दृष्टि से वीर-काव्य में करुण और वीर के अतिरिक्त शृङ्गार के दोनों पक्षों-संभोग और विप्रलंभ—का भी चित्रण नायक-नायिका के प्रेम-प्रसंग में किया जाता है। राष्ट्रीय काव्य में यह अवसर प्रायः प्राप्त नहीं होता क्योंकि इसके नायक प्रिय होते हुए भी सदा संपूज्य बने रहते हैं। राष्ट्र के वीर पुरुषों के प्रति जन-समुदाय में श्रद्धा और पूजा का भाव आना स्वाभाविक है। पूज्य गुरुजनों के शृंगार-वर्णन में रस-दोष उपस्थित होता है। वीर-काव्य की तरह राष्ट्रीय काव्य में वीर, करुण और हास्य रसों का वर्णन किया जाता है। पहले का करुण रस अधिकतर शत्रु-पक्ष की दयनीय दशा से प्रेरणा ग्रहण करता है लेकिन दूसरे का करुण रस देशव्यापी दरिद्रता, नग्नता, निरक्षरता, आदि का चित्रण कर सकता है। पशु पक्षी की दुरावस्था भी इसका प्रतिपाद्य विषय हो सकती है।

भूषण का काव्य-वीर गाथा का विकसित रूप है। 'हिन्दू-राष्ट्र' के प्रथम प्रसिद्ध कवि होने के नाते भूषण, चंद-बरदाई और भारतेन्दु के बीच की कड़ी बन गए हैं। प्रांतीयता की संकीर्णता से ऊपर उठकर भूषण ने संपूर्ण हिन्दू जाति को एकता के सूत्र में आबद्ध होने के लिए उत्प्रेरित किया। भूषण की मातृ-भूमि-भावना प्रांतों के घेरे को तोड़कर नगराज की चोटी को चूमने चली; समुद्र की नीलिमा को आलिंगन करने चली। भूषण के अमर नायक वीर शिवाजी समस्त हिन्दू समुदाय के नेता के रूप में प्रतिष्ठित हुए। भूषण बावन गाँवों के लोभ से शिवाजी के पास दौड़े न आए थे, बल्कि उनके त्यागपूर्ण व्यक्तित्व ने ही उन्हें खींच लिया था। भूषण ने सच्चे लोक-नायक का आदर्श शिवाजी में ही पाया। इसलिए

उन्होंने शिवाजी को विष्णु का अवतार तक कहा है। हिन्दुओं की चोटी और सिपाहियों की रोटी रखने वाले शिवाजी आज भी संपूर्ण भारत में पूजित हो रहे हैं। केवल वीरता ही नहीं शिवाजी की गम्भीरता, धर्मपरायणता और [illegible] चणता हमारे लिए सदा अनुकरणीय होगी। अपने मनोनुकूल नायक को पाकर भूषण की कविता-कामिनी कृत-कृत्य हो गई। शिवाजी की विजय में हिन्दू जाति ने अपने गौरव का उत्थान देखा। शिवाजी की विजय से भूषण का वीर हृदय हर्षोत्फुल्ल हो नाच उठा। शिवाजी के यश की धवलता से धवलित होकर गिरिजा गिरीश को खोजने लगीं—भूषण की इस उक्ति में अलंकार की छटा ही नहीं, शिवाजी की अनुपम वीरता का यथार्थ चित्रण भी है। इन्द्रधनुष में धनुष और नदी-तीर में तीर के दर्शन करने वाले आधुनिक 'योद्धा' स्वप्न में वीर के भी दर्शन नहीं कर सकते। जिस प्रकार गोस्वामी जी के मानस में निमिनत् अवगाहन करने के लिए श्रद्धा-संबल संतों का साथ और रघुनाथ-प्रियता आवश्यक है उसी प्रकार भूषण के वीररस के आस्वादन के लिए उत्साह-स्फीत-हृदय, निश्छल निर्भीकता और भास्वर राष्ट्र-प्रेम आवश्यक है। शृंगार को अंचल को छूने के लिए लालायित चारण कालीन काव्य के कुछ आलोचकों ने 'वीर रसाभास' कहा है। भूषण का काव्य इस आक्षेप से सर्वथा मुक्त है।

मुसलमानों के खिलाफ घृणा और द्वेष एवं हिन्दुओं के प्रति सम्मान और सद्भाव प्रदर्शित करने के कारण किसी-किसी ने भूषण को साम्प्रदायिक कवि कहा है। अपने धर्म या सम्प्रदाय के गुणों की स्तुति करना, विपत्ति पड़ने पर उसके लिए प्राणोत्सर्ग करना कोई गुनाह नहीं। केवल अन्य धर्मावलम्बी होने के कारण किसीसे द्वेष रखना उसका अनिष्ट चिंतन करना, उसके सद्गुणों से पराङ्-मुख हो जाना साम्प्रदायिकता है। अन्यायी और आततायी का विरोध करना साम्प्रदायिकता नहीं वरन् मानव-धर्म है। साम्प्रदायिक व्यक्ति अपने में ज्ञान और तर्क-पक्ष की दुर्बलता के कारण औरों के विचार वैभिन्य से हमेशा चिढ़ते रहने से चिड़चिड़ा हो जाता है। आत्मविश्वास की कमी के कारण अपने मन के खूँटे को वह जोरों से पकड़े रहता है; और इस प्रकार वह कट्टर हो जाता है। किसी वस्तु पर दूसरे के दृष्टिकोण से विचार नहीं करने के कारण धीरे-धीरे उसमें सम्वेदना का अभाव होता जाता है और तब वह निष्करुण और कठोर हो जाता है। एकांगी विचार रखने के कारण धर्म की चौड़ी घाटी में वह खो जाता है और सम्प्रदाय की सँकरी गली में खुल जाता है। ऐसा व्यक्ति उदार नहीं उतावला होता है। वह औरों पर ध्यान देता हुआ नहीं बल्कि धकेलता हुआ आगे बढ़ जाता है। अपने मत के विकृत रूप को प्यार करने के कारण वह दूसरों के कष्टों में सुख पाने

का आदी हो जाता है। यह परपीड़न-सुख (Sadism) धर्म के विकृत प्रेम का परिणायक है। अपने से भिन्न सम्प्रदाय वालों की कष्ट-गाथा सुनकर साम्प्रदायिक व्यक्ति पाशविक आनंद से थिरकने लगता है। भूषण का व्यक्तित्व उपर्युक्त दुर्गुणों से सर्वथा मुक्त है। एक मुसलमान कन्या को उसके घर तक सम्मान के साथ सही सलामत पहुँचाने की आज्ञा देकर शिवाजी ने अपनी उदारता का ऐतिहासिक परिचय दिया है। शिवाजी के गुरु समर्थ स्वामी रामदास पहुँचे हुए संत थे। ज्ञान, चरित और कर्त्तव्य के वातावरण में गन्दी साम्प्रदायिकता की कहीं गुन्जाइश नहीं। जिस प्रकार महाराणा प्रताप ने अकबर का विरोध किया, शिवाजी ने औरंगजेब से लोहा लिया उसी प्रकार भूषण ने औरंगजेब और उसके समर्थकों का 'वाणी' द्वारा विरोध किया। भूषण ने औरंगजेब की निन्दा मुसलमान होने के नाते नहीं बल्कि जुल्मी और आततायी होने के कारण की है। यदि ऐसा नहीं होता तो वे फिर अकबर के नेक चालचलन की प्रशंसा क्यों करते? 'इन्द्र जिमि जंभ पर' वाले प्रसिद्ध कवित्त में भूषण ने औरंगजेब की जंभासुर, रावण, सहस्रबाहु और अंधकार से उपमा दी है और शिवाजी को इन्द्र, रामचन्द्र, परशुराम और सूर्य कह कर संबोधित किया है। शिवाजी और औरंगजेब की लड़ाई देवता और दानव, एवं प्रकाश और अंधकार के बीच लड़ाई थी। इस कवित्त में 'मलेच्छ-वंस' पापियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। गाँवों में 'मलेछ' शब्द अब भी नीच, गन्दे और पापी मनुष्य के लिए व्यवहृत होता है। मुसलमान सरदार की स्त्रियों की दीन दशा पर भूषण एकाधिक बार मुस्कराते हुए देखे गए हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि शिवाजी के व्यक्तित्व में शृंगार-रस का सुयोग न देखकर उन्होंने शत्रु की सुन्दरियों की ओर निगाह की। संस्कृत के कवियों ने रिपु-रमणियों का वर्णन कई प्रकार से किया है। बन्दरों के भय से भागती हुई मंदोदरी के अनावृत कुच-मंडल पर 'बाबा' केशवदास ने खासा काव्य रच डाला है। गोस्वामी जी ने पूर्ण मर्यादा का पालन करते हुए बन्दरों के उत्पात से त्रस्त रावण के रनिवास का स्वाभाविक वर्णन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि भूषण ने प्राचीन परम्परा के पालन के लिए ही शत्रु-सुन्दरी का चटकीला चित्र उपस्थित किया है। ऐसे स्थलों पर उनका चित्त रमता हुआ नहीं पाया जाता, हाँ, चमत्कार-प्रदर्शन के लिए अलंकारों का प्रयोग अवश्य हुआ है। तीन बेर 'खातीं ते वै तीन बेर खाती हैं' जैसे पदों में यमक, श्लेश आदि शब्दालंकार और संदेह, भ्रम, अपह्नुति आदि अर्थालंकार का वैचित्र्य व्यंजित हुआ है। युद्धकाल में सदाचार की कैंची भोथी पड़ जाने से व्यक्ति के उपचेतन का अवदमित कामभाव तरंगित होने लगता है। लूट, दंगे और डकैती में विकृत काम भावना किसी न किसी रूप में सहायक हो जाती है। संभवतः काव्य-क्षेत्र में कवि बहुत कुछ

इसी भावना से अज्ञातरूपेण परिचालित होता है।

हिन्दुओं पर जजिया टैक्स लगा कर, उनके मन्दिरों को ढहवा कर, औरंगजेब ने अपनी दुरंगी नीति का परिचय दे दिया था। मुसलमानों की साम्प्रदायिकता को खत्म करने के लिए भूषण ने सभी हिन्दुओं को शिवाजी के नेतृत्व में सम्मिलित होने के लिए आदेश किया। उन्होंने मुसलमानों के नायक औरंगजेब के दुर्गुणों की कटु आलोचना की। वीर हृदय होने के कारण भूषण की भाषा काफी स्पष्ट थी। स्पष्टता के कारण भूषण को 'अप्रिय* सत्य' भी कहना पड़ा। सत्य और न्याय के नाम पर अपने देश के लिए संघर्ष करने वाले इस राष्ट्रीय कवि को साम्प्रदायिक कहना पेड़ काट कर पल्लव सींचने के समान है। सच तो यह है कि 'अपने पौरुष से हताश' हिन्दू जाति की ढीली नसों में भूषण के छंदों ने बिजली का संचार कर दिया।

औरंगजेब के लड़खड़ाते पैर मुग़ल-साम्राज्य के भार को नहीं सँभाल सके। विलास जर्जर शाहजादे और नवाबों ने अंग्रेजों के लिए पथ प्रशस्त कर दिया। प्रेम की दीप्ति से हीन मनचली विलासिता नपुंसकता की जननी है। एक-एक कर सभी नवाब सल्तनत से फुर्सत पाकर रंगमहल में 'रामलीला' का अभिनय देखने और करने लगे। हमारी पारस्परिक फूट देश की दुर्दशा के लिए कम उत्तरदायी नहीं है। घर फूटने से गँवार भी लूटता है; और ये फिरंगी तो मँजे हुए धूर्त्त और पक्के खिलाड़ी थे। ये सात-घाट का पानी पी चुके थे। भेद-नीति द्वारा वानरी-विभाजन-कला से इन महानुभावों ने धीरे-धीरे सम्पूर्ण देश को अपने आधीन कर लिया। काम,क्रोध, लोभ और मोह में दूसरे से पूरा पड़ता न देख शेष तीनों से यहाँ के राजे-रईसों ने गाढ़ी मैत्री स्थापित कर ली थी। ऐसी परिस्थिति में भी देश के लोक-हृदय की कुचली हुई स्वातन्त्र्य-शिखा अंदर-अदर धुँआ रही है थी। सन् सत्तावन में शिखा प्रज्ज्वलित हुई, लेकिन सामूहिक और संघटित विद्रोह के अभाव में हमारा यह स्वातंत्र्य-संग्राम असफल हो गया। इस असफलता ने हिन्दुओं और मुसलमानों को अपनी-अपनी कमजोरियाँ समझने के लिए आमने-सामने ला खड़ा किया। ब्रिटिश के दमन-चक्र में दोनों समान रूप से पिसने लगे। चगेज खाँ और नादिरशाह के प्रतिकूल अंग्रेजों ने इस देश की स्वतन्त्रता पर व्यापार की तलवार से वार किया जो पहले से अधिक कारगर और मर्मान्तिक साबित हुआ। 'भारत के नभ का सांस्कृतिक सूर्य शीतलप्राय' हो रहा था। इस म्लान गोधूलि वेला में आशा-सुधा का

---

* अपने देश के एक प्रसिद्ध समाजवादी नेता ने लीग के कायदे-आजम को कई बार गद्दार और मीरजाफर कहा गया है। यह स्पष्टोक्ति (जो सच होकर रही) साम्प्रदायिकता नहीं।

सिंचन करता हुआ भारत का इन्दु मंद-मंद मुसकराता हुआ उदित हुआ। भारतेन्दु की नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा ने देश की समस्त प्रसुप्त भावनाओं को प्रकंपित कर दिया। ऐसा लगा कि जैसे सोए हुए समुद्र में ज्वार आ गया हो। समाज-सुधार, देश-भक्ति, भगवत् प्रेम, स्त्री-शिक्षा, राष्ट्र-भाषा की समस्या आदि अनेक बातें एक साथ उठ खड़ी हुईं। भारत ने अपनी आकुलता को भारतेन्दु की वाणी में व्यक्त किया। नाटक, कविता, निबन्ध, आलोचना, पत्रकारिता, भाषण आदि अनेक सरणियों में भारतेन्दु की भावधारा प्रवाहित होने लगी। भावों के मीलित प्रवाह में उनके देश-प्रेम का कल-कल स्वर सर्वत्र सुनाई पड़ता है।

भारतेन्दु-काल की संक्रांतिकालीन राष्ट्रीय कविता में अंग्रेजों की प्रशंसा और भर्त्सना के समवेत स्वर सुनकर पाठक संभ्रमित हो जाता है। 'अँगरेजन को राज ईस इत थिर करि थापै' और 'पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी' में कहीं मेल नहीं खाता। महारानी विक्टोरिया और राजकुमार एडवर्ड के स्वागत में कई पंक्तियाँ लिखी गई हैं, फिर अंग्रेजों को भीतर-भीतर *सब रस चूसने वाला कहा गया है। इसका एक कारण अंग्रेजों की व्यवस्थित राज्य-प्रणाली के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन और दूसरा उस युग का भीत दमित जन जीवन था।

खुफिया विभाग का खौफ 'भारत-भारती' के रचयिता और अकबर इलाहाबादी तक को बना रहा। गांधी युग में जेल और गोली के प्रति निर्भीकता आ जाने से कविता भी निर्भीक हो चली। पत्र-पत्रिका के प्राण बचाने के लिये यदा-कदा अंग्रेजों की तारीफ 'पालिसी' के नाते भी करनी पड़ती होगी। इस पर भी 'कविवचनसुधा' और 'हरिश्चन्द्र-पत्रिका' सरकार के कोप से न बच सकी। 'अपने पौरुष से, हताश' जाति को जगाने के लिये भारतेन्दु ने भारत के अतीत गौरव का सहारा लिया। अतीत गरिमा के उल्लेख में निराशा और करुणा के साथ आशा और उत्साह का पूर्ण समावेश है। विलासी मुसलमान शासक भारतेन्दु के गायन का विषय न बन सके। 'भारत-दुर्दशा' की आधी जिम्मेवारी मुसलमानों पर भी थी इसीलिये भारत दुर्दैव की पोशाक आधी मुसलमानी और आधी अंग्रेजी है। सोई हुई राष्ट्रीयता को जगाने के लिये भारतेन्दु ने संस्कृति के बहते हुये सोते का शीतल जल छिड़का। देश-भक्ति ईशभक्ति ये साथ हिलमिल गईं। समाज-सुधार, हिन्दी-भाषा-प्रचार धर्म का पुष्ट अंग बनकर हमारे सामने प्रकट हुये। जीवन, साहित्य, समाज, संस्कृति और भक्ति सभी एक रंग में संपृक्त हो गये।

* भीतर-भीतर सब रस चूसै। हँसि हँसि के तन मन धन मूसै॥
जाहिर बातन में अति तेज। क्यों सखि साजन, नहिं अँगरेज॥

सरलता, सजीवता और प्रभावोत्पादकता राष्ट्रीय कविता के ये विशिष्ट गुण भारतेन्दु-काल में भरपूर मिलेंगे। देश की अनपढ़ जनता के सामने उसकी दुर्दशा का वर्णन सीधे-सादे ढङ्ग से कर दिया गया है। व्यञ्जना की गूढ़ता, लक्षणा की चमत्कृति और कल्पना की रङ्गीनी से भारतेन्दु-युग की कविता सर्वथा दूर है। आडम्बर-हीन भाषा में अपनी व्यथाएँ व्यक्त की गई हैं। भारत-भारती काल तक भी भाषा की यही अवस्था रही। कल्पना, भावना और आवेश की कलात्मक अभिव्यक्ति माखनलाल, सुभद्राकुमारी, नवीन और दिनकर की रचनाओं से शुरू होती है। भारतेन्दु काल में इतिवृत्त, प्रचार, सन्देश और सुधार की बहुलता रही। इस काल की राष्ट्रीय रचनाओं में भी परिहास और व्यंग की निरावृत छटा दर्शनीय है जो अन्यत्र दुर्लभ है। यह परिहास अपनी विवशता को हँसकर छिपाने के प्रयास से उद्भूत हुआ है। गोवंश के कटते रहने से ब्रिटिश-राज में दूध के दर्शन नहीं होते, इसलिये—'केवल सुमुखि अलक उपमा लहि नाग-देवता तृप्यंताम्।' जेल, गोला, फाँसी, अकाल, महँगी आदि के कारण अंग्रेजी राज्य में लाखों आदमी रोज मर रहे हैं, इसलिए केवल 'मृत्यु देवता नमस्कार, तुम, सब प्रकार बस तृप्यंताम्।' कांग्रेस की स्थापना के वर्षों पहले भारतेन्दु ने स्वदेशी-आन्दोलन, टिक्कस की आफत, महँगी, विदेशी व्यापार द्वारा शोषण, कल कारखाने की स्थापना, नर-नारी की समानता, राष्ट्र-भाषा हिन्दी की उपयोगिता आदि पर अपने विचार स्पष्टता के साथ व्यक्त किये थे।

भारतेन्दु-काल में राष्ट्रीय भावना के वे सभी बीज अंकुरित हो चुके थे जो भारत-भारती काल में पल्लवित और दिनकर-काल में पुष्पित एवं फलित हुए। 'हुंकार' 'सामधेनी' और 'कुरुक्षेत्र' की क्रांतिकारी भावना 'भारत-भारती' से कई कदम आगे बढ़ कर अन्तर राष्ट्रीयता के क्षेत्र में प्रवेश कर रही है। इन दिनों हमारी राष्ट्रीय भावना का प्रतिनिधित्व दिनकर द्वारा हो रहा है; इसलिए इस काल को हमने दिनकर-काल के नाम से अभिहित किया है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर राष्ट्रीय काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—
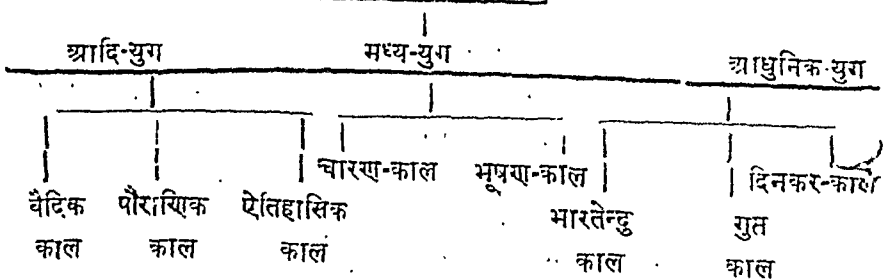
१–राष्ट्रीय भावना

अतीत कल्पना—वर्तमानकाल में हम जिस पदार्थ का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अनुभव करते हैं उसके मूल उपादानों में अतीत की अन्तर्व्याप्ति रहती है। इस सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ अपना अतीत इतिहास लिपटाए हुए चलता चला आ रहा है। मानव-जीवन का प्रत्येक क्षण अतीत के अनंत महासागर में बुदबुदे के समान विलीन होता जा रहा है। सन् '४२ की क्रांति आज अतीत हो गई। कल की पन्द्रह तारीख आज अतीत हो गई। अभी-अभी जिस क्षण में यह वाक्य लिख रहा हूँ वह भी अतीत के भंडार में तुरत पुंजीभूत हो गया। जीवन का प्रत्येक क्षण अतीत का आलिंगन करने के लिए बेचैन हो रहा है। वर्तमान तो भूत हो ही रहा है, भविष्य की कल्पना भी हमारे अतीत जीवन के आधार पर ही की जा सकती है। भविष्य के शरीर में अतीत की आत्मा तरंगित होती रहती है।

किसी व्यक्ति के वार्धक्य में उसके शैशव की चाँदनी, किशोर का इन्द्र-धनुष और यौवन की धूप-छाँह की झाँकी झिलमिलाती रहती है। वार्धक्य की तरल हँसी में उसके विगत यौवन की चिक्कणता वर्तमान रहती है। व्यक्ति के जीवन-इतिहास की जानकारी के लिए जो सिद्धांत आवश्यक है वही राष्ट्र के जीवन के लिए भी। राष्ट्र-जीवन के विकास में उसके स्वर्णिम अतीत का अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण स्थान है।

राष्ट्र की अतीत गरिमा कला के कोमल हृदय में स्पंदित होती रहती है। कला के अधरों में अमृत का निवास है। कला जिस वस्तु को चूमती है, वह अमर हो जाती है। मानव और देवता की बात ही क्या, स्वयं भगवान भी कला का स्पर्श पाकर अमर हो गये। 'मानस' और 'सागर' ने राम और कृष्ण को अजर-अमर बना दिया। मूर्त्तिकला ने भगवान बुद्ध की शांत गंभीर मुखमुद्रा को सदा के लिये बंदी बना लिया। अश्वघोष की कला से अमिताभ का चरित गगन-गुंजित हो रहा है। राष्ट्र का अतीत इसी प्रकार कला का पाणिग्रहण कर गौरवान्वित हो जाता है।

अपने अतीत के प्रति गौरवान्वित होना अपने पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना है। अतीत से हमारा इतना मोह हो जाता है कि उसका गुण-गान किये बिना हम रह नहीं सकते।

हमारा अतीत सुनहला या मटमैला हो, उसके प्रति अनुराग उत्पन्न होना स्वाभाविक है। राजभवन में रहने वाले अपनी झोंपड़ी की याद में आर्द्र हो जाते

हैं। बिजली की चकाचौंध में दीपक का स्निग्ध आलोक और मनोहर दीखता है। हमारा अतीत चाहे धूल-धूसरित हो चाहे शिखरासीन, हम उसकी याद करेंगे ही। श्रद्धा, विश्वास और प्रेम के अभाव में अतीत की आलोक-माला नितांत धुँधली दीख पड़ती है। अतीत की याद में झूम उठने वाले व्यक्ति का हृदय भक्त के हृदय से मिलता-जुलता है। उसके हृदय में सौन्दर्यानुभूति और श्रद्धा का सुखद समन्वय रहता है। नत-मस्तक होकर राष्ट्र की वंदना करना हमारी श्रद्धा और प्रेम का परिचायक है। भारतेन्दु, मैथिलीशरण, भारतीय आत्मा और दिनकर की कविताओं में अपने पूर्वजों के प्रति, भारतीय वीरों के प्रति श्रद्धा, विश्वास और अनुराग पूरी मात्रा में प्रकट हुआ है। किसी-किसी कविता में देश-प्रेम और भगवत-प्रेम दोनों घुल-मिल गए हैं। सच पूछिये तो देश-प्रेम भगवान के विराट्-रूप के दर्शन का दूसरा नाम है। भारतेन्दु के 'कहँ करुनानिधि केसव सोये ?' गीत में भक्ति और राष्ट्रीयता दोनों घुल-मिल कर एक स्वर्गीय करुणा का संचार कर देती हैं। जिस कवि को अपने राष्ट्र की अतीत-गरिमा के प्रति गर्व नहीं, वह प्रगतिशील नहीं अधोगतिशील है। अतीत सप्राण है, उसे मुर्दा समझना अपनी नासमझी का ढिंढोरा पीटना है। शाहजहाँ का ताजमहल—

'कालेर कपोल तले शुभ्र समुज्ज्वल, एक विन्दु नयनेर जल'

भारत के ऐश्वर्यपूर्ण अतीत की याद दिलाता है। प्रगतिशील कहाने का लोभ न संवरण करने वाले पंत जी ने इस ताज को शाहजहाँ का शव-पूजन कहा है। 'शव' का यह रूप-रङ्ग-आदर देखकर कवि मानव की बेवकूफी पर तरस खा रहा है। वर्तमान मानव-जाति का दुख देख कर प्राचीन कला-कृति के प्रति घृणा प्रकट करना उन्नत राष्ट्रीयता का सूचक नहीं है। रवीन्द्र ने इसी कलाकृति को देखकर शाहजहाँ को 'कवि-सम्राट' पद से विभूषित किया है और ताज को 'नयनेनदूत' कहा है। शाहजहाँ के स्वर में असंख्य कंठ आज भी रवीन्द्र की कविता-कामिनी से कह रहे हैं—'भूलि नाईं, भूलि नाईं, भूलि नाईं, प्रिया !'

अतीत के प्रति हमारा इतना मोह और आकर्षण क्यों है ? मानव का वर्तमान जीवन आर्थिक, नैतिक एवं सामाजिक संघर्षों में पिसता रहता है। अनवरत रूप से कर्तव्य करते रहने पर भी हमारी अधिकांश अभिलाषाएँ अधूरी रह जाती हैं। इन अधूरी अभिलाषाओं की पूर्ति हम कल्पना-लोक में करना चाहते हैं। जीवन-संघर्ष में व्यस्त होकर जो हमारी शक्ति बच जाती है उसी से कल्पना-लोक का निर्माण किया जाता है। भूतकालीन घटनाओं की मीठी-मीठी याद में हम वर्तमान कालीन कठिनाइयों को कुछ देर के लिये अवश्य भुला देते हैं। बीती बातों

की स्मृतियों में एक विशेष प्रकार की आनन्दानुभूति रहती है क्योंकि उनमें वर्तमान का दंशन नहीं रहता। समय की परिधि वेदना की तीव्रता को अत्यन्त मन्द बना देती है। बीती बातों से किसी प्रकार की हानि की संभावना न देखकर हम उनमें तल्लीनता के साथ डुबकियां लगाते हैं, और उनके चिंतन में रस मिलता है। कल्पना-लोक में अलका की स्निग्ध चांदनी रहती है, वर्तमान की तीखी धूप नहीं। यथार्थ जीवन के संघर्ष को पल भर भूल कर हम कल्पना की पलकों में विश्राम करना चाहते हैं। गहरी नींद के बाद नये जोश से फिर काम करने की इच्छा होती है। अतीत चिंतना के पश्चात् वर्तमान की समस्याओं को सुलझाने में आसानी होती है। लेकिन जिस प्रकार अतिरिक्त निद्रा आलस्य और दीर्घसूत्रता की द्योतक है, उसी प्रकार अतीत कल्पना में सुध-बुध का खो जाना भी पागलपन का लक्षण है।

जिस प्रकार व्यक्ति के लिए उसकी अतीत स्मृतियाँ सुखद होती हैं उसी प्रकार समाज या राष्ट्र के लिए उसका अतीत स्फूर्तिदायक होता है। व्यक्ति को अपने जीवन की प्रत्यक्ष और राष्ट्र-जीवन की परोक्ष अनुभूति होती है। प्रत्यक्ष अनुभूति प्रकृति के रङ्गमंच पर उसके बाह्य और आंतरिक आघातों द्वारा प्राप्त होती है। परोक्ष अनुभूति के लिए ललित कलाएँ विशेष रूप से माध्यम बनकर काम करती हैं। इतिहास, भूगोल, दर्शन आदि शास्त्रों के अध्ययन से राष्ट्र के अतीत गौरव का ज्ञान हो सकता है, अनुभूति नहीं। लेकिन जब यह ज्ञान अपनत्व और श्रद्धा के भावों से सराबोर होने लगता है तब आनंदानुभूति होती है। भारतवर्ष में ऐसे काफी जीव मिलेंगे जो इस राष्ट्र का ज्ञान तो रखते हैं लेकिन परोक्ष-अनुभूति नहीं।

परतन्त्र राष्ट्र के लिए उनके स्वर्णिम अतीत की सजीव कल्पना अत्यन्त आवश्यक है। परतन्त्र राष्ट्र के नागरिकों को यदि यही शिक्षा दी जाय कि गत हजार वर्षों से वे गुलाम रहे हैं, उनके पूर्वजों में से किसी ने दासता की शृंखला तोड़ने की गलती नहीं की, तो वे चिरकाल तक दासता की सघन छाया में पलकर पीले पड़ जायेंगे, मुरझा जायेंगे, मर जायेंगे। उज्ज्वल अतीत सुनहरी धूप है जिससे आजादी का पौधा हरा-भरा रहता है। पूर्वजों के ज्वलंत उदाहरण हमारी रग-रग में गर्मी पहुँचाते हैं। धूप की कल्पना मात्र हममें उत्साह और ओज का संचार करती है। अपने पूर्वजों को श्रेष्ठ मानना, दिवङ्गत आत्माओं को अपने से अधिक शक्तिशाली मानना अत्यन्त स्वाभाविक है। बाप-दादों के रास्ते पर चलना हमारे लिए आसान पड़ता है। क्योंकि उनके कृत्यों को हम श्रद्धा और विश्वास की दृष्टि से देखते हैं। प्रताप, शिवा जी, लक्ष्मीबाई, कुँवरसिंह आदि के

त्याग हमारे संग्राम में सदा तीव्रता प्रदान करते रहे हैं। अपनी पतनशीलता का विरोधात्मक ज्ञान होते ही हमारी भुजाएँ फड़क उठती हैं। हिमशिखर पर निर्भीक विचरने वाली भारतीय सभ्यता आज धूल में लोट रही है 'जीवेम् शरदे शतम्' के गायक आज अपनी जवानी से भी आखें चार नहीं कर पाते। क्षीर-सागर-शायी भगवान के भक्त आज दूध के लिए हाहाकार कर रहे हैं। अपने प्रदीप्त अतीत का जितना ही स्पष्ट ज्ञान होगा मनुष्य को अपने तमसाच्छन्न वर्तमान में उतना ही अधिक आलोक प्राप्त होगा। वह अपने से ही पूछ बैठता है 'हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी।'

अतीत गौरव से प्रेरित कवि की भावनाएँ तीन वर्गों में विभाजित हो सकती हैं :

क—ओजपूर्ण भावनाएँ—वीररस।

ख—क्षोभपूर्ण भावनाएँ—करुणरस।

ग—वैराग्यपूर्ण भावनाएँ—पलायन, शांतरस।

अपनी वर्तमान अधोगति को बिलकुल भुलाकर जब हम अतीत-गौरव की कल्पना में झूम उठते हैं तब उस समय हमारे हृदय में स्फूर्ति, ओज और उल्लास का संचार होता है। अतीत की शुद्ध गौरव-गाथा हमारे हृदय में उत्साह का भाव स्थायी रखती है। यही स्थायी भाव-उल्लास वीररस की निष्पत्ति में कारण होता है। झाँसी की रानी, कुँवरसिंह आदि पर लिखी गई कविताएँ इसी रस से परिप्लावित हैं। किसी भी युवक के हृदय में 'हल्दी-घाटी', प्रताप की वीरता, उत्साह और बलिदान के भावों का सत्वर संचार कर सकती है। उद्दीप्त अतीत की एक झलक के बाद उसका हृदय आँसुओं से आर्द्र हो जाता है। अपनी वर्तमान दुर्दशा देखकर उसे कभी खीझ, कभी आक्रोश, कभी लाचारी और कभी आत्म-हीनता का बोध होता है। 'हिमालय' में दिनकर ने अतीत के आलोक में ही वर्तमान भारत का सिंहावलोकन किया है। अपनी दयनीय दशा देखकर वह रो पड़ता है। क्या किया जाय ? बँधी है लेखनी लाचार है वह !

ऐतिहासिक स्थलों और महापुरुषों के नाम से हमारे हृदय काघनिष्ट संबंध रहता है। राम, घनश्याम, अशोक, चन्द्रगुप्त, विद्यापति, मिथिला, वैशाली आदि नाम ही हमारे अचेतन मन के मर्म को एकाएक झंकृत कर देते हैं। नालंदा और वैशाली कवि को भी बार रुला चुके हैं। अतीत गरिमा और वर्तमान वेदना को चित्रित करने में दिनकर को अभूतपूर्व सफलता मिली है। भारत के अतीत गौरव का आह्वान हमारे वर्तमान भेद-भाव, वर्ण-वैषम्य और कूप-मंडूकता को दूर करने में कहाँ तक सहायक सिद्ध हो सकता है, यह रवि बाबू के एक गीत की कुछ पंक्तियों द्वारा विदित हो जायगा :—

"केह नाहि जाने कार आह्वाने कत मानुषेर धारा
दुर्वार स्रोते एलो कोथा हते समुद्र होलो हारा।
हेथाय आर्य, हेथाय अनार्य, हेथाय द्राविड़ चीन
शक हूण-दल पाठान मोगल एक देहे होलो लीन।
पश्चिम आजि खुलियाछे द्वार सेथाहते सबे आने उपहार
दिवे आर निवे, मिलिवे मिलिचे यावे ना फिरे।
एइ भारतेर महामानवेर सागर तीर।"

वर्तमान का संबन्ध प्रत्यक्ष से और अतीत का अप्रत्यक्ष से है। वर्तमान की कटुता और संघर्ष से रुष्ट कवि रस-ग्रहण करने के लिये अपनी कल्पना को सुनहले अतीत में भ्रमण करने के लिये छोड़ देता है। वर्तमान की उष्ण धारा में बहने वाला कवि रस-निमग्नता का आनन्द कम ले पाता है। राष्ट्रीय कवि का कितना दुर्भाग्य है कि वह अतीत के मधुमय क्षणों में भी वर्तमान की तिक्तता के कारण उद्विग्न बन जाता है। भारतेन्दु ने भी अतीत की अमरावती में विश्राम करना चाहा परन्तु देश की अधोगति का ध्यान आते ही रुदन की झड़ी लग जाती है। भारतेन्दु ने अतीत गौरव का चित्रण कर देशवासियों की अलसाई आँखों को उन्मीलित करने का श्लाघनीय प्रयास किया है। मैथिलीशरण ने अपनी भारती की गूँज से देश को सजग किया और दिनकर ने आलोक धन्वा की टंकार से उसे कर्त्तव्य-रथ पर आरूढ़ किया। भारतेन्दु की अतीत भावना में विवशता और विकलता है। तत्कालीन भारत में शक्तिशाली लोकनायक का अभाव देखकर भारतेन्दु ने व्यक्ति का गौरवगान छोड़ कर भगवान का गुणानुवाद किया, 'करुणानिधि केसव' को 'यदा यदाहि धर्मस्य' का स्मरण कराया। भारतेन्दु स्वयं भगवद्भक्त थे इसलिये उनकी पुकार में उनकी सच्ची हृदय वेदना प्रतिध्वनित होती रहती है। भक्ति, करुणा और आत्मविवशता के घुल-मिल जाने से इनकी अतीत भावना हमारे हृदय को छू लेती है। अपनी सात्विक खीझ के कारण कवि ने चित्तौर को 'भारी निलज' कहा है। इस खीझ से बचने के लिये दिनकर कुछ क्षणों के लिये अतीत की स्मृति में रहना पसन्द करते हैं:—

देवि! दुखद है वर्तमान की यह असीम पीड़ा सहना।
कहीं सुखद इससे संस्मृति में है अतीत की रत रहना॥

खंडहर-प्रेम—महाकाल के चक्र की तीव्र गति के सामने कोई देश एक सा नहीं रह पाता। हँसता हुआ साम्राज्य धूल में लोटने लगता है और गगन-चुम्बी अट्टालिकाएँ कालांतर में धराशायी हो जाती हैं। वर्तमान यदि अतीत से

अधिक आह्लादकारी हुआ तो अतीत के विनाश की स्मृति उतनी कष्टदायक नहीं होती। वर्तमान का अंधकार अतीत के स्वर्ण विहान की स्मृति को और अधिक प्रगाढ़ बना देता है। यूनान, मिश्र और चीन अपने वैभव, दर्शन और स्वातंत्र्य का स्मरण कर निराश हो जाते होंगे। आधुनिक जर्मनी और जापान को अपनी स्वाधीनता की याद कितनी खलती होगी। भारत भी इन्हीं देशों की तरह लुटा हुआ प्रपीड़ित और पद्मर्दित राष्ट्र है। यहाँ के मूक खंडहर अपने अतीत की सजीव व्यंजना कर रहे हैं। नालंदा, वैशाली, पाटलिपुत्र, सारनाथ, साँची आदि स्थानों में खंडहर अपने विगत जीवन के स्वर्णिम इतिहास को छिपाए बैठे हैं। जो भवन या कीर्त्तियाँ विनष्ट नहीं हुई हैं वे भी कवि की स्मृतियों को झनझना देती है—

"भावुक मन को रोक न पाया, सज आए पलकों में सावन।"
नालंदा वैशाली के ढूहों पर बरसे पुतली के घन।— रे०

दिल्ली की गौरव समाधि पर आंखों ने आँसू बरसाए।
सिकता में सोए अतीत के ज्योति वीर स्मृति में उग आए।" रे०

खँडहरों को देखकर आँसू बहाने वाले मन भावुक हुआ करते हैं। जिस व्यक्ति के मन में तर्क-पक्ष की प्रधानता होती है वह बीती बातों पर आँसू बहाने को गँवारूपन या पागलपन समझता है, लेकिन भाव-प्रधान व्यक्ति का हृदय वाह्य जगत से सम्वेदना प्राप्त करने के लिए सदैव उत्सुक और प्रस्तुत रहता है। कवि भावना-कल्पना-प्रधान जीव होता है, इसीलिए खंडहर भी उसके सामने अपना इतिहास खोल देते हैं। खंडहर-प्रियता ऐतिहासिक अनुभूति की अपेक्षा करती है। नालंदा, वैशाली आदि के ज्वलंत इतिहास से अपरिचित व्यक्ति के हृदय में खंडहर प्रेम नहीं जगा सकते। मेगास्थनीज, फाहियान आदि यात्रियों के वृत्तांत के अध्ययन में जिनका चित्त तल्लीन रहा करता है, वे ही इन स्थानों को देखकर सजल हो सकते हैं। सुदूर देश के छात्रों का नालंदा विश्व-विद्यालय में अध्ययन करना, सहस्रों छात्रों का निवास-स्थान, वहाँ के स्थविर की शांत और गम्भीर मुखमुद्रा, विश्व में ज्ञान का आलोक विकीर्ण करना आदि-आदि बातें कवि को पागल बना देती हैं। गणतन्त्र वैशाली के ध्वंसावशेष पर आँसू क्यों नहीं चू पड़े। इतिहास की घटनाएँ, वर्णनाएँ, सहृदय के लिए इतिवृत्त मात्र नहीं रह जातीं, वे उसके हृदय में हिलोरें उठाती हैं। अपनी कल्पना और अनुभूति के द्वारा कवि ऐतिहासिक पात्रों के साथ वार्त्तालाप करता, उनके निधन पर आंसू और विजय पर फूल बरसाता है। अशोक

पृथ्वीराज, प्रताप, शिवाजी की कथाओं से जितना कोई भारतवासी प्रभावित और पुलकित होगा, उतना विदेशी नहीं। देश के खंडहरों में परिभ्रमण करने के लिये ये तीन बातें आवश्यक है :—

क—देश की परम्परा और संस्कृति का चित्त पर अमिट संस्कार।

ख—पुराण और इतिहास का गम्भीर सरस अध्ययन।

ग—अतीत गौरव के प्रत्यक्ष दर्शन या स्मरण द्वारा प्रेमाभिभूत हो रसमग्नहोना।

दिनकर के जीवन में सौभाग्य से इन तीनों तत्वों का समावेश हुआ है। दिनकर ने अपने देश के प्राचीन साहित्य, इतिहास और धर्म-ग्रंथों का अध्ययन किया है कवि ने रामायण, महाभारत और उपनिषदों से भरपूर प्रेरणा ग्रहण की है। आदि कवि वाल्मीकि का श्रद्धा के साथ कई स्थलों पर आवाहन किया है। अपनी रचनाओं के प्रारम्भ में यहाँ के देवताओं को प्रतीक के रूप में स्मरण किया है। भारतीय साहित्यिक परम्परा में मंगलाचरण का विधान है। मैथिलीशरण गुप्त ने अपने प्रत्येक ग्रंथ के प्रारम्भ में स्पष्टता के साथ मंगलाचरण का उल्लेख किया है। 'साकेत','भारत-भारती','जयद्रथवध', 'यशोधरा' आदि काव्य-ग्रंथों में गुप्तजी ने अपने इष्टदेव की वंदना की है। भारतेन्दु ने भी इस परम्परा का यथोचित पालन किया है। पीछे चलकर नये कवियों ने आधुनिकता के जोश में इससे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। दिनकर ने साम्प्रदायिक रूप से किसी देवता का आंवाहन नहीं किया है बल्कि सांस्कृतिक रूप से 'स्वर-सम्राट, 'विराट गायक' का स्मरण किया है :—

"पल भर को मेरे प्राणों में ओ विराट गायक आओ।
इस वंशी पर रसमय स्वर में युग-युग के गायन गाओ।" २०

कवि अपने देव से यह वरदान मांगता है :—

"ऐसा दे वरदान, कला को कुछ भी रहे अज्ञेय नहीं।
रजकण से ले पारिजात तक कोई रूप अगेय नहीं।
प्रथम खिली जो मधुर ज्योति कविता बन तमसा कूलों में
जो हँसती आ रही युगों से नभ-दीपों वन-फूलों में
सूर-सूर तुलसी-शशि जिसकी विभा यहाँ फैलाते हैं।
जिसके बुझे कणों को पा कवि अब खद्योत कहाते हैं।
उसकी विभा प्रदीप्त करे मेरे उर का कोना-कोना।
छू दे यदि लेखनी, धूल भी चमक उठे बन कर सोना।"

उक्त पंक्तियों में कवि ने विराट गायक ब्रह्मा के स्मरण के साथ तमसा-तीर स्थित वाल्मीकि, सूर, तुलसी आदि का भी स्मरण किया है। 'हुँकार' में कवि की क्रान्तिकुमारी का प्रलय नृत्य हो रहा है, इसलिए कवि ने विप्लव को युग का देवता मानकर आमंत्रित किया है। 'जय' की ध्वनि हमारी चिर विजय की भावना को सूचित करती है। गाँव के पंडित जी इसीलिए 'जय हो' कह कर आशीर्वाद देते है। युग-देवता के लिए दिनकर ने जय-जयकार की है—

"जय हो युग के देव पधारो, विकट रुद्र, हे अभिमानी।
मुक्त-केशिनी खड़ी द्वार पर कब से भावों की रानी!—"हुँ०

रुद्र और मुक्त-केशिनी यहाँ विशेषण के रूप में प्रयुक्त होकर भी भगवान शंकर और महाकाली की विकट मूर्ति को प्रत्यक्ष कर रहे हैं। 'कुरुक्षेत्र' के छठे सर्ग में कवि ने भगवान की करुणा का स्मरण किया है:—

"धर्म का दीपक, दया का दीप
कब जलेगा, कब जलेगा, विश्व में भगवान।'—कु०

शंकर दुर्गा, चंडी, श्रीकृष्ण, राधा आदि के नाम हमारे हृदय पर भिन्न भिन्न प्रभाव छोडे बिना नहीं रहते। हम नास्तिक, हों चाहे आस्तिक साहित्य में इनके रसात्मक प्रभाव से हम अपने को बचा नहीं सकते। ये नाम भिन्न-भिन्न भावों का प्रतिनिधित्व करते रहते हैं। शंकर के तांडव से संहार-लीला का दृश्य हमारी आँखों के सामने प्रकट हो जाता है। दुष्टों का दलन करने वाली निर्भीक और अजेय शक्ति 'दुर्गा' नाम से ही प्रत्यक्ष होती है:

"कब्र खोद फिर से फूँकेगी, क्या मुर्दों में जान नहीं!
दुर्गे, बोल, उठेगा रेतों से क्या राजस्थान नहीं!'

इसी प्रकार 'गङ्गा-जल' और 'शैय्या के अंचल' द्वारा कवि ने हमारे हृदय में पुरातन भाव-धारा का मधुर संचार किया है।—

"अन्न नहीं, अवलम्ब प्राण को, गम आँसू या गंगा जल का।
मरने पर भी हमें कफन है माता शैय्या के अंचल का।"—हुँ०

राष्ट्रकवि अपनी राष्ट्रीय परम्परा, जीवनपद्धति, आचार-विचार, सभ्यता-संस्कृति का पारदर्शी पंडित होता है। वह हमारे हृदय के उसी तार को छूता है जिससे सारी सुप्त भावनाएँ एकाएक झनझना उठती हैं। सत्य और अहिंसा के कोरे सिद्धांत की जगह कर्मठ वीर पुरुषों की अभी आवश्यकता है—कवि ने इस भाव को युधिष्ठिर और अर्जुन-भीम द्वारा कितनी सुन्दरता के साथ व्यक्त किया है:

"तू रोक युधिष्ठिर को न यहाँ, जाने दे उनको स्वर्ग धीर,
लौटा दे पर गांडीव-गदा रहने दे अर्जुन-भीमवीर।"—रे०

प्रत्येक व्यक्ति युधिष्ठिर से परिचित है। सीता, द्रौपदी की कहानी किसके मन में नहीं बसी है? भारत की असहाय, अनाथ अबलाओं का प्रतिनिधि कवि ने 'द्रुपदी' को बनाया है। 'कितनी द्रुपदा के बाल खुले' सुनते ही हमारे समाने महाभारत कालीन द्रौपदी की विपरण क्रुद्ध मूर्त्ति प्रत्यक्ष हो जाती है। ऐसे स्थलों की कमी नहीं है जहाँ कवि ने अपनी संस्कृति-प्रियता, परम्परा-पालन और ऐतिहासिक अध्ययन का परिचय दिया है।

'रेणुका' में कवि की वृत्ति अतीत गौरव में खूब ही रमी है। प्रागैतिहासिक मौर्य, गुप्त और मुगल-काल भारतवर्ष के इतिहास में अमर हो गए हैं। कवि ने प्रत्येक काल की सुनहरी धूप और रजत चांदनी में भ्रमण किया है। रामायण और भारत की ऐतिहासिकता पर भले ही किसी को संदेह हो लेकिन इनकी उपयोगिता पर कौन अविश्वास करेगा। राम और कृष्ण भारतीय जीवन के दो सुदृढ़ स्तम्भ हैं। कवि ने 'हिमालय' में केवल इस ओर संकेत कर दिया है और हम अतीत-सरिता में निमग्न होने लगते हैं:—

"तू पूछ अवध से राम कहां? वृन्दा बोलो घनश्याम कहां!'
ओ मगध! कहां मेरे अशोक, वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहां!

हिमालय इस विराट भारतवर्ष की आत्मा का ज्वलंत प्रतीक है। समाधिस्थ हिमालय आज जगाया जा रहा है। मानो कवि भारतीय यौवन को ही ललकार रहे हैं। घनश्याम शब्द में वह जादू है जो तृषितों को, तापितों को शीतल छाया प्रदान करता है। और कृष्ण के युग से निकलते ही कवि हमें अशोक और चन्द्रगुप्त का स्मरण दिलाते हैं। कलिंग के महासमर की रक्त-धारा में स्नान करके उज्ज्वल और पूतमना अशोक किसकी दृष्टि में महान नहीं है? विश्व के इतिहास में ऐसा कौन राजा हुआ जिसने ऐश्वर्य की अलका में निवास करते हुए भी गैरिक परिधान धारण किया हो! अखिल मानवता के कल्याण के लिए राजभवन छोड़ भिक्षुकता वेश धारण किया! अपनी रानी के शयनागार में दुखी प्रजा को प्रवेश करने का किस राजा ने अधिकार दिया है? प्रेम और अहिंसा के बल से सिंहल द्वीप तक किसने अपना संदेश पहुँचाया? विलास में विरक्ति, औदास्य में आनन्द और नैराश्य में उल्लास की शंखध्वनि करने वाला अमर सम्राट और कहाँ उत्पन्न हुआ! जिस सिकन्दर के पदचाप से भारत का पश्चिमोत्तर भाग दलित और अवमानित हुआ उसी के भेजे हुए प्रबल शासक सैल्यूकस को पराजित कर चन्द्रगुप्त ने उसकी कन्या से विवाह किया और यूनानी प्रभाव को जड़-मूल से उखाड़ कर अरब-सागर में प्रवाहित किया। अशोक और चन्द्रगुप्त के नाम सुनते ही हमारे मन में प्राचीन गौरव लहराने लगता है।

जिस बौद्ध धर्म ने तिब्बत, ईरान, जापान, चीन, ब्रह्मदेश एवं अन्यान्य लघु उपनिवेशों को प्रकाश दिया, उसके प्रवर्तक भगवान बुद्ध आज कहाँ हैं ! कवि कपिलवस्तु से बुद्ध के समाचार पूछ रहा है—

री कपिलवस्तु, कह बुद्धदेव के वे मंगल उपदेश कहां !
तिब्बत ईरान जापान चीन तक गये हुये संदेश कहां !

बिहार प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भागलपुर वाले अधिवेशन में दिनकर ने 'हिमालय' को प्रथम बार पढ़ा था। सारे भवन को अतीत की मस्ती में झूमते हुए मैंने पाया था। 'ओरी उदास गंडकी बता, विद्यापति कवि के गान कहाँ!' सुनकर मेरे हृदय में माधुर्य, वेदना और उदासीनता की जो त्रिवेणी लहराने लगी थी उसका वर्णन कैसे किया जाय। उत्तरापथ के हृदय-कुंज में कूजन करने वाले मैथिल कोकिल की मधुर कोमल-कांत पदावली—सुतलि छलहुँ हम घरवारे गरवा मोती हार...लोचन धाए के धायल हरि नहिं आयल रे...अब भी कानों में गूँज रही है। कवि ने उदास गंडकी को सम्बोधित करके एक म्लान, धूसरा, खिन्न-वदन अश्रुसिक्ता विरहिणी का चित्र सम्मुख कर दिया है। गंडकी विद्यापति के वियोग में अब भी आँसू बहा रही है—

"नीरव निशि में गंडकी विमल, कर देती मेरे विकल प्राण।
मैं खड़ी तीर पर सुनती हूँ विद्यापति कवि के मधुर गान।
नीलम घन गरज-गरज बरसे रिमझिम रिमझिम रिमझिम।
लहरें गाती हैं मधु-विहाग-"हे हे सखि, हमरक दुख न थोर।

—रे० (मिथिला)

पाटलिपुत्र में भारतवर्ष के सबसे समृद्धिशाली साम्राज्य सबसे अधिक काल तक स्थिर रहे। मौर्यों और गुप्तों की राजधानी यही पाटलिपुत्र रही। पाटलिपुत्र ने ऐश्वर्य, विजयोल्लास और पराक्रम के सबसे सुन्दर दिन देखे हैं। पाटलिपुत्र को अपने शीतल जलकण से सपृक्त करने वाली गङ्गा आदि काल से इसके उत्थान-पतन की लीला को देखती चली आ रही है। कवि पाटलिपुत्र की गौरवगरिमा और ऐश्वर्य-वितान को चित्रित करने के लिये 'पाटलिपुत्र की गङ्गा' से उसके हृदय की वेदना पूछ रहे हैं। इतिहासकार तथ्यों के सत्यासत्य की परीक्षा कर उसका वर्णन स्वयं करता है, उस पर अपनी सम्मति प्रकट करता है। कवि घटनाओं की घटा में अपनी विद्युत-प्रतिभा से उनके मर्म को सहज ही हृदयंगम कर लेते हैं और कल्पना-अनुभूति के नित नूतन लोक में पाठकों को विचरण करने के लिये छोड़ देते हैं। पाटलिपुत्र की प्रभाहीन दुखिता गङ्गा का रेखाचित्र देखिए—

"संध्या की इस मलिन सेज पर, गंगे, किस विषाद के सङ्ग
सिसक सिसक कर सुला रही तू अपने मनकी मृदुल उमङ्ग।
घूम रहा पलकों के भीतर स्वप्नों सा गत विभव विराट्
आता है क्या याद ? मगध का सुरसरि, वह अशोक सम्राट्?

गङ्गा एक संन्यासिनी के समान विजन में रो-रोकर गुप्त-वंश का गरिमा-गान गाती जा रही है। गङ्गा के तटों पर गौतम के उपदेश गूंज रहे हैं और लहरों में अहिंसा के संदेश ध्वनित हो रहे हैं। कवि गङ्गा को याद दिला रहे हैं :—

"तुझे याद है ! चढ़े पदों पर कितने जय-सुमनों के हार ?
कितनी बार समुद्रगुप्त ने धोई है तुझमें तलवार ?

समुद्रगुप्त भारत का नेपोलियन कहा जाता है। इसने लंका के राजा मेघवर्ण से कर वसूल किये थे। गङ्गा की धारा में किसी विजयी वीर का रक्तरंजित तलवार धोना कितना उत्साहवर्द्धक दृश्य है! कवि ने समुद्रगुप्त की वीरता का उल्लास पूर्ण वर्णन किया है। गङ्गा अभी भी समुद्रगुप्त के असि-प्रक्षालन का स्मरण कर गौरवान्वित होती होगी। गङ्गा ने मगध का विराट् उज्ज्वल शृंगार देखा है। पराजित सैल्यूकस को चंद्रगुप्त के चरणों पर मनुहार करते देखा है, लेकिन—

"धधक उठा तेरे मरघट में जिसदिन सोने का संसार
एक-एक कर लगा दहकने मगध-सुन्दरी का शृंगार
दायें पार्श्व पड़ा सोता मिट्टी में मगध शक्तिशाली।
वीर लिच्छवी की विधवा बायें रोती है वैशाली।

मगध साम्राज्य का धूल-धूसरित दृश्य और वैशाली की दयनीय दशा का उपर्युक्त पंक्तियों में अत्यन्त स्पष्ट चित्रण हुआ है। लिच्छवी वीरों के निधन पर वैशाली का वैधव्य-वेश कितना हृदय-विदारक है! विशाल साम्राज्य के ध्वंस को कवि ने 'पड़ा सोता मिट्टी में मगध शक्तिशाली' से व्यक्त किया है। इसी प्रकार दिल्ली का श्रीहीन सौन्दर्य देखिये :—

"यह नियति गोद में देखो, मोगल गरिमा सोती है।
यमुना-कछार पर बैठी विधवा दिल्ली रोती है।

दिनकर को अपने अतीत से गहरा मोह हो गया है। कभी वे सुन्दरियों के विदग्ध जीवन पर आँसू बहाते हैं, कभी सलीम के साथ नूरजहाँ के भोले हाथ से उड़ते कपोत को देखकर बाग-बाग होते हैं, कभी अनार और जहाँगीर का प्रेमालाप

सुनकर सिहर उठते हैं, कभी 'भारत के अन्तिम ज्योति नयन प्यारे सीराज' की स्मृति में आहें भरते हैं, कभी मुमताज और शाहजहाँ के अमर प्रेम में आत्म-विभोर हो अपनी सुध-बुध खोते हैं। मुगल-कालीन वैभव, विक्रम के प्रति कवि का काफी आकर्षण है। लेकिन जब कवि की निगाह परदेशी संग गलबाँही डालने वाली नई दिल्ली पर जाती है तो उनका दबा हुआ क्रोध फूट पड़ता है। पांडवों से पोषित मुगलों से लालित दिल्ली विदेशियों के साथ चोंचलाय करे, यह अपमान कवि को असह्य हो रहा है। बिजली की चकाचौंध से आँखें फेरकर वे अतीत के स्नेह-दीप से लौ लगाते हैं:—

"हमने देखा यहीं पांडु वीरों का कीर्ति-प्रसार
वैभव का सुख-स्वप्न, कला का महा स्वप्न-अभिसार
यहीं कभी अपनी रानी थी, तू ऐसे मत भूल;
अकबर शाहजहाँ ने जिसका किया स्वयं शृंगार।
जरा गिरा ले घूँघट अपना, और यादकर वह सुख-सपना
नूरजहाँ की मर्मव्यथा में दीवाने सलीम का तपना
गुम्बद पर प्रेमिका कपोती के पीछे कपोत का उड़ना
जरा याद कर, यहीं नहाती थी मेरी मुमताज अतर में
तुझसी तो सुन्दरी खड़ी रहती थी पैमाना ले कर में

'वैभव की समाधि' और 'समाधि के प्रदीप' (रेणुका) में भी मुगल-कालीन वैभव, उन्माद और उसके ह्रास का वर्णन किया गया है। मुगलों के खंडहरों में कवि की लेखनी रोती है:—

"कूकती असहाय मेरी कल्पना, कब्र में सोये हुओं के ध्यान में
खंडहरों में बैठ भरती सिसकियां, विरहिणी कविता सदा सुनसान में।"

मुगल वैभव के विनाश से कवि के हृदय में हूक उठती है। इनकी आँखों में बादशाह की विलासिता के दृश्य एक-एक कर नाच उठते हैं:—

"हाय रे! परिवर्तन विकराल!
सुनहली मदिरा है वह कहां, मुहब्बत की वे आंखें चार
सिहरता, शरमीला चुम्बन कहां वह सोने का संसार!
कहां मखमली हरम में आज मधुर उठती संगीत-हिलोर
शाह की पृथुल जांघ पर कहाँ सुन्दरी सोती अलस विभोर।"

'वैभव की समाधि' पर कवि ने जो अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। वह

उसकी मुगल-सम्राटों के प्रति असीम सहानुभूति की ही नहीं बल्कि मधुर प्रीति की परिचायक है। काश! मुसलमान भी हिन्दू वीरों के प्रति यही प्रेम-भाव रखते।

दिनकर के काव्य में अतीत को वाणी मिली है; इतिहास साकार होकर हमारे सामने अवतरित हुआ है। खंडहरों के हृदय को प्रतिध्वनित और अनुप्राणित करने वाले हिन्दी साहित्य में ऐसे कितने कवि हैं! दिनकर की अतीत भावना कहीं भगवान बुद्ध की दिव्य आत्मा से आलोकित है, कहीं मौर्य और गुप्त के भव्य ऐश्वर्य में मुखरित है, कहीं मुगल कला-विलास से विकसित है और कहीं राजपूती शान और शौर्य से उद्द्योतित है।

यह सब होते हुए भी दिनकर के अतीत चित्रों में पाठकों की पूरी तल्लीनता नहीं हो पाती। काव्य में तादात्म्य-भाव की उपलब्धि के लिए किसी चित्र या झाँकी का सांगोपांग चित्रण होना चाहिए। हमारी चित्तवृत्ति अनुकूल वातावरण पाकर किसी विशेष भाव व रस में कुछ काल तक रमण करना चाहती है। भाववीचियां यदि एक लय से तरंगित होती गईं तो चित्र को संतरण करने में आयास नहीं करना पड़ता। एक तरंग से उछल कर काफी दूर दूसरी निम्न या उच्च तरंग पर पहुँचने में विलंब और प्रयास दोनों करना पड़ता है। दिनकर के अतीत-चित्रण में सहृदय को रस पीने के लिए कुछ आयास करना पड़ता है। इनके चित्र तेजी से बदलते रहते हैं। एक चित्र पर नजर टिकी नहीं कि कोई दूसरा सामने आ गया, दूसरे को पल भर देखा नहीं कि तीसरा। जल्द बदलते रहने के कारण चित्रों में गति आ जाती है, गति में जीवन का संचार हो जाता है। चित्रों के परिवर्त्तन में एकलयता और एकरूपता का निर्वाह आवश्यक है। चित्र की आंतरिक भाव-भंगिमाओं में स्पंदन होना चाहिए। दिनकर के काव्य में चित्र की अन्तश्चेतना में विविध भाव लहरियां प्रायः नहीं उठतीं, चित्र में हीला प्रकम्पन उत्पन्न नहीं होता, बल्कि चित्र ही बदल जाते हैं। लेकिन कवि की कला की यह विशेषता है कि चित्रों में वाण परिवर्तन होते हुए भी प्रभावों की अन्विति कुछ काल तक बनी रहती है। परस्पर विरोधी भाव आकर हमारे चित्त को झकझोरते नहीं, बल्कि एक ही रूप-रंग की भाव प्रतिमाएँ सजीव होकर हमारे हृदय पर अपनी रेखा छोड़ जाती हैं।

"तू पूछ अवध से राम कहां, वृंदा, बोलो घनश्याम कहां
ओ मगध कहां मेरे अशोक, वह चंद्रगुप्त बलधाम कहां"

उपर्युक्त पंक्तियों में, राम, घनश्याम, अशोक, और चन्द्रगुप्त चार भाव-वीचियों को जगाते हैं, लेकिन चारों चित्रों में कुछ साम्य है—वह साम्य है, उनका उदात्त चरित, विराट व्यक्तित्व, और करुणार्द्र हृदय। इस अंतः साम्य के कारण हमारे चित्त पर चित्रों का प्रभाव बहुत अंशों में एक-सा होकर पड़ता है, विषम

होकर नहीं।' 'मिथला भिखारिनी सुकुमारी' और 'प्यारे गौतम' के कारण चित्रों पर हृदय कुछ विश्राम करना चाहता है, लेकिन कवि चित्र को मन-चाहा विश्राम नहीं देते और उसे 'अम्बुधि' के अन्तस्तल बीच छिपी कोई सुलगती आग दिखा देते हैं। हमारी आँखें ललचाई और प्यासी निगाह से देखती रह जाती हैं और चित्र बदल जाता है। 'हिमालय' में अतीत, वर्तमान और भविष्य के चित्र अतीव द्रुत गति से परिवर्तित होते रहते हैं। हिमालय के एक नयन में करुणा के आँसू छलक रहे हैं और दूसरे में अग्नि ज्वाल धधक रहा है, एक में खुमारी है, दूसरे में चिनगारी है। हिमालय के एक स्वर में भगवान शेष की बाँसुरी है तो दूसरे में नवयुग की शंखध्वनि है। कवि पाठकों को अतीत के छायावन में नहीं छोड़ते, वे उन्हें प्रभात के प्रकाश-पुन्ज में खड़ा करते हैं। 'पाटलिपुत्र की गंगा से' 'मिथिला' और 'वैभव की समाधि पर'—इन तीन कविताओं में कवि ने अतीत के सुखदुख से पुलकित हर्ष-विषाद का वर्णन किया है। सुभद्राकुमारी चौहान की कल्पना अतीत के गह्वर में प्रवेश नहीं कर पाती। वे निकट अतीत से प्रेरणा ग्रहण करती हैं। सन् '४६ और बाद के भारत की कुछ प्रज्वलित होम-शिखाओं को उन्होंने वाणी प्रदान की है। देश को शीघ्र स्वतंत्र देखने के लिए व्यग्र कवि-यित्री को अतीत में विराम करने के लिए शायद अवकाश नहीं है। प्रसाद की कल्पना अतीत के अरुण पराग का पान कर रंजित हो गई है। अतीत प्रेम के कारण ही प्रसाद की नाट्य-प्रतिभा पुराण, मौर्य और गुप्त काल में विचरण करती रही। 'लहर' की कुछ कविताओं में प्रसाद ने अपनी अतीत भावना को अत्यन्त भावुकता और कलात्मकता के साथ चित्रित किया है। अतीत के मादक सौन्दर्य में, वैभव-विलास में प्रसाद का चित्त निमग्न हो जाता है और वहाँ से चमकीले रत्न निकाल लेता है। 'वरुणा की शांत कछार…', 'महाराणा का महत्व' आदि कविताओं में उनकी रंजित और मधुमयी कल्पना का अच्छा परिचय मिलता है। प्रसाद के अतीत-चित्रण में हमारा चित्त रमता है सही, सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है ठीक, लेकिन शक्ति-मूल का उद्बोधन प्राप्त नहीं होता। राष्ट्रीय कविता का उद्देश्य सौन्दर्य-विधान के साथ ही जनोद्बोधन भी है। प्रसाद में कला-सौन्दर्य तो पाते हैं लेकिन राष्ट्र-प्रेम की वह उमंग नहीं जो जन समुदाय को कर्त्तव्य पथ पर आरूढ़ करे। प्रसाद की भाषा-शैली, अभिव्यंजना-पद्धति इतनी लाक्षणिक और मूर्तिमंत होती है कि हम उनके कौशल से मुग्ध होते हैं राष्ट्र-प्रेम से प्रभावित नहीं।

वर्तमान—'रेणुका' में कवि की दृष्टि अतीत की स्वर्ण रेणुकाओं की ओर अधिक रही; 'हुंकार' में वह देश के वर्त्तमान पर गड़ी हुई है। हुंकार के आमुख में कवि ने वर्त्तमान का जय-गान किया है :—

'वर्त्तमान की जय, अभीत हो, खुल कर मेरी पीर बजे।
एक राग मेरा भी रण में, बंदी की जंजीर बजे।"

वर्त्तमान का आग्रह, सुख-दुख में उलझाकर, कवि की स्वर्णिम कल्पना और मेघ-दूतीय अनुभूति पर प्रतिबंध लगा देता है। अतीत और भविष्य में कल्पना और आदर्श की प्रचुरता रहती है, वर्त्तमान में कर्म और यथार्थ की। इसलिए अतीत और भविष्य की ओर निहारने वाला कवि स्वप्न-द्रष्टा और आदर्शवादी होता है, एवं वर्त्तमान से जूझने वाला कवि यथार्थवादी और क्रांतिकारी। देश के वर्त्तमान की चर्चा तो बहुलांश में उनकी दुख-गाथा है। कवि ने वर्त्तमान की जय कहते हुए अपने को दुखी मानवता का चारण या वैताली कहा है। भारत और ब्रिटिश का युद्ध देवासुर-संग्राम है, प्रकाश और अंधकार का संघर्ष है। कवि इसी युद्ध भूमि का गायक है :—'तिमिर-ज्योति की समर भूमि का मैं चारण मैं वैताली।'

वर्त्तमान संघर्ष की कवियों के मन पर क्या प्रतिक्रियायें होती हैं —थोड़ा इस पर विचार करना चाहिये। हमारे अन्दर का अहं संसार की बहिरंग वस्तुओं में सुख ढूँढ़ना चाहता है; लेकिन उसे प्रायः निराशा हाथ लगती है। अहं की वासना को संतृप्त करने वाली वस्तुएँ मानव के लिए सुखद और दुख पहुँचाने वाली दुखद होती हैं। फिर भी व्यक्ति को इस संसार की विषम परिस्थिति का किसी न किसी रूप में सामना करना ही पड़ता है। धारा की प्रखरता, जल की गम्भीरता और अन्तःविश्वास की कमी के कारण मानव-मन उसमें अवगाहन के लिये पैठता ही नहीं; वह किनारे पर खड़ा रहकर धाराओं के खरतर प्रवाह आलोड़न-विलोड़न को देखता रहता है। दुखद दृश्यों को बार-बार देखते रहने के कारण किसी-किसी दृश्य से उसे अनायास अनुरक्ति हो जाती है। वह उसमें सौन्दर्य के दर्शन करने लगता है। लिप्तता में सुख या दुख की तीव्र अनुभूति होती है। तटस्थता में अलग होकर चिंतन करने से व्यक्ति मोहासक्त नहीं हो पाता। प्रतिकूल परिस्थिति या भयोत्पादक वातावरण का सामना करने में असमर्थ व्यक्ति उससे मुँह छिपा लेता है दूसरी ओर भाग जाता है। बिल्ली को अपनी ओर झपटते देख कबूतर अपनी आँखें बन्द कर उसकी डरावनी सूरत से छुटकारा पाना चाहता है। आँख बन्द कर लेने से प्रत्यक्ष वस्तु अप्रत्यक्ष रूप में मन में आकर घूमने लगती है। पलायन करने वाले व्यक्ति के मन में उस भयावनी वस्तु की भयंकरता अधिक स्थान करती जाती है। जो व्यक्ति दुख और विपत्ति से जितना दूर है, मानसिक दृष्टि से वह उसके उतना ही निकट है। इसलिए उसकी आंतरिक पीड़ा में कमी क्या वृद्ध हो जाती है। संघर्ष में रत व्यक्ति का मन वस्तु-स्थिति में उलझे रहने के कारण अनाश्रित कल्पना की ओर प्रायः प्रेरित नहीं होता। रोगी के निकट सेवा करने वाला व्यक्ति

उतना चिंतित नहीं रहता जितना उससे दूर रहने वाला। इसलिए पलायन करने वाला व्यक्ति भय से मुक्ति पाने के लिए कल्पित आनन्द लोक का सृजन करता है। तटस्थ व्यक्ति का मन जगत के दुख-दैन्य को देखकर दार्शनिक की तरह चिंतनशील भी हो सकता है। वह उसके सुख-दुख के कारणों और परिणाम पर विवेचन करता है। कभी-कभी स्वयं उसकी अनुभूति में प्रवाहित और पुलकित हुआ करता है। यह व्यक्ति संसार के सुख-दुख को क्षणिक मानकर अपनी कल्पना में नवीन आनंद-लोक की सृष्टि करता है। मन की यह तटस्थतामूलक प्रवृत्ति आनंदवाद में रमण करती है, सौन्दर्य का अभिनव विधान करती है, कल्पना के नित्य नूतन चित्र रँगती है। मन की शक्ति यदि संघर्ष में व्यय नहीं होगी तो वह कल्पना-लोक में निश्चय ही विचरण करेगी। दिन के शारीरिक श्रम से शिथिल किसान या मजदूर जीवन के सौन्दर्य या आदर्श की रन्जित कल्पना नहीं कर पाते, उनके स्वप्न भी धरती को छू कर ही चलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मानसिक यह कल्पनाजनित आनन्द की प्राप्ति के लिये तटस्थता-मूलक प्रकृति आवश्यक है।

जो व्यक्ति विपत् की धार में कुछ काल तक संघर्ष करके निराश हो जाता है वह अपने को धारा की इच्छा पर बहने के लिए छोड़ देता है। धारा बहाकर उसे कहाँ ले जायगी—चट्टान से टकरायगी या समुद्र के आवर्त्त में डुबो देगी या हरे-भरे किनारे का स्पर्श करायगी—कुछ पता नहीं! ऐसे व्यक्ति की मानसिक अवस्था अत्यंत निर्बल हो जाती है। उसमें संघर्ष करने की कोई क्षमता शेष नहीं रहती। अपने उद्देश्य की पूर्त्ति में उसका कोई हाथ नहीं रहने के कारण वह अदृष्ट, नियति और अज्ञात सत्ता पर विश्वास करने लगता है। अपने सुख साधन में उसका अपना तन्त्र नहीं चलता, वह पर-तन्त्र, पर-अवलंबित हो जाता है। व्यक्ति की यह पराधीनता-मूलक प्रवृत्ति उसे भाग्यवादी बना देती है। भाग्यवादी व्यक्ति अपने विगत जीवन की सुख-समृद्धि और ऐश्वर्य को विस्फारित नेत्रों से उसे बढ़ाकर देखता है, क्योंकि उसे अपने भविष्य की सुख-शांति पर भरोसा नहीं रहता। कभी-भी उस भग्नाभिलाष के मन में भगवान और समाज के प्रति घृणा और विद्रोह के भाव उत्पन्न होते हैं। संतुष्ट भाग्यवादी व्यक्ति ईश्वर की सत्ता में पूर्ण विश्वास करने वाला और असंतुष्ट भाग्यवादी नास्तिक हो जाता है। नास्तिकता के आगे-आगे उद्दंडता चलती है। ऐसे व्यक्ति के स्वभाव में प्रसन्नता और चिड़चिड़ापन, विम्रनता और उच्छृंखलता, ऐहिकता और विरक्ति का विचित्र मेल हो जाता है। जीवन की प्रसन्न-धारा की ओर यह उन्मुख न होकर प्रतिक्रियावादी बन जाता है। भोगवाद, प्रतिक्रियावाद, नैराश्यवाद और नग्न यथार्थवाद इसी पराधीनता मूलक भाग्यवाद की संतानें हैं।

वर्तमान दुख के प्रति तीसरी प्रतिक्रिया स्वाभाविक संघर्ष की है। जगत के बीच उसके सुख-दुख से मुदित होना स्वाभाविक है। धारा को नीचे दबाकर ऊपर तैरते रहने की शक्ति तो हमें जन्म से ही मिली है। यह और बात है कि कभी हम आवर्त के चक्कर में फँसकर विनष्ट हो जायं। सुख-दुख से संघर्ष करता हुआ कर्ममय जीवन ही अभिनन्दन के योग्य है। मन की इस स्वस्थ प्रवृत्ति के मूल में संघर्ष मूलक कर्मवाद का सिद्धांत निहित है। वर्तमान दुखों से छुटकारा पाने के लिए मानव-जीवन के लिए यह मनोदशा नितांत वांछनीय है। संघर्षरत व्यक्ति अलौकिक कल्पना के क्षेत्र में भ्रमण नहीं करता, अप्राप्य आदर्शवाद की ओर नहीं लपकता। उसके जीवन में आशा और उत्साह का सतत संचार होता रहता है। आशा और उत्साह व्यक्ति को संघर्ष में रत रहने के लिये अतिरिक्त शक्ति प्रदान करते हैं। यह आशा अविश्वास के अंधकार को फाड़कर चमकती है। जहाँ केवल अपने स्वार्थ-साधन के लिये, किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए व्यक्ति में क्रियाशीलता पाई जाती है, वहाँ हानि-लाभ की ओर बार-बार मन टँगा रहता है। इसका दुष्प्रभाव यह होता है कि मोह के कारण संघर्ष में उसकी सोलहो आना शक्ति नहीं लग पाती। फल की आसक्ति कर्ममय जीवन के आनन्द को कुंठित कर देती है। जहाँ कर्म और संघर्ष का उद्देश्य व्यक्तिगत न होकर राष्ट्र कल्याण किंवा विश्व-कल्याण रहता है वहाँ व्यक्ति के मन में शुद्ध सात्विक आनन्द की ज्योति जगती रहती है। आशावाद, यथार्थवाद और आनन्दवाद का जनक यह कर्मवाद ही है।

यह आवश्यक नहीं है कि साहित्य-क्षेत्र के सभी लेखक उपर्युक्त तीन प्रकार की मानसिक प्रतिक्रिया की श्रेणियों में से किसी एक में खड़े हो जायँ। किसी एक लेखक या कवि की कृतियों में हम एक प्रवृत्ति की प्रधानता और दूसरी की गौणता पा सकते हैं। यह भी संभव है कि किसी एक ही रचना में कोई कवि उक्त तीनों प्रतिक्रियाओं का परिचय दे फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि प्रसाद और पंत की कविताओं में तथस्थता-मूलक आनन्दवाद, बच्चन में पराधीनता मूलक भाग्यवाद और माखनलाल, सुभद्रा एवं दिनकर में संघर्ष मूलक कर्मवाद की प्रवृत्ति लक्षित होती है। मैथिलीशरण में हम तीनों प्रकार की प्रवृत्तियों का स्वस्थ सामजस्य पाते हैं। अब देखना चाहिये कि दिनकर की कविताओं में ये प्रवृत्तियाँ किन रूपों में व्यक्त हुई हैं।

'रसवंती की अधिकांश कविताओं में रुक्ष जीवन का कटु कोलाहल नहीं, वरन् प्रेमसिक्त आत्मा का मधुर कलरव है। यहाँ जगत की धूल और धूप से उठ कर, कल्पना और अनुभूति की अमरावती में सौन्दर्य और प्रेम की सरस कहानियां

कही गई है। कहीं गयंद-कुमार रूप के एक तन्तु में बँधा निरख दोलता है, कहीं नारी की छवि बाण मार कर प्रेमी को घायल करती है और कहीं प्रेम का अगुरु-धूम हृदय-मन्दिर को सुवासित करता है। कुछ काल के लिये कवि ने तटस्थता का आनन्द लेते हुये कल्पना के नन्दन वन में विचरण किया है। राष्ट्रीय कवि के लिये सोलहों आना तटस्थ रहना तो असंभव है; चित्र लेते समय में तटस्थ नहीं रह सका और दृश्यों के साथ तत् संबन्धी अपनी निजी भावनाओं को भी अंकित कर गया। मिट्टी की गन्ध हवा में भर गई। आदर्श में नग्न उँगलियों के चलने लग गये। तृषित जीव के चुम्बन से स्वप्न सिहर उठा।...... दिन भर सूर्य के ताप में जलने वाले पहाड़ के हृदय में भी चाँदनी शीतलता को पाकर कभी-कभी बाँसुरी का-सा कोई अस्पष्ट स्वर गूँजने लगता है, जो पत्थर की छाती को फोड़कर किसी जल-धारा के बह जाने की आकुलता की नाद है।"–[रस० की भूमिका]

तटस्थता मूलक आनन्दवाद की प्रवृत्ति ने कवि को 'रास की मुरली, 'पुनर्-प्रिया' 'अगरु धूम' आदि कविताएँ लिखने के लिए प्रेरित किया। अतीत में रमण करने की प्रवृत्ति का सम्बन्ध बहुत-कुछ इसी प्रकार की मानसिक अवस्था से है। अतीत के छायावन में भ्रमण करते समय कवि वर्त्तमान की लपट से बचने की भरसक कोशिश करते हैं। अतीत-वन में विहार करते समय मानसिक संतुलन में व्यवधान नहीं होता है, इसलिए आनन्दानुभूति निर्विघ्न हुआ करती है। यदि इस अवसर पर वर्तमान-दुख का स्मरण हो जाय तो मन में उद्विग्नता आ जाती है। और विरोधी भाव के संघर्ष से आनन्द की बाँसुरी में बेसुरा राग छिड़ जाता है। दिनकर के अतीत चित्रण या प्रकृति-वर्णन में एकाग्रता नहीं दीखती। गगन की नीलिमा में वह धरती की लू से बच नहीं पाता—

"यह बेबसी, गगन में भी छूता धरती का दाह मुझे,
ऐसा घमासान ! मिट्टी पर मिली न अब तक राह मुझे।"–हुँ०

'हिमालय' में अतीत का स्वर्ण वर्त्तमान की आग से प्रज्वलित हो उठा है। 'बोधिसत्व' का ध्यान करते समय कवि के कर्ण-कुहरों में 'मानवता की जंजीर' की झंकार प्रविष्ट हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन विभूतियों और समाधियों से राजभवनों और खंडहरों से, वीरों और महात्माओं से कवि ने अपनी वर्त्तमान अधोगति की ही गाथा निवेदित की है। वर्त्तमान की तमिस्रापूर्ण रजनी में अतीत के टिमटिमाते नक्षत्र उसकी कालिका को प्रगाढ़ कर देते हैं। वह कवि जिसके जीवन का प्रत्येक क्षण राष्ट्र-चिंतन में व्यतीत होता है, जिसका प्रत्येक श्वास देश की कथा को हलका करने में तल्लीन है, जाग्रतावस्था में जो

अत्याचार देखकर उद्वेलित होता है, सपने में भारत-माता के अश्रुजल से भीगता है, उसे गगन में चन्द्रकिरणें क्यों सूझें ! नूपुर की झंकार क्यों प्रिय लगे ! धरती के बेचारे प्रेमी कवि ने कविता के कुन्द-चन्द्र में चांदनी का अंगराग नहीं, फूलों का पराग नहीं, दलित कृषकों का क्रन्दन चर्चित किया है। तभी तो गगन में भी धरती का दाह उसे छू जाता है और आषाढ़स्य प्रथम दिवसे वह नालंदा-बीच सारी रात रोता रहता है। हाँ, कभी-कभी जगत के दुःख से घबड़ा कर वह दूसरे लोक में उड़ जाने के लिये छटपटाता है :—

"मैं न रुकूँगा इस भूतल पर, जीवन-यौवन-प्रेम गँवाकर
वायु उड़ाकर ले चल मुझको जहाँ कहीं इस जग से बाहर
मरते कोमल वत्स यहाँ बचती न जवानी परदेसी !
माया के मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परदेसी !
—रे०, परदेसी

दूसरे प्रकार की प्रतिक्रिया का दर्शन इनकी कविता में यत्रतत्र मिलता है। यह प्रतिक्रिया पराधीनता मूलक भाग्यवाद का विकृत रूप नहीं है। भारतेन्दु की प्रारंभिक कविताओं में भाग्य और ईश्वर की काफी चर्चा है, लेकिन वह स्वस्थ चित्र में उपस्थित है। 'अब तजहु वीरवर भारत की सब आशा, सब भांति दैव प्रतिकूल होइ यह नाशा।' में भारतेन्दु की मानसिक व्यथा प्रकट हुई है। उनकी कविता में भक्तिकाल का विश्वास, रीति-काल का विलास और आधुनिक काल का विकास निहित है। भारतेन्दु के भगवान सगुण, सरूप और साकार हैं। भारतेन्दु और मैथिलीशरण के भगवान वेद-पुराणों के सनातन भगवान हैं, दिनकर के भगवान दुखी जनता की निःसहाय आह से अवतरित हुए हैं। दिनकर के भगवान, निर्गुण सगुण से परे, हमारे संस्कार की एक आवश्यक मांग के रूप से प्रकट हुए हैं। दुख विपद में भगवान का नाम अनायास निकल पड़ता है :—

"हम दे चुके लहू हैं, तू देवता विभा दे,
अपने अनल-विशिख से आकाश जगमगा दे।
प्यारे स्वदेश के हित वरदान मांगता हूँ।
तेरी दया विपद में भगवान मांगता हूँ।
[राग०, आग की भीख]

'शस्त्र-भार से निकल खोजती रह रह धरा अधीर तुम्हें !
प्रभो, पुकार रही व्याकुल मानवता की जंजीर तुम्हें !
रे०

'पराजितों की पूजा' करते समय कवि को अपने देश के होनहार लाल पर तरस आती है :—

> "क्या होगा भगवान, हाल मिट्टी में पड़ी जवानी का !
> इस किशोर खिलती ज्वाला का, इस चढ़ते से पानी का।
>
> —हुं०

इस युग में पूँजीपतियों ने भगवान को अपने सोने-चाँदी के मन्दिर में बन्द कर रखा है। रामजी भी शबरी के जूठे बेर भूलकर मेवा-मोहनभोग खाने लगे हैं, आँसुओं को बिसार कर गुलाब-जल में नहाने लगे हैं। कवि राम जी को उपालंभ देते हुए पूछते हैं :—

> "शबरी के जूठे बेरों से आज राम को प्रेम नहीं।
> मेवा छोड़ शाक खाने का आज पुरातन प्रेम नहीं।
> पर गुलाब-जल में गरीब के अश्रु राम क्या पावेंगे ?
> बिना नहाए इस जल में क्या नारायण कहलायेंगे ?
>
> —रे०

'हाहाकार' में भगवान और देवता पर कवि का अमर्ष किस सुन्दरता के साथ व्यंजित हुआ है :—

> "दूध दूध ! ओ वत्स मंदिरों में बहरे पाषाण यहाँ हैं।
> दूध दूध ? तारे बोलो इन बच्चों के भगवान कहाँ हैं।
>
> —हुं०

यही भगवान जो कभी कवि का क्रोध-भाजन है, दुख में विश्वास भाजन बन जाता है :—

> "हम मिटते जा रहे न ज्यों अपना कोई भगवान—
>
> —हुं,० 'दिल्ली'

धरती पर स्वर्ग की झलक देखने की आकांक्षा से कवि ने 'कुरुक्षेत्र' के छठे सर्ग के प्रारम्भ मे यह करुणार्द्र पुकार की है :—

> "धर्म का दीपक, दया का दीप,
> कब जलेगा, कब जलेगा, विश्व में भगवान ?"

कहने का आशय यह है कि दिनकर की कविता में जो भाग्य और भगवान की चर्चा हुई है वह स्वस्थ मनःस्थिति का स्वाभाविक परिणाम है।

तीसरी प्रकार की प्रतिक्रिया तो 'हुंकार' का लक्ष्य ही है। इसमें वर्त्तमान भारत के दुखदैन्य, आशा-निराशा का स्पष्ट चित्र अंकित हुआ है। १९२१ से

आज तक के भारत के हृत्-कंपन को हम इनके काव्य में साफ सुन सकते हैं।

हमारे देश की जर्जर अवस्था का प्रधान कारण मशीन-युग की भौतिक सभ्यता है। कृषि-प्रधान देश होने के कारण भारत की सभ्यता प्रकृति के अधिक निकट रही योरोप में व्यावसायिक क्रांति होने के कारण नगर और ग्राम की खाई दिनानुदिन बढ़ती गई। भारतीय सभ्यता में धर्म का सर्वोच्च स्थान है, पाश्चात्य सभ्यता में अर्थ का। एक का उद्देश्य विश्व का भरण-पोषण है, दूसरे का विश्व का शासन-शोषण एक ने अहिंसावाद का वरदान दिया, दूसरे ने पूँजीवाद का अभिशाप योरोप की महाजनी सभ्यता ने भारत को चूसने के लिए वर्षों गुलाम बनाए रखा। आधुनिक पूँजीवादी सभ्यता हिंसावाद और युद्धों पर अवलंबित है:—

वज्र लौह का दन्त कठोर नाचती हिंसा जिह्वा लोल।
भृकुटि का कुंडल वक्र मरोड़-फुँहकता अंध रोष फन खोल।"—पंत

दिनकर ने 'रेणुका' के 'कस्मैदेवाय' में इस घृणित सभ्यता की तीखी आलोचना की है:—

"गूँज रहीं संस्कृति-मंडप में भीषण फणियों की फुफकारें,
गढ़ते ही भाई जाते हैं, भाई के वध हित तलवारें।"—रे
"शोणित से रंग रही शुभ पट संस्कृति निठुर लिए करवालें।
जला रही निज सिंह-पौर पर दलित दीन की अस्थि-मशालें।"—हु०

कवि ने विश्व-संघर्ष के मूल कारण को भली भाँति समझा है। वाणिज्य (पूँजीवाद) का शुभ्र वसन दोनों के रक्त से लाल हो उठा है। सभ्यता-सुन्दरी सिर धुन धुन कर रो रही है कि ये दनुज उसे किस शोणित-सागर में घसीटे जा रहे हैं। मात्स्य न्याय के अनुसार सबल निर्बलों को निगलता जा रहा है:

"दिक् दिक् में शस्त्रों की झनझन, धन-पिशाच का भैरव नर्त्तन।
दिशा-दिशा में कलुष नीति, हत्या, तृष्णा पातक आवर्त्तन।
दलित हुए निर्बल सबलों से, मिटे राष्ट्र, उजड़े दरिद्र जन।
आह! सभ्यता आज कर रही, असहायों का शोणित शोषण।"

हिटलर ने अपने को आर्य कहकर यहूदियों का खून बहाया—

"राइन तट पर खिली सभ्यता हिटलर खड़ा कौन बोले!
सस्ता खून यहूदी का है नाजी निज स्वस्तिक धोले।"हु०

सारे अनर्थों की जड़ पूँजीवाद है। कवि ने इसकी बुराइयों को भली-भाँति पहचाना है और मार्मिक वर्णन किया है।

"धन पिशाच के कृषक मेध में नाच रही पशुता मतवाली।
आगंतुक पीते जाते हैं, दीनों के शोणित की प्याली।"—रे०

पहले राजा अपने शत्रुओं को जीतकर अश्वमेध करते थे, आज पूँजीपति कृषक-मेध करते हैं। कृषकों की दशा पर कोई आँसू बहाने वाला भी नहीं। आज कृषकों की बलि-वेदी पर पूँजीपतियों का बर्बर पाशविक अट्टहास हो रहा है। नगरों में एक-से-एक सुन्दर महल बनते जा रहे हैं और उन्हीं बगल में कुटी हुई झोपड़ियाँ उजड़ती जा रही हैं, महलों में बिजली की चकाचौंध है, हँसी की फुलझड़ियाँ हैं और झोपड़ी में :—

"विद्युत् की इस चकाचौंन्ध में, देख, दीप की लौ रोती है।
अरी, हृदय को थाम, महल के लिए झोपड़ी बलि होती है।
देख, कलेजा फाड़ कृषक दे रहे हृदय-शोणित की धारें।
बनती ही उनपर जाती हैं वैभव की ऊँची दीवारें।"—रे०

धनी और रईस महलों में भोग-विलास करते, गरीब उनकी विलासिता के लिए अपना खून दे रहे हैं। कहीं हजारों जानें भूख में छटपटाती मर जाती हैं और कहीं विलासी लोग 'प्रिया मुखोच्छ्वास कम्पित मधु' का पान कर रहे हैं! महाराजा के कुत्ते दूध से नहाते और मजदूरों के बच्चे दाने के लिए तरसते हैं। कोई बच्चा ऊनी वस्त्रों की गर्मी से व्याकुल है, कोई 'माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर' जाड़े की रात बिताता है। एक ओर जमींदार और मिल-मालिक तेल-फुलेल पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं, दूसरी ओर गरीब अपनी बहू-बेटी के जेवर बेंचकर सूद के रुपये चुकाते हैं। समाज की यह घोर वैषम्य देखकर कवि की विपथगा का यौवन कसमसाने लगता है:-

"धन के विलास का बोझ दुखी दुर्बल दरिद्र जब ढोता है,
दुनिया को भूखों मार भूप जब सुखी महल में सोता है,
सहती सब कुछ मन मार प्रजा, कसमस करता मेरा यौवन।
झन-झन-झन-झन-झन-झनन-झनन।
श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
मां की हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़े की रात बिताते हैं,
युवती के लज्जा-वसन बेच जब ब्याज चुकाए जाते हैं,
मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं,
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमंत्रण।
झन झन०"—हुं०, विपथगा।

'वन-फूलों की ओर' में ऋणग्रस्त किसानों के सिसकते हुए घर का एक दर्दनाक चित्र देखिए :—

"ऋण-शोधन के लिए दूध-घी बेच-बेच धन जोड़ेंगे,
बूँद-बूँद बेचेंगे, अपने लिए नहीं कुछ छोड़ेंगे,

शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलायेगी,
मैं फाड़ूँगी हृदय, लाज से आंख नहीं गो पायेगी,
इतने पर भी धनपतियों की उनपर होगी मार,
तब मैं बरसूँगी बन बेबस के आँसू सुकुमार,
फूटेगा भू का हृदय कठोर, चलो कवि वन-फूलों की ओर।

गरीब किसान कितने मोह से गाय को पोसते हैं! अपने बच्चे के समान उसे दुलारते हैं, पुचकारते हैं। जब वह बच्चा देने को होती है तो घर भर की आँखें उसकी ओर लगी रहती हैं। उसकी सींगों में तेल, माँग में सिन्दूर, और गले में काले डोरे में गुँथी कौड़ी पिन्हाई जाती है। बछड़ा जनने के बाद जब किसान के बच्चे उसे घेरे रहते हैं तब कोई महाजन वहाँ आता है, और सभी की आँखों से छीनकर वह गाय को अपने यहाँ हाँकता है। बेचारी गाय अपने घर की ओर देखकर बार बार डकारती है। जो किसान अपनी धेनु-गऊ नहीं बेचते वे उसका दूध-घी बेचकर अपने हाकिम महाजन से उबार होना चाहते हैं। रोज का दूध बनाकर उससे बूँद-बूँद घी जमा करना, अपने खाने के लिए छटाँक भर भी न छोड़ना, दूध बेचते समय उसे पीने के लिए बच्चों का मचलना,—यहाँ तक तो आँखें किसी तरह बर्दाश्त कर सकती हैं, लेकिन मचलते हुए शिशु को माँ का झूठमूठ बहलाना कितना मार्मिक है? इस हद तक भी किसान सह सकते लेकिन जब उन पर धनपतियों की मार पड़ने लगती है, तब कविता फूट-फूट कर रोने लगती है। सुना था, सीता का दुख देखकर धरती माता फट गई थी, क्या इन बेकस बच्चों की आह सुनकर वह मूक रहेगी! भगवान क्या गरीबों पर कभी नजर नहीं उठायेंगे? नहीं, कभी नहीं। कवि को भगवान की दया पर भी अब शक होने लगा है—

"नीचे बिछी पृथ्वी, तना ऊपर वितत भगवान का
पर इस भरे जग में गरीबों का हितू कोई नहीं।
चढ़ती किसी की बूट पर पालिस किसी के खून की
जीवित मरालों की चिता है सभ्यता की गोद में।"

—हुँ०, साधना और द्विधा।

शोषक और शोषितों की दशा का वर्णन यदि एक पंक्ति में ही करने के लिए कहा जाय तो उपर्युक्त पद की तीसरी पंक्ति पर्याप्त होगी। पूँजीपतियों और महाजनों के अत्याचार के ऐसे लोमहर्षक हिन्दी साहित्य में विरल हैं।

किसान की दीनता का वर्णन कई कवियों ने किया है। अधिकांश वर्णनों में मुझे शब्दाडंबर, कहीं तुकबन्दी, कहीं फीकापन और कहीं बरजोरीपन मिला।

पहले राजा अपने शत्रुओं को जीतकर अश्वमेध करते थे, अ
मेध करते हैं। कृषकों की दशा पर कोई आँसू बहाने वाला भी
की बलि-वेदी पर पूँजीपतियों का बर्बर पाशविक अट्टहास
एक-से-एक सुन्दर महल बनते जा रहे हैं और उन्हीं बगल में
उजड़ती जा रही है, महलों में बिजली की चकाचौंध है,
और झोपड़ी में :—

"विद्युत् की इस चकाचौंन्ध में, देख, दीप की
अरी, हृदय को थाम, महल के लिए झोपड़ी
देख, कलेजा फाड़ कृषक दे रहे हृदय-शोणित
बनती ही उनपर जाती हैं वैभव की ऊँची दी

धनी और रईस महलों में भोग-विलास करते, गरीब
लिए अपना खून दे रहे हैं। कहीं हजारों जाने भूख में छट
और कहीं विलासी लोग 'प्रिया मुखोच्छ्वास कम्पित मधु' का
महाराजा के कुत्ते दूध से नहाते और मजदूरों के बच्चे दाने
कोई बच्चा ऊनी वस्त्रों की गर्मी से व्याकुल है, कोई 'माँ की ह
जाड़े की रात बिताता है। एक ओर जमींदार और मिल-मालिक
सा द्रव्य बहाते हैं, दूसरी ओर गरीब अपनी बहू-बेटी के जेव
रुपये चुकाते हैं। समाज की यह घोर वैषम्य देखकर कवि की
कसमसाने लगता है:—

"धन के विलास का बोझ दुखी दुर्बल दरिद्र जब
दुनिया को भूखों मार भूप जब सुखी महल में
सहती सब कुछ मन मार प्रजा, कसमस करता मे
झन-झन-झन-झन-झन-झ

श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकु
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़े की रात बि
युवती के लज्जा-वसन बेच जब ब्याज चुकाए
मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य ब
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब अ
झन झन०"—हुं०, वि

'वन-फूलों की ओर' में ऋणग्रस्त किसानों के सिसकते हुए घर
चित्र देखिए :—

"ऋण-शोधन के लिए दूध-घी बेच-बेच धन जो
बूँद-बूँद बेचेंगे, अपने लिए नहीं कुछ छोड़े

शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलायेगी,
मैं फाड़ूँगा हृदय, लाज से आंख नहीं रो पायेगी,
इतने पर भी धनपतियों की उनपर होगी मार,
तब मैं बरसूँगा बन बेबस के आँसू सुकुमार,
फूटेगा भू का हृदय कठोर, चलो कवि वन-फूलों की ओर।

गरीब किसान कितने मोह से गाय को पोसते हैं! अपने बच्चे के समान उसे दुलारते हैं, पुचकारते हैं। जब वह बच्चा देने को होती है तो घर भर की आँखें उधरी ओर लगी रहती हैं। उसकी सींगों में तेल, माँग में सिन्दूर, और गले में काले डोरे में घुँघरू कौड़ी पिन्हाई जाती है। बछड़ा जनने के बाद जब किसान के बच्चे उसे घेरे रहते हैं तब कोई महाजन वहाँ आता है, और सभी की आँखों से छीनकर वह गाय को अपने यहाँ हांकता है। बेचारी गाय अपने घर की ओर देखकर बार बार डकारती है। जो किसान अपनी धेनु-गऊ नहीं बेचते वे उसका दूध-घी बेचकर अपने हाकिम महाजन से उद्धार होना चाहते हैं। रोज का दूध बचाकर उससे बूँद-बूँद घी जमा करना, अपने खाने के लिए छटाँक भर भी न छोड़ना, दूध बेचते समय उसे पीने के लिए बच्चों का मचलना,—यहाँ तक तो आँखें किसी तरह बर्दाश्त कर सकती हैं, लेकिन मचलते हुए शिशु को माँ का झूठमूठ बहलाना कितना मार्मिक है? इस हद तक भी किसान सह सकते लेकिन जब उन पर धनपतियों की मार पड़ने लगती है, तब कविता फूट-फूट कर रोने लगती है। सुना था, सीता का दुख देखकर धरती माता फट गई थी, क्या इन बेकस बच्चों की आह सुनकर वह मूक रहेगी! भगवान क्या गरीबों पर कभी नजर नहीं उठायेंगे? नहीं, कभी नहीं। कवि को भगवान की दया पर भी अब शक होने लगा है—

"नीचे बिछी पृथ्वी, तना ऊपर वियत भगवान का
पर इस भरे जग में गरीबों का हितू कोई नहीं।
चढ़ती किसी की बूट पर पालिस किसी के खून की
जीवित मरालों की चिता है सभ्यता की गोद में।"

—हुँ०, साधना और द्विधा।

शोषक और शोषितों की दशा का वर्णन यदि एक पंक्ति में ही करने के लिए कहा जाय तो उपर्युक्त पद की तीसरी पंक्ति पर्याप्त होगी। पूँजीपतियों और महाजनों के अत्याचार के ऐसे लोमहर्षक हिन्दी साहित्य में विरल हैं।

किसान की दीनता का वर्णन कई कवियों ने किया है। अधिकांश वर्णनों में मुझे शब्दाडम्बर, कहीं तुकबन्दी, कहीं फीकापन और कहीं बरजोरीपन मिला।

उपन्यास में प्रेमचन्द और कविता में दिनकर ने जिस सहृदयता के साथ कृषक-जीवन के दैन्य का अंकन किया है उसकी जोड़ अन्यत्र नहीं मिल सकती—

"जेठ हो कि हो पूस हमारे कृषकों को आराम नहीं है
छुटे बैल का संग कभी, जीवन में ऐसा याम नहीं है।
मुख में जीभ, शक्ति भुज में, जीवन में सुख का नाम नहीं है
वसन कहाँ? सूखी रोटी भी मिलती दोनों शाम नहीं है" हुं०

मुख में जीभ रहते भी ये बोल नहीं सकते, विद्रोह नहीं कर सकते, भुजाओं में शक्ति रहते ये तलवार नहीं उठा सकते। जहाँ सूखी रोटी की भी समस्या हल नहीं हुई, वहाँ उनके कपड़ों के लिए सोचना व्यर्थ है। सुना था, हाल ही में भारत के एक बड़े लाट साहब कभी-कभी स्कूलों में जाकर बच्चों को दूध पिलाया करते थे और गाँवों में पशुओं की नस्ल सुधारने के लिए साँड़ छोड़ते फिरते थे। ऐसे भले आदमी को यह जानना चाहिए था कि भूखे पेट में दूध नहीं पचता और बैलों की अपेक्षा बैल-बन्धुओं दशा अधिक खराब है—

"बैलों के ये बंधु वर्ष भर क्या जाने कैसे जीते हैं?
जबाँ बन्द, बहती न आँख, गम खा शायद आँसू पीते हैं।"

वर्ष भर ये फटे हाल किसान कैसे जीते हैं। कवि के पास कोई उत्तर नहीं। गम खाना और आँसू पीना ये मुहावरे किसानों के लिए अभिधा मूलक हो गए। मैंने एक अहीर से पूछा कि तुम घर भर कैसे जीते हो? उसने जवाब दिया कि मेरी गऊ दो सेर दूध देती है, उसे किसी उपाय से चार सेर बनाता हूँ और 'टीसन' से कुछ दूध तीन सेर की दर से ले आता हूँ। सबों को मिलाकर डेढ़ सेर के भाव से बेचने पर किसी तरह परमात्मा निभा देते हैं। ये सयाने किसान तो किसी तरह जी लेते हैं, लेकिन उन मासूम बच्चों का क्या:—

"पर शिशु का क्या हाल, सीख पाया न अभी जो आँसू पीना
चूस चूस सूखा स्तन माँ का सो जाता, रो विलप नगीना।
विवश देखती मां, अंचल से नन्हीं जान तड़प उड़ जाती
अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र की छाती"—हुं०

भूखे दूधमुँहे बच्चे मां की छाती में दूध नहीं पाते। इन नन्हीं जानों को तड़फते हुए देख कवि का हृदय दुख और क्षोभ से उद्वेलित हो जाता है। इस उद्वेलन के फल-स्वरूप ये पंक्तियां फूट पड़ती हैं:—

"कब्र कब्र में अबुध बालकों की भूखी हड्डी रोती है।

'दूध दूध' ओ वत्स ! मंदिरों में बहरे पाषाण यहाँ हैं ।
'दूध दूध' तारे, बोलो ! इन बच्चों के भगवान कहाँ हैं ।
'दूध दूध' दुनिया सोती है, लाऊँ दूध कहाँ किस घर से
'दूध दूध' हे देव गगन के ! कुछ बूँदें टपका अंबर से ।
'दूध दूध' गंगा तू ही अपने पानी को दूध बना दे ।
'दूध दूध' उफ ! है कोई भूखे मुर्दों को जरा मना दे !
'दूध दूध' फिर 'दूध' अरे क्या याद दूध की खो न सकोगे !
'दूध दूध' मर कर भी क्या तुम बिना के सो न सकोगे !"—हुँ०

उपर्युक्त पंक्तियों में 'दूध-दूध' की बार-बार की आवृत्ति ने सम्पूर्ण वातावरण को दूध की प्रतिध्वनि से गुन्जायमान कर दिया है। पाठक या श्रोता के मानस में एक ही कल्पना, एक ही झंकार सुनाई पड़ती है। पाठकों को अपने सुख दुख के चक्कर से ऊपर उठा कर शिशु-समाज के वेदना-लोक में पहुँचा देने वाली कविता साहित्य में एकाध ही मिलती है। टिमटिमाते तारे से कुछ बूँद माँगने की बेचैनी, नक्षत्रों पर रोष, सृजन करने वाले भगवान पर आक्रोश, बहरे पाषाण कह कर देवताओं पर खीझ और अंत में सभी को गति देनेवाली, सभी को गोद में शरण देने वाली गंगा माता से कवि की हृदय-द्रावक पुकार—ये सारी चीजें कितनी मर्म-वेधिनी हैं। फिर कवि की दृष्टि झोपड़ी की बगल में अट्टहास करती हुई अट्टालिकाओं पर जाती है:—

"ये भी यहीं, दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते हैं '
ये बच्चे भी यहीं, कब्र में दूध दूध ! जो चिल्लाते हैं।

हमारे सारे क्रोध का शिकार यह आधुनिक पूँजीवाद है। कवि हमारे भावावेश को धीरे-धीरे उत्तेजित, उत्तेलित और विस्फूर्जित करता हुआ उसे अनुभूति के हिमाचल पर पहुँचा कर वहाँ से फिर पूँजीवादी दुर्ग पर छोड़ देते हैं। कवि या समाज को उन बच्चों के लिये दूध लाना ही होगा। हमें उस स्वर्ग को लूटना है जहाँ ये दूध के घड़े छिपाये गये हैं। कवि के मन में वीर भाव जाग्रत होता है, विजयोल्लास से भुजाएँ फड़कती हैं, वाणी से 'जय - जय की ध्वनि निःसृत होने लगती है। हिमालय, हिन्द महासागर की जय बोलकर वह अभिमान करता है :—

"जय मानव की धरा साध्विणी, जय विशाल अंबर की जय हो।
जय गिरिराज जय जय, हिन्दमहासागर की जय हो।
हटो व्योम के मेघ - पंथ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं।
'दूध, दूध...ओ वत्स ! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।

'गोदान' में किसानों की दरिद्रता का एक चित्र याद आ रहा है। होरी के पास एक कंबल था जिसे उसके दादा और पिता ने भी ओढ़ा था। उसी फटे पुराने कम्बल में होरी माघ की रात काट रहा है। उसकी बच्ची सोना की साड़ी फटकर तार-तार हो गई है। रूपा के माथे पर जो साड़ी है, उसके अन्दर से सिर के बाल बाहर झूल रहे हैं। पूँजीवादी युग में कितने कल-कारखाने हैं, फिर भी तन ढकने के लिये गरीबों को वस्त्र नहीं। घोर दैन्य का दिनकर ने एक स्थल पर बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा है। दीनता का एक झिलमिल आलोक। आलोक में मूक उदासीनता की झाँकी; और लो! वह झाँकी अँधेरे के झुटपुटे में विलीन हो गई। अधनंगे गरीब टिमटिम दीये की रोशनी में सिकुड़े बैठे हैं। उनका कोई पाहुन आता है, लाज में सिमटे हुए वे गड़े जा रहे हैं। एकाएक हवा का एक झोंका आता है। दीपक बुझ जाता है। अँधेरा उन्हें अपनी चादर में ढँक लेता है। भूखा रहकर भी लक्ष्मी के स्वागत के लिये दीप जलाना, दुखी पत्नी के निकट बैठना, पाहुन के निकट अपनी मर्यादा की याद में गड़ जाना—ये सारे भाव केवल दो पंक्तियों में व्यक्त हुए हैं—

"अर्द्धनग्न दंपति के घर में मैं झोंका बन आऊँगी।
लज्जित हों न अतिथि-सम्मुख वे, दीपक तुरत बुझाऊँगी।

—हुँ०

कवि ने किसानों की गरीबी ऊपर-ऊपर नहीं देखी। वह उनकी मुसीबतों के साथ आँसू बहाते और संघर्ष के समय साथ देते हैं। कवि उनके घर-घर चल कर देख आए हैं कि

"हर शाम एक वेदना नई, हर सुबह सवाल नया देखा।
दो घड़ी नहीं आराम कहीं मैंने जा-जा घर घर देखा!

इस प्रसंग को समाप्त करने के पूर्व राष्ट्रीय कविता पर किये गये कुछ आक्षेपों का सम्यक् विवेचन करना समीचीन प्रतीत होता है।

आक्षेप :—

क—राष्ट्रीय कविता युद्ध, दुर्भिक्ष और पराधीनता में ही फूलती है। देश स्वतंत्रता और सुख सम्पन्नता के उपलब्ध होते ही राष्ट्रीय कविता का तिरोभाव होने लगता है। क्रांतिकालीन राष्ट्रीय कविता शांति काल में बेवक्त की शहनाई मालूम पड़ती है।

ख—राष्ट्रीय कविता में जीवन की ऊपरी सतह का, बाह्य द्वन्द्व का प्राधान्य रहता है। इसलिये जीवन का अन्तःसौन्दर्य पूरा-पूरा नहीं उतर पाता। फलतः यह कविता वस्तु-निष्ठ हो जाती है और कवि का अन्तर्गान अस्फुट रह जाता है।

ग—इसमें मानव-जगत को आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है, इसलिये मानवेतर प्रकृति सागर, पर्वत, निर्झर, निशीथ, प्रभात आदि के मनोरम चित्रण नहीं हो पाते।

घ—राष्ट्रीय कवि प्रायः सोद्देश्य होकर रचना करता है; इसलिये उपदेश और प्रचार के मुखर होने से कविता कलाहीन हो जाती है। सैनिकों, छात्रों और साधारण जनता के लिये वह भले ही क्षणिक स्फूर्ति-दायक हो, काव्य-रसिकों के आस्वाद की वस्तु वह नहीं रह पाती।

ङ—राष्ट्रीय कविता ससीम है, एकदेशीय है और वह किसी भूभाग के सुख-दुःख से तरंगित होती रहती है; इसलिये उसमें असीमता और चिरंतनता का भाव आ नहीं सकता। वह आवेश में आकर अन्य राष्ट्रों और जातियों के प्रति घृणा का प्रचार करती है—इस प्रकार वह विश्व-शांति की नाशिका और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष की पोषिका होती है।

उपर्युक्त आक्षेप-पंचक की सत्यता की परीक्षा की जाती है :

क—राष्ट्रीय कविता का जन्म और देशों में चाहे जिस परिस्थिति में हुआ हो, भारतवर्ष में तो वह पराधीनावस्था में ही पनपी है। कुछ लोगों की सम्मति में हिन्दी के सर्व प्रथम राष्ट्रीय कवि भारतेन्दु हैं। ब्रिटिश शासन के शोषण-जनित कष्टों ने इन्हें काव्य-सृजन की प्रेरणा प्रदान की। इसके पहले भी इसी प्रकार हिन्दू जाति की चोटी-बेटी कटते-छिनते देखकर भूषण में राष्ट्रीयता का भाव जाग्रत हुआ था। दुःख और वेदना में जन्म होने कारण कोई कविता दूषित नहीं हो सकती, क्योंकि वह विपत्ति की काली घटा को फैलाती हुई नहीं बल्कि फाड़ती हुई प्रकट होती है। अंधेरी रात में वह ध्रुव तारा की तरह हमारा पथ-प्रदर्शन करती है। अतः राष्ट्रीय कविता जीवन के व्यथा-सरोवर में जलजात की तरह खिलकर हमारी आशा और आनन्द की साकार मूर्त्ति बन जाती है। वह आवश्यक नहीं कि देश के बुरे दिनों में ही राष्ट्रीय कविता सदा उद्भूत होती है। पिछले महायुद्ध में ब्रिटेन को काफी कष्ट झेलना पड़ा, कई देशों से लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। प्रत्येक घड़ी उसके जीवन-मरण का प्रश्न लेकर उपस्थित होती थीं, फिर भी वहां के कवियों द्वारा राष्ट्रीय कविताओं का सृजन नहीं हो सका। इसका कारण यही है कि चर्चिल की कुटिल नीति से कवियों के सरल हृदय का मेल नहीं खा सका। वह युद्ध मानव-कल्याण की कामना से नहीं लड़ा जा रहा था। इसलिए भारतवर्ष के कवियों की तरह उस देश के कवियों ने भी इस युद्ध के प्रति उदासीनता प्रकट की। जब राष्ट्र की वेदना कवि-हृदय में साकार हो जाती है, तभी राष्ट्रीय कविता उमड़ कर आहों से चुपचाप निकल

पड़ती है। राष्ट्रीय कविता दुर्दिन की अपेक्षा शुभ घड़ी में भी लिखी जाती है। देश के विजयोल्लास को चित्रित करनेवाली कविता राष्ट्रीय ही कही जाएगी। मिस्र देश पर भारतीय सेना की विजय का समाचार सुनकर भारतेन्दु की लेखनी सस्वर हो उठी। भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के अवसर पर एक से एक सुन्दर राष्ट्रीय कविताएँ रची गईं।

संघर्ष-युग में लिखी गई राष्ट्रीय कविता शांतिकाल में उतनी लोकप्रिय नहीं रहपाती—यह निर्विवाद सत्य है। युद्ध-कालीन जनता का मन उस समय की क्रियाशीलता से विशेष अनुप्राणित रहता है। वह वातावरण मनुष्य के मानसिक स्तर को प्रभावित करता रहता है। उसके मानसिक भावों की वह भूमि युद्ध-जनित परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से प्रभावित होती रहती है। भय, आशंका, क्रोध, प्रतिकार, घृणा, उल्लास, ओजस्विता, आक्रमणशीलता आदि भावनाएँ उसके उपचेतन और चेतन मानस में प्रायः घूमती रहती हैं। मानस की अनुकूल भाव-भूमि में उपयुक्त भाव आसानी से घर कर जाते हैं और तदनुकूल प्रभाव उत्पन्न करते हैं। अंग्रेजी राज्य में 'नई दिल्ली' के प्रति जो भाव हमारे हृदय में वर्त्तमान थे, वे अब परिवर्त्तित हो गए। दिल्ली अब अनाचार, अपमान, व्यंग्य की चुभती हुई कहानी शायद नहीं रह गई। परदेसी के संग बालडांस नाचनेवाली बेपानी दिल्ली हमारी नजर में पहले घृणास्पद थी, अब वह श्रद्धा और वीरत्व की पात्र हो गई है। ब्रिटिश सरकार की अत्याचार सम्बन्धी-कविता हममें पहले जैसा प्रतिकार भाव उत्पन्न नही कर सकती जिस कविता में में दुश्मन के विनाश और पराजय का वर्णन रहता है। उसे सुनकर श्रोता प्रसन्न होकर तालियां पीटते हैं, क्योंकि श्रोता [जनता] कविता-श्रवण द्वारा अपने शत्रुओं से काल्पनिक बदला लेते रहते हैं और मन की आंखों द्वारा उसके अत्याचारों का अन्त देखते हैं। हानि पहुँचाने वाले के प्रति प्रतिकार-वासना का दर्शन शिशुओं में भी किया जा सकता है। चोट लगाने वाली कुर्सी या किवाड़ को मां के द्वारा पिटते देखकर बच्चे को मानसिक परितुष्टि होती है, प्रतिकार वासना को पूर्त्त होते देख उसके आंसू हँसी से बदल जाते हैं। आसन्न विपत्ति के टल जाने पर जन-समुदाय का मानस-लोक प्रसन्न हो जाता है, और फिर उन राष्ट्रीय कविताओं का पूर्ववत् आस्वादन नहीं कर पाता। देश की परिवर्तन परिस्थिति के अनुकूल जनता भी राष्ट्रीय काव्य में अपनी भावनाओं का दर्शन करता चाहती है। राष्ट्रीय कवि बदलते हुए जमाने का अध्ययन करता है। दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' निश्चय ही परिवर्त्तन-युग के मनोनुकूल काव्य-रचना है। एक बात और है। अपने बीते हुए दुख की कहानी हर आदमी हमेशा पसंद करता है। जिस राष्ट्रीय कविता में देश के सुख-दुख का सच्चा वर्णन है, वह बेवक्त की

शहनाई शायद नहीं होती।

ख—राष्ट्रीय कवि अपने व्यक्तिगत सुख-दुख को काव्य में महत्व नहीं देता देश के हर्ष-विषाद के साथ उसके प्राण पुलकित और व्यथित होते रहते हैं। वह प्रतिदिन घटित होने वाली घटनाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करता है। उसके दिल का पारा देश के उत्थान पतन के साथ उठता-गिरता रहता है। क्रांति में उसकी लेखनी आग उगलती है, सुव्यवस्था में चाँदनी बरसाती है। राष्ट्र की आत्मा को सहेजकर रखना उसी का काम है। राष्ट्रीय कविता का देश के यथार्थ जीवन से अधिक सम्बन्ध होने के कारण यथार्थ की मार्मिक अनुभूति और कुशल अभिव्यंजना सर्वथा अपेक्षित है। कल्पना के पंख लगाकर सुनील गगन में उड़ने का इसे सुअवसर कहां! कल्पना की वायवीय सूक्ष्मता और इन्द्रधनुषी रंगीनी के अभाव में यह कविता यदि रूखी मालूम हो तो कोई आश्चर्य नहीं। यथार्थ जीवन, यथार्थ अनुभूति और यथार्थ अभिव्यक्ति यह राष्ट्रीय कविता का मूलमन्त्र है। मानव जगत के दैन्य और विषाद, ऐश्वर्य और माधुर्य कवि को बरबस अपनी ओर आकृष्ट किये रहते हैं। राष्ट्र की व्यथा और करुणा से कवि को इतना प्रेम हो जाता है कि वह स्वर्गीय संगीत से भी पराङ्मुख हो जाता है। आवश्यकता हुई तो राष्ट्रीय कवि वीन के तार को तोड मरोड़ कर रजत शङ्ख से भैरव हुँकार फूँकता है। वर्तमान की वेदना जिसके सामने गरज रही हो, वह अपनी आत्म गाथा क्या सुनाये? कोमल-कलेवरा प्रकृति भी उसे फीकी प्रतीत होती है:—

> **"कहां मनुज को अवसर; देखे मधुर प्रकृति मुख।**
> **भव अभाव से जर्जर प्रकृति उसे देगी सुख?**
>
> —पंत

राष्ट्रीय कवि जग के दुख दैन्य शायन पर पड़ी हुई रुग्णा जीवन-बाला की वेदना का अंकन करता है।

राष्ट्रीय कविता में जहाँ राजनीतिक वाद का समर्थन, किसी अभियान का वर्णनात्मक चित्रण या किसी महान व्यक्ति का यशोगान मात्र रहता है वहाँ वह वस्तुपरक स्वभावतः हो जायगी; हाँ, किसी सैनिक के प्रस्थान करते समय का अन्तर्द्वन्द्व, फाँसी पर झूलते समय के अन्तिम उदगार, देश कल्याण की चिंता पुत्र की जेल यात्रा या कष्ट सहन पर माता का वात्सल्य भाव आदि अनेक स्थल अन्तःसौन्दर्य के चित्रण का उपयुक्त अवसर प्रदान करते हैं। राष्ट्रीय कविता में मार्मिक स्थलों की कमी नहीं है, कमी है उन्हे परखने वाली प्रतिभा की। लंका विजय के उपरान्त, वनवास से लौटे हुए राम-लक्ष्मण के अंगों पर, युद्ध के सूखे हुए व्रण भी माताओं की दृष्टि में अभी के हरे घाव मालूम हुए। माताएँ मन

में कहने लगीं कि भगवान ने व्यर्थ ही उन्हें अभागी कुल में जन्म दिया, वीर प्रसविनी कहलाने का शौक उन्हें कितना महँगा पड़ा:--

"ते पुत्रयो र्नैर्ऋत शस्त्रमार्गानार्द्रानिवाङ्गे सदय स्पृशन्त्यौ ।
अपीप्सितं क्षत्र कुलाङ्गनानां न वीरसू शब्दम कामयेताम् ।
—रघुवंश, १४।४ ।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का जीवन भगवान रामचन्द्र की तरह विविध ऊर्मिल व्यापारों से तरङ्गित है । नोआखाली की सर्दी से सिकुड़ी हुई पगडन्डी के ऊपर मस्ती से विचरण करने वाले वे चरण, खून-खराबियों के बीच में निर्भयता से धँसने वाली वह दिव्यात्मा, दुश्मनों के घर में निवास करने वाला वह दरिया-दिल, भयानक अपराध को भी ढकने वाली वे विशाल भुजाएँ और राष्ट्र को आलोकित कर तिलतिल जलने वाली वह दीप-शिखा किस राष्ट्रीय कविता को चिरन्तनता नहीं प्रदान करेगी ?

ग—यह आक्षेप बहुत अंशों में सही है । मुक्तक में तो नहीं, प्रबन्ध-काव्य में मानवेतर प्रकृति के चित्रण का मौका निकाला जा सकता है ।

घ—काव्य-रचना सोद्देश्य हो या निरुद्देश्य, नैतिक हो या अनैतिक, स्वान्तः सुखाय या जनहिताय,—इस पुराने पचड़े को यहां उपस्थित किए बिना ही कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय कविता के लिए निरुद्देश्यता अव्यनवार्य है । राष्ट्र कवि काव्य को सोद्देश्य और उपयोगी कहने में तनिक भी नहीं हिचकते । [देखिए-मैथिलीशरण की 'हिन्दू' की भूमिका]

गोस्वामी जी की उक्ति से राष्ट्रीय कविता पूर्णतया सहमत है :—'कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सब कहँ होई । हित प्रचार, उपदेश या जनहित की भावना राष्ट्रीय कविता में रहती तो अवश्य है, परन्तु वह व्यंग्य के रूप में ध्वनित होती है, अभिधा के रूप में मुखर नहीं । कहानी या उपन्यास में भी जब लेखक उपदेशक में मच पर खड़ा हो जाता है तो कला के पैरों में वह स्वयं कुल्हाड़ी मारता इस मूर्खता के लिए हास्यास्पद हो जाता है । कलात्मक रचना में उपदेश कविता के पैरों पर लोटता है, सर पर चढ़कर बोलता नहीं । जिस रचना में इसका विचार नहीं किया जाता वह घटिया माल है ।

ङ—राष्ट्रीय कविता अपने राष्ट्र में प्रेम और सद् भावना का प्रचार करती है । यह राष्ट्र-प्रेम यदि औरों के लिए अहितकर हो, तो उसे अमृत नहीं गरल समझना चाहिये । अपने ग्राम या प्रांत के प्रति सबों के हृदय में श्रद्धा और प्रेम अन्य प्रांतों के प्रति घृणा की भावना उत्पन्न करे तो निश्चय ही वह त्याज्य है ।

ों का यह विश्वास था कि दो आदमियों (वादी-प्रतिवादी) की बातचीत के सिले में ही एक के विचार में परस्पर विरोधी तर्क दिखलाकर किसी दूसरे सत पहुँचा जा सकता है। सुकरात अपने प्रश्नकर्त्ता के ही तर्कों को उसी के मुं ोपपूर्ण साबित कराने की कला में बड़ा चतुर था। सुकरात के शिष्य अफलातू भी अपने गुरु की इस तर्क-पद्धति से परम सत्य तक पहुँचने क श्रेष्ठ साधन माना। अपने यहाँ भी 'वादे-वादे जायते तत्त्व बोधः' की कहाव लित है। यह तर्क-पद्धति प्राकृतिक जगत् के सत्यों के उद्घाटन में प्रयुक्त ह । हेगेल ने प्रत्येक विचार के विकास में इस पद्धति को स्वीकृत किया है। इसी मूल में ये तीन अवस्थाएँ हैं--वाद (Thesis) प्रतिवाद (Anti thesis र युक्तवाद (Syntesis)। हेगेल के अनुसार प्रत्येक वाद में—वस्तु में—उसक रीत धर्म प्रतिवाद भी साथ ही लगा रहता है। किसी एक विचार को दूर त वा जाय तो उसका ठीक विरोधी विचार निकल जाता है और फिर इन दो ोधियों के समागम से युक्तवाद कायम होता है। अफलातूँ ने अपनी कुर्सी ते हुए तर्क किया कि यह कुर्सी कड़ी है क्योंकि यदि यह कड़ी नहीं रहती तो मे र कैसे सहन करती; फिर यह कुर्सी मुलायम भी है, क्योंकि यदि मुलायम न ती तो कुल्हाड़ी इसे कैसे काट सकती। तो यह कुर्सी कड़ी भी है और मुलाय है। लेकिन एक वस्तु एक ही साथ कड़ी और मुलायम नहीं हो सकती- सलिये यह कोई वस्तु ही नहीं है। इस कुर्सी का वास्तविक अस्तित्व नहीं है। इ कार अफलातूँ ने एक 'परमसत्ता' की कल्पना की जिसमें सारी वस्तुएँ सम ई हैं।

इसी प्रकार तर्क कर सकते हैं कि यह संसार जड़ (Being) है, लेकि ह केवल जड़ ही नहीं इसमें प्राण और चेतना है; इसलिये यह चेत Non being) इन दोनों विरोधियों के समागम से हम जीव की स Becoming) पर पहुँचते हैं। अपने दर्शन की भाषा में हम इस प्रकार क कते हैं कि ब्रह्म वाद है, माया प्रतिवाद, और जीव युक्तवाद हुआ। हेगेल त्येक वस्तु की व्याख्या इसी सूत्र द्वारा की है। इस तर्क-पद्धति पर व्यंग्य क ए एक ने कहा है—जल वाद हुआ, मरुभूमि प्रतिवाद और इनका युक्तवाद उं हाराज हुए।

राहुल ने 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' में 'भूत' की परिभाषा इस प्रकार की है 'जो कुछ हम अपनी इन्द्रियों से देखते-समझते हैं, जो कुछ इन्द्रियगोचर वस्तु का मूल स्वरूप है, जो देश (लम्बाई, चौड़ाई, मुटाई में फैला हुआ है, जो कम बेशी मात्रा में दबाव की रोक-थाम करता है, जिसमें इन्द्रियों से जानने ला

गति पाई जाती है, वह भूत है।" लेनिन ने भूत की व्याख्या इस प्रकार की है—
"भूत वह है जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों को क्रिया द्वारा प्रभावित कर अनुभूतियां उत्पन्न करता है, भूत वह वास्तविक पदार्थ है जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हमें इन्द्रियों द्वारा प्राप्त है। भूत, प्रकृति, जड़, पदार्थ या वस्तु ही प्रधान है और आत्मा, चेतन, भाव या मन गौण है।"

''Matter is that, which acting upon our senseorgans produces sensations, matter is the obgective reality given to us in sensation......Matter, nature, being, the physical is primary and spirit, cosciousness, sensation, the physical is secondary."

(Lenin, Selected Works Vol xi, P 377 .

इसी पुस्तक के चार सौ दो पृष्ठ पर कहा गया है कि:—
"The world picture is a picture of how matter moves and of how matter thinks."

मार्क्स ने भूत को ही प्रधान, गतिशील, क्रियाशील, और चिरविकासशील माना है। गति के बिना भूत की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। कोई भी गति होती है तो वह भूत की गति होती है। जहां कहीं जो भूत है वह घूम रहा है, उसमें अन्तर संघर्ष जारी है, वह क्रियाशील है। मार्क्स ने मन (Mind) से भूत की उत्पत्ति नहीं मानी है बल्कि जोर देकर यह कहा है कि मन भूत की सूक्ष्मतम और श्रेष्ठतम उत्पत्ति है—"

"Matter is not a product of mind, but mind itself is merely the highest product of matter ."

Karl Marx, Selected Workes, P.435

मार्क्स ने स्पष्ट कहा है कि विचार को उस 'भूत' से अलग करना असंभव है जो भूत स्वयं सोचता है। सभी परिवर्तनों का मूल कारण भूत है—

"It is impossible to seperate thought from matter that thinks. Matter is the subject of all changes."

प्रकृति को द्वन्द्ववादियों ने स्थितिशील, जड़ या अपरिवर्त्तनशील नहीं माना है। उनकी दृष्टि में यह प्रकृति चिरगतिशील, प्रतिपल परिवर्तित, विकसित, उन्नत और संघर्षशील है। प्रकृति के मूल में, अन्तस् में सतत ह्रास और विकास का द्वन्द्व अनवरत रूप से जारी है। प्रकृति की कोई भी वस्तु (Phenomena) अपने आप में पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं है। प्रत्येक पदार्थ एक दूसरे से सम्बन्धित, परस्पर

निकों का यह विश्वास था कि दो आदमियों (वादी-प्रतिवादी) की बातचीत के सिलसिले में ही एक के विचार में परस्पर विरोधी तर्क दिखलाकर किसी दूसरे सत्य पर पहुँचा जा सकता है। सुकात अपने प्रश्नकर्ता के ही तर्कों को उसी के मुख से दोषपूर्ण साबित कराने की कला में बड़ा चतुर था। सुकात के शिष्य अफलातूँ ने भी अपने गुरु की इस तर्क-पद्धति से परम सत्य तक पहुँचने का सर्वश्रेष्ठ साधन माना। अपने यहाँ भी 'वादे-वादे जायते तत्व बोधः' की कहावत प्रचलित है। यह तर्क-पद्धति प्राकृतिक जगत् के सत्यों के उद्घाटन में प्रयुक्त की गई। हेगेल ने प्रत्येक विचार के विकास में इस पद्धति को स्वीकृत किया है। सृष्टि के मूल में ये तीन अवस्थाएँ हैं—वाद (Thesis) प्रतिवाद (Anti thesis) और युक्तवाद (Syntesis)। हेगेल के अनुसार प्रत्येक वाद में—वस्तु में—उसका विपरीत धर्म प्रतिवाद भी साथ ही लगा रहता है। किसी एक विचार को दूर तक सोचा जाय तो उसका ठीक विरोधी विचार निकल जाता है और फिर इन दोनों विरोधियों के समागम से युक्तवाद कायम होता है। अफलातूँ ने अपनी कुर्सी पर बैठते हुए तर्क किया कि यह कुर्सी कड़ी है क्योंकि यदि यह कड़ी नहीं रहती तो मेरा भार कैसे सहन करती; फिर यह कुर्सी मुलायम भी है, क्योंकि यदि मुलायम नहीं रहती तो कुल्हाड़ी इसे कैसे काट सकती। तो यह कुर्सी कड़ी भी है और मुलायम भी है। लेकिन एक वस्तु एक ही साथ कड़ी और मुलायम नहीं हो सकती—इसलिये यह कोई वस्तु ही नहीं है। इस कुर्सी का वास्तविक अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार अफलातूँ ने एक 'परमसत्ता' की कल्पना की जिसमें सारी वस्तुएँ समाई हुई हैं।

इसी प्रकार तर्क कर सकते हैं कि यह संसार जड़ (Being) है, लेकिन यह केवल जड़ ही नहीं इसमें प्राण और चेतना है; इसलिये यह चेतन (Non being) इन दोनों विरोधियों के समागम से हम जीव की सत्ता (Becoming) पर पहुँचते हैं। अपने दर्शन की भाषा में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि ब्रह्म वाद है, माया प्रतिवाद और जीव युक्तवाद हुआ। हेगेल ने प्रत्येक वस्तु की व्याख्या इसी सूत्र द्वारा की है। इस तर्क-पद्धति पर व्यंग्य करते हुए एक ने कहा है—जल वाद हुआ, मरुभूमि प्रतिवाद और इनका युक्तवाद ऊँट महाराज हुए।

राहुल ने 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' में 'भूत' की परिभाषा इस प्रकार की है—"जो कुछ हम अपनी इन्द्रियों से देखते-समझते हैं, जो कुछ इन्द्रियगोचर वस्तुओं का मूल स्वरूप है, जो देश (लम्बाई, चौड़ाई, मुटाई में फैला हुआ है, जो कम या वेशी मात्रा में दबाव की रोक-थाम करता है, जिसमें इन्द्रियों से जानने लायक

गति पाई जाती है, वह भूत है।" लेनिन ने भूत की व्याख्या इस प्रकार की है— "भूत वह है जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों को क्रिया द्वारा प्रभावित कर अनुभूतियां उत्पन्न करता है, भूत वह वास्तविक पदार्थ है जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हमें इन्द्रियों द्वारा प्राप्त है। भूत, प्रकृति, जड़, पदार्थ या वस्तु ही प्रधान है और आत्मा, चेतन, भाव या मन गौण है।"

''Matter is that, which acting upon our senseorgans produces sensations, matter is the obgective reality given to us in sensation……Matter, nature, being, the physical is primary and spirit, cosciousness, sensation, the physical is secondary."

(Lenin, Selected Works Vol xi, P 377 .

इसी पुस्तक के चार सौ दो पृष्ठ पर कहा गया है कि:--

"The world picture is a picture of how matter moves and of how matter thinks.'

मार्क्स ने भूत को ही प्रधान, गतिशील, क्रियाशील, और चिरविकासशील माना है। गति के बिना भूत की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। कोई भी गति होती है तो वह भूत की गति होती है। जहां कहीं जो भूत है वह घूम रहा है, उसमें अन्तर संघर्ष जारी है, वह क्रियाशील है। मार्क्स ने मन (Mind) से भूत की उत्पत्ति नहीं मानी है बल्कि जोर देकर यह कहा है कि मन भूत की सूक्ष्मतम और श्रेष्ठतम उत्पत्ति है—"

"Matter is not a product of mind, but mind itself is merely the highest product of matter."

Karl Marx, Selected Workes, P.435

मार्क्स ने स्पष्ट कहा है कि विचार को उस 'भूत' से अलग करना असंभव है जो भूत स्वयं सोचता है। सभी परिवर्तनों का मूल कारण भूत है—

"It is impossible to seperate thought from matter that thinks. Matter is the subject of all changes."

प्रकृति को द्वन्द्ववादियों ने स्थितिशील, जड़ या अपरिवर्त्तनशील नहीं माना है। उनकी दृष्टि में यह प्रकृति चिरगतिशील, प्रतिपल परिवर्तित, विकसित, उन्नत और संघर्षशील है। प्रकृति के मूल में, अन्तस् में सतत ह्रास और विकास का द्वन्द्व अनवरत रूप से जारी है। प्रकृति की कोई भी वस्तु (Phenomena) अपने आप में पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं है। प्रत्येक पदार्थ एक दूसरे से सम्बन्धित, परस्पर

निकों का यह विश्वास था कि दो आदमियों (वादी-प्रतिवादी) की बातचीत के सिलसिले में ही एक के विचार में परस्पर विरोधी तर्क दिखलाकर किसी दूसरे सत्य पर पहुँचा जा सकता है। सुकरात अपने प्रश्नकर्त्ता के ही तर्कों को उसी के मुख से दोषपूर्ण साबित कराने की कला में बड़ा चतुर था। सुकरात के शिष्य अफलातूँ ने भी अपने गुरु की इस तर्क-पद्धति से परम सत्य तक पहुँचने का सर्वश्रेष्ठ साधन माना। अपने यहाँ भी 'वादे-वादे जायते तत्त्व बोधः' की कहावत प्रचलित है। यह तर्क-पद्धति प्राकृतिक जगत् के सत्यों के उद्‌घाटन में प्रयुक्त की गई। हेगेल ने प्रत्येक विचार के विकास में इस पद्धति को स्वीकृत किया है। सृष्टि के मूल में ये तीन अवस्थाएँ हैं—वाद (Thesis) प्रतिवाद (Anti thesis) और युक्तवाद (Syntesis)। हेगेल के अनुसार प्रत्येक वाद में—वस्तु में—उसका विपरीत धर्म प्रतिवाद भी साथ ही लगा रहता है। किसी एक विचार को दूर तक सोचा जाय तो उसका ठीक विरोधी विचार निकल जाता है और फिर इन दोनों विरोधियों के समागम से युक्तवाद कायम होता है। अफलातूँ ने अपनी कुर्सी पर बैठते हुए तर्क किया कि यह कुर्सी कड़ी है क्योंकि यदि यह कड़ी नहीं रहती तो मेरा भार कैसे सहन करती; फिर यह कुर्सी मुलायम भी है, क्योंकि यदि मुलायम नहीं रहती तो कुल्हाड़ी इसे कैसे काट सकती। तो यह कुर्सी कड़ी भी है और मुलायम भी है। लेकिन एक वस्तु एक ही साथ कड़ी और मुलायम नहीं हो सकती—इसलिये यह कोई वस्तु ही नहीं है। इस कुर्सी का वास्तविक अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार अफलातूँ ने एक 'परमसत्ता' की कल्पना की जिसमें सारी वस्तुएँ समाई हुई हैं।

इसी प्रकार तर्क कर सकते हैं कि यह संसार जड़ (Being) है, लेकिन यह केवल जड़ ही नहीं इसमें प्राण और चेतना है; इसलिये यह चेतन (Non being) इन दोनों विरोधियों के समागम से हम जीव की सत्ता (Becoming) पर पहुँचते हैं। अपने दर्शन की भाषा में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि ब्रह्म वाद है, माया प्रतिवाद, और जीव युक्तवाद हुआ। हेगेल ने प्रत्येक वस्तु की व्याख्या इसी सूत्र द्वारा की है। इस तर्क-पद्धति पर व्यंग्य करते हुए एक ने कहा है—जल वाद हुआ, मरुभूमि प्रतिवाद और इनका युक्तवाद ऊँट महाराज हुए।

राहुल ने 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' में 'भूत' की परिभाषा इस प्रकार की है—"जो कुछ हम अपनी इन्द्रियों से देखते-समझते हैं, जो कुछ इन्द्रियगोचर वस्तुओं का मूल स्वरूप है, जो देश (लम्बाई, चौड़ाई, मुटाई में फैला हुआ है, जो कम या बेशी मात्रा में दबाव की रोक-थाम करता है, जिसमें इन्द्रियों ...

गति पाई जाती है, वह भूत है।" लेनिन ने भूत की व्याख्या इस प्रकार की है— "भूत वह है जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों को क्रिया द्वारा प्रभावित कर अनुभूतिया उत्पन्न करता है, भूत वह वास्तविक पदार्थ है जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हमें इन्द्रियों द्वारा प्राप्त है। भूत, प्रकृति, जड़, पदार्थ या वस्तु ही प्रधान है और आत्मा, चेतन, भाव या मन गौण है।"

"Matter is that, which acting upon our senseorgans produces sensations, matter is the obgective reality given to us in sensation......Matter, nature, being, the physical is primary and spirit, cosciousness, sensation, the physical is secondary."

(Lenin, Selected Works Vol xi, P 377 .

इसी पुस्तक के चार सौ दो पृष्ठ पर कहा गया है कि:—

"The world picture is a picture of how matter moves and of how matter thinks."

मार्क्स ने भूत को ही प्रधान, गतिशील, क्रियाशील, और चिरविकासशील माना है। गति के बिना भूत की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। कोई भी गति होती है तो वह भूत की गति होती है। जहां कहीं जो भूत है वह घूम रहा है, उसमें अन्तर संघर्ष जारी है, वह क्रियाशील है। मार्क्स ने मन (Mind) से भूत की उत्पत्ति नहीं मानी है बल्कि जोर देकर यह कहा है कि मन भूत की सूक्ष्मतम और श्रेष्ठतम उत्पत्ति है—"

"Matter is not a product of mind, but mind itself is merely the highest product of matter."

Karl Marx, Selected Workes, P.435

मार्क्स ने स्पष्ट कहा है कि विचार को उस 'भूत' से अलग करना असंभव है जो भूत स्वयं सोचता है। सभी परिवर्तनों का मूल कारण भूत है—

"It is impossible to seperate thought from matter that thinks. Matter is the subject of all changes."

प्रकृति को द्वन्द्ववादियों ने स्थितिशील, जड़ या अपरिवर्त्तनशील नहीं माना है। उनकी दृष्टि में यह प्रकृति चिरगतिशील, प्रतिपल परिवर्तित, विकसित, उन्नत और संघर्षशील है। प्रकृति के मूल में, अन्तस् में सतत ह्रास और विकास का द्वन्द्व अनवरत रूप से जारी है। प्रकृति की कोई भी वस्तु (Phenomena) अपने आप में पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं है। प्रत्येक पदार्थ एक दूसरे से सम्बन्धित, परस्पर

आधारित, संघटित और अन्योन्याश्रित है। किसी एक चीज के ज्ञान के लिए उससे सम्बन्धित सारी चीजों का ज्ञान आवश्यक है। 'राम मोहन का चाचा है' इस कथन की सच्चाई जानने के लिये राम और मोहन को असली रूप में जानना है। राम केवल चाचा ही नहीं, वह किसी का भतीजा, भाई, पिता, पति या पुत्र भी है। इसलिए राम को ठीक-ठीक समझने के लिए इनके सभी सम्बन्धियों को जानना चाहिए। फिर राम के पिता के पिता के पिता को...जाने बिना 'परम सत्य, का उद्घाटन नहीं हो सकता। जिस प्रकार हमारे मन की एक बात सैकड़ों दूसरी बातों से सम्बन्धित रहती है, उसी प्रकार प्रकृति की एक वस्तु अन्यान्य सभी वस्तुओं से सम्बन्धित रहती है। इसलिए द्वन्द्ववादी प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में उसके पारस्परिक सम्बन्ध, संघटन, संघर्ष, विकास और विनाश को देखता है। किसी वस्तु की शुद्ध जानकारी के लिये उसके देश, काल, अवसर, परिस्थिति और वातावरण का ज्ञान आवश्यक है। एन्गेल्स (Engels) ने अपने Dialectics of Nature नामक ग्रंथ में लिखा है कि सम्पूर्ण प्रकृति में—सबसे छोटे से सबसे बड़े तक, बालुका-कण से सूर्य-पिण्ड तक, कीटाणु से मनुष्य तक—सृजन और संहार की लीला सदा जारी है। यह प्रकृति अविराम प्रवाह है। गति और परिवर्त्तन इसका रहस्य है।

"All nature from the smallest to the biggest, from a grain of sand to the sun, from the protista to man is in a constant state of coming into being and going out of being, in a constant flux, in a ceaseless state of move ment and change." (Dialectics of Nature)

सृष्टि के मूल में इस द्वन्द्वात्मक-संघर्ष की लीला को हेगेल ने खूब अच्छी तरह समझा है। हेगेल ने परिवर्त्तन की तीन अवस्थाओं को माना है। मार्क्स के साथ सभी द्वन्द्ववादियों ने इस घटना श्रृखला को स्वीकार किया है। परिवर्त्तन की इन तीन अवस्थाओं को हम 'वैज्ञानिक भौतिकवाद की त्रिपुटी, कह सकते हैं। ये तीन हैं :—

(क) विरोधि समागम, (ख) गुणात्मक परिवर्त्तन और (ग) प्रतिषेध का प्रतिषेध। प्रकृति अन्तर्द्वन्द्व प्रधान है। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु के अंतराल में प्रति-पल दो परस्पर विरोधी शक्तियों का संघर्ष चलता रहता है। ये दो विरोधी शक्तियाँ एक ही बीज के दो अंकुर के समान हैं। जन्म-मरण, विकास-ह्रास, स्थूल-सूक्ष्म, ठोस-तरल, उत्थान-पतन, प्रकाश-अंधकार, एक साथ ही लगे चलते हैं। पौधे की हरियाली में उसका सूखापन निहित है। यह सूखापन कहीं बाहर से हठात्

नहीं आ जाता। हरियाली अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर सूखेपन की ओर मुड़ती है। विकास के चरम विन्दु पर ह्रास प्रारम्भ होता है। हेगेल ने अपने द्वन्द्ववाद में मुख्यतः दो तथ्यों का अनुभव किया है। प्रथम तो यह कि परस्पर विरोधी तत्व एक दूसरे में अन्तर्व्यापन करते हैं, एक दूसरे का रूप धारण कर लेते हैं (The passing over of opposites in to one another)। दूसरा यह कि पूर्वकालिक अवस्थाओं के विकास का फल बादवाली उत्तरकालीन अवस्थाओं के विकास या परिवर्त्तन को प्रभावित करता है। किसी वस्तु की नवीन सत्ता में उसके पूर्वकालिक गुण और शक्ति का भी संरक्षण रहता है; (The conservation of the forces and values in existence)। विरोध में गति है, प्रकंपन है। जिस प्रकार विद्युत् की दो परस्पर विरोधी धाराएँ (Positive and Negative - धन और ऋण) एक ही साथ प्रवाहित होती हैं, उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में दो विरोधी तत्व एक साथ वर्त्तमान रहते हैं। हेगेल ने अपने Logic में कहा है कि जो कर्जखोर के लिये ऋण (देना) है वही महाजन के लिए धन (पावना) है। हमारे लिये पूर्व का रास्ता दूसरे के लिये पश्चिम का रास्ता है। यह विरोध है क्या? प्रकृति की साम्यावस्था में विकार उत्पन्न होने का नाम विरोध है। जल अपनी साम्यावस्था में शीतल, तरल जल है, ताप के बढ़ते ही उसकी साम्यावस्था भङ्ग हो जाती है, वह गर्म होता है और वाष्प के रूप में परिणत होने लगता है। प्रकृति में इसी प्रकार परस्पर विरोधी शक्तियों के आन्तरिक संघर्ष के कारण साम्यावस्था का ध्वंस और निर्माण होता रहता है। लेनिन ने तो विकास को परस्पर विरोधी तत्वों का संघर्ष कहा है :— Development is the struggle of opposites.

किसी वस्तु की मात्रा में (अल्प या अधिक) परिवर्त्तन होने से उस वस्तु के गुण में भी नया परिवर्त्तन हो जाता है। वह वस्तु एकाएक नया गुण धारण कर दूसरी वस्तु के रूप में परिवर्त्तित हो जाती है। मात्रात्मक परिवर्त्तन से गुणात्मक परिवर्त्तन किस प्रकार होता है — इसको स्पष्ट करने के लिये हेगेल ने रसायन-शास्त्र से सहायता ली है। जल एक तरल पदार्थ है और इसमें कुछ तापमान वर्त्तमान है। आग पर चढ़ा देने से जल के ताप की मात्रा में परिवर्त्तन शुरू हो जाता है। ताप बढ़ता ही जाता है और एक क्षण ऐसा आता है जब कि वह जल, सबका सब, वाष्प के रूप में परिणत हो जाता है। यह अवस्था २१२° फारेनहाइट पर पहुँचकर होती है। इसी प्रकार जल का तापमान जब गिरते-गिरते ३२° फारेनहाइट तक पहुँचता है तब सारा जल बर्फ के रूप में परिवर्तित हो जाता है। जल धीरे-धीरे बर्फ के रूप में नहीं जमता है। वह हठात् एक क्षण में ही बर्फ में बदल जाता है। ताप के परिमाण में परिवर्त्तन होने से ही गुणात्मक परिवर्त्तन हो गया। रसायन-शास्त्र में

मात्रा के परिवर्त्तन द्वारा तत्काल गुण में परिवर्तन देखा जा सकता है। यदि आक्सीजन की मात्रा दो की जगह तीन इकट्ठी कर दी जाय तो यह ओजन (Ozon) नामक दूसरा ही गैस बन जाता है। यह ओजन ऑक्सीजन से रूप, गन्ध और गुण में भिन्न होता है। कार्बन-डायोक्साइड एक जहरीला गैस है। इसमें अलग साँस लेने से आदमी तत्काल मर जाता है। लेकिन यही कार्बन-डायोक्साइट हमारी प्राण रक्षा के लिये हमारे रुधिर में पांच प्रतिशत मात्रा में वर्त्तमान रहता है। पांच प्रतिशत कार्बन प्राणरक्षक है और इससे अधिक परिमाण में नाशक है। सोडियम (सोडा) और क्लोरीन दोनों के उचित परिमाण में सम्मिश्रण से खाने वाला नमक तैयार होता है; पहले में अग्नि का दाहक गुण है और दूसरे में प्राणनाशक जहर का गुण है।

उपर्युक्त नियम के अनुसार प्रकृति और समाज में भी इसी प्रकार मात्रात्मक परिवर्त्तन द्वारा गुणात्मक परिवर्त्तन (Qualitative change) होता है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था की यह परिवर्त्तन प्रक्रिया 'गुणात्मक प्लवन' (Qualitative leap) के नाम से विख्यात है। यह गति साँप के समान जमीन के प्रत्येक इंच पर सरकती हुई आगे नहीं बढ़ती, बल्कि मेढ़क के समान जमीन के कुछ हिस्से को बिना स्पर्श किए ही कूद कर, उछल कर आगे बढ़ती है। सृष्टि का विकास सरल रेखा या चक्राकार के समान नहीं है जो एक ही जगह पर बार-बार चक्कर लगाता रहता है। सृष्टि का विकास एक अवस्था से कूद कर दूसरी बिल्कुल नई अवस्था को पहुँचता है।

दो विरोधी वस्तुओं या शक्तियों के संघर्ष में किसी एक वस्तु का विनाश हो जाता है और उसकी जगह एक नई वस्तु, एक नई अवस्था आती है। इस नवीन स्थानापन्न वस्तु को प्रतिषेध कहते हैं। यह नवीन वस्तु फिर 'वाद' (Thesis) के रूप में आती है, इसकी अन्य विरोधी शक्ति इसका प्रतिवाद करती है। वाद-प्रतिवाद के विरोधी-समागम से एक तीसरी वस्तु 'युक्तवाद' उदित होती है। इस प्रकार विकास की श्रृंखला में प्रतिबंध का प्रतिबंध (Negation of negation) बराबर होता रहता है। समाज के विकास में यह पद्धति मिलती है। पहले छोटे-छोटे कारीगर या दूकानदार अपना रोजगार व्यक्तिगत रूप से किया करते थे, पूंजीवाद ने इन छोटे-छोटे व्यवसायों को हटाकर – प्रतिषेध कर–एक विराट् पैमाने पर उत्पादन का जरिया निकाला। उत्पादन वितरण आदि मुट्ठी भर पूंजी-पतियों के हाथ में आ गया। समाजवाद ने इस पद्धति का प्रतिबंध किया, यह इकट्ठी पूंजी मजदूरों में बाँट दी गई। इस प्रकार समाजवाद प्रतिषेध का प्रतिषेध हुआ।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का यह सिद्धान्त मार्क्स के द्वारा औद्योगिक, राजनीतिक

१—सभ्यता के विकास में अर्थ और उत्पादन का सर्वप्रधान स्थान है। 'अर्थ' सामाजिक रूप का निमित्त कारण है।

२—सृष्टि के मूल में कोई चैतन्य शक्ति या आत्मा नहीं है। सम्पूर्ण जगत भूतमय—जड़ है। भूत से ही विचार या भाव की उत्पत्ति हुई है। आत्मा या विचार की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं।

३—परिमाण में परिवर्त्तन होने से गुण में परिवर्त्तन होता है। वस्तु में उसका विरोधी धर्म पहले से वर्त्तमान रहता है। उसमें आन्तरिक संघर्ष चलता रहता है, इसी से नई अवस्था (युक्तवाद) की उत्पत्ति होती है।

४—सामाजिक विकास के लिये वर्ग-संघर्ष अनिवार्य है।

५—नई अवस्था (गुणात्मक परिवर्त्तन) प्राप्त करने के लिये क्रांति अनिवार्य है। सुधार के द्वारा समाजोद्धार दिवा-स्वप्न है।

६—आदमी को बेहोश रखने के लिये धर्म और ईश्वर अफीम का काम करते हैं। बेहोशी में खून चूसने का मौका मिलता है।

७—संसार में चिरंतन (अपरिवर्त्तन) नाम की कोई चीज नहीं। समाज के आर्थिक ढाँचे के अनुसार उसकी नैतिकता, सदाचार, साहित्य-संस्कृति आदि, में परिवर्त्तन होता रहता है। समाज का आध्यात्मिक जीवन उसके भौतिक जीवन का प्रति बिंब है। अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, अलौकिक प्रेम आदि बुर्जुआ दिमाग की बेकार उपज हैं।

८—लक्ष्य की प्राप्ति के लिये किसी भी साधन (हिंसात्मक, अहिंसात्मक) का उपयोग किया जा सकता है। सामाजिक क्रांति और सर्वहारा के अधिनायकत्व के लिये हिंसात्मक क्रांति अत्यन्त आवश्यक है।

९—दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न तरह से जगत की सिर्फ व्याख्या की है; किन्तु, अब बात है उस (जगत) के बदलने की।

१०—मनुष्य की चेतनता उसकी सत्ता का निर्धारण नहीं करती, बल्कि, इसके विपरीत, उसकी सामाजिक सत्ता ही उसकी चेतना का निर्धारण करती है। समाज व्यक्ति को प्राण देता है, व्यक्ति समाज को नहीं—

"It is not the consciousness of man that determines their being, but on the contrary, their social being that detrmines their consciousness."

Karl Marx.

११—संसार में शोषक और शोषित ये दो ही वर्ग हैं। इसलिये, संसार के सभी शोषितों को 'राष्ट्र' के संकुचित घेरे को तोड़कर वर्ग-संघर्ष द्वारा समाजवाद

की स्थापना के लिये संघटित होना चाहिये। श्रमिक किसी राष्ट्र का नहीं, बल्कि विश्व का नागरिक होता है।

कार्ल मार्क्स को अपना गुरु मानने वाले प्रगतिवादी साहित्यिक उक्त एकादश-सूत्र की सत्यता में किसी न किसी रूप में विश्वास रखते हैं। विचारणीय यह है कि दिनकर प्रगतिवाद का कौन-सा रूप मानते हैं। यहाँ "रसवन्ती" की भूमिका से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं:—

"प्रगतिवाद का जो अर्थ मैं समझ सका हूँ वह साम्यवाद नहीं, बल्कि नवीनता का पर्याय है और उसके दायरे में उन सभी लेखकों का स्थान है जो चर्वित चर्वण, पुरातन विजृंभन और गत नुगतिकता के खिलाफ हैं। ये सभी लेखक प्रगतिशील हैं, जो किसी प्रकार भी अनुकरणशील नहीं कहे जा सकते। प्रगति का प्रतिलोम सुगविमुखता नहीं, बल्कि गतिविमुखता अथवा अगति है।'

"स्थूल दृष्टि से जो समीप है वह सत्य और जो दूर है वह असत्य—इस भद्दी कसौटी पर वास्तविकता की परीक्षा करना अव्याप्ति के दोष में पड़ना है। आँख मूँदने पर हमारे मन की अलकापुरी पास के ताड़ी खाने से अधिक सत्य हो उठती है।"

"जो अपने और अपनी कला के प्रति ईमानदार है—उसे यह सोचने की जरूरत नहीं है कि लोग उसे प्रगतिकामी कहेंगे या कुछ और।"

"मनुष्य की सर्वांगीण स्वाधीनता के आदर्श के शत्रु, शोषक अभिजातीय वर्ग के प्रति रोषपूर्ण उक्ति भी साहित्य हो सकती है, लेकिन एकमात्र वही प्रगतिशील नहीं है।"

"साहित्य की जो कृतियाँ वर्त्तमान जीवन के दाह और दुखों से उदासीन हैं, जूझते हुए शूरमाओं की पदरज लेने में शरमाती हैं, और मिट्टी की गन्ध से निर्लिप्त रहने का दंभ रखती हैं, वे मृत हैं। वे कृतघ्न हैं और संसार को उनसे प्रतिशोध लेने का पूरा अधिकार है। लेकिन जो साहित्य चेतना के चिरंजीवी तत्त्वों से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर रहा है वह अपनी ही फाँसी की डोरी आप तैयार कर रहा है।"

"समन्वय की यही भावना साहित्य का मूलाधार है... एकांगी होकर साहित्य प्रगतिशील भले कहला ले, लेकिन समन्वय के बिना वह दीर्घायु नहीं हो सकता।"

"प्रगति शब्द में जो नया अर्थ ठूँसा गया है उसके फलस्वरूप हल फावड़े कविता का सर्वोच्च विषय सिद्ध किए जा रहे हैं। और वातावरण ऐसा बनता जा रहा है कि जीवन की गहराइयों में उतरने वाले कवि सिर उठा कर नहीं चल सकें।"

"कवि जैसे संवेदनशील प्राणी को न तो गुलाब पर लिखने के लिए बाध्य करना चाहिये और न ट्राम पर।"

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि दिनकर प्रगतिवाद को युगकालीनता की व्याख्या मानते हुए उसे साहित्य का एक अंग समझते हैं। प्रगतिवाद के भौतिक जड़-दर्शन से कवि प्रभावित नहीं। वे मानव जाति की उन्नति का प्रधान कारण आध्यात्मिक चिंतना को मानते हैं। मार्क्सवाद ने संघर्ष को साहित्य-सर्जना का मूल माना है। इसके विपरीत दिनकर ने समन्वयवाद को साहित्य का मूलाधार कहा है। पूँजीपतियों के प्रति घृणा और रोष का प्रचार करना साहित्य का एकमात्र उद्देश्य नहीं होना चाहिए, बल्कि हृदय के मधुर संभार का निवेदन, जीवन की सूक्ष्मताओं में प्रवेश भी साहित्य के अन्तर्गत है। दिनकर ने प्रगतिवाद का स्वस्थ रूप अपनाया है, साम्प्रदायिक नहीं।

इन दिनों प्रगतिशील साहित्य के तीन रूप हमारे सामने दीख पड़ते हैं:—

१—मार्क्सवाद पर आधारित साम्प्रदायिक रूप।

२—राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं को चित्रित करने वाला सामयिक रूप।

३—विश्व के सभी साहित्य में सामाजिक वैषम्य के प्रति विद्रोह का स्वर उठाने वाला सनातन रूप।

दिनकर का काव्य प्रगतिशील साहित्य की दूसरी श्रेणी में आता है। कवि ने प्रगतिवाद की वेदी पर राष्ट्रीयता का अपमान नहीं किया है। हिन्दी के प्रगतिपंथी साहित्यिक अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर दिल्ली को भूलकर मास्को के गीत गाने लगे हैं। विपत्तिग्रस्त राष्ट्र को दलदल में छोड़ विश्व-प्रेम-प्रदर्शन के बहाने कुछ प्रगतिवादी रूस के उपासक बनते जा रहे हैं। ये घर को अँधेरा छोड़कर मस्जिद में दिया जलाने दौड़े हैं। कवियों की यह अत्यधिक रूस-प्रियता अपने देश के लिए अहितकर होते देख दिनकर ने इसका प्रतिवर्त्तन किया, अपने घर की सुध बिसार जगत को पूजने वाले मनुष्य :—

"चिल्लाते हैं 'विश्व, विश्व' कह जहाँ चतुर नर ज्ञानी।
बुद्धि भीरु सकते न डाल जलते स्वदेश पर पानी।
जहाँ मास्को के रणधीरों के गुण गाये जाते।
दिल्ली के रुधिराक्त वीर को देख लोग सकुचाते।"

—साम,—दिल्ली और मास्को।

जब ... की मिट्टी दहक रही है, गङ्गा का पानी खौल रहा है,
रों से कसी ... में गरज रही है, तब विश्व मानवता से मृषा

"खेलने हिम-शृंग पर चढ़कर लगीं रश्मियाँ नया एशिया के प्रात की'
"चिंघार सिंहिनी जगी, जगी विराट एशिया" ।
"चूमता बढ़-चढ़ हिमालय व्योम को, हिंदसागर है निनादित रोर से,
'सिंधु से दजला मिली भागीरथी फूलती या प्रेम 'येलो' ओर से।

भारत अपनी प्रेम की भुजाएँ फैलाये हुए एशिया के सभी देशों से मिल के लिये आकुल है। यह सभी कोई मानने लगे हैं कि विश्व को भारतवर्ष एकता प्रेम और शांति का उपदेश कर रहा है। कवि के नयनों में भारत का यह नेतृत्व पहले से ही झूल रहा है :—

"किस अनागत लग्न की महिमा अरी,
कीर्ण पुण्य प्रकाश नव उत्कर्ष का।
दे रहा संदेश पीड़ित विश्व को,
शृंग चढ़ जय-शंख भारतवर्ष का।"
—हुं०, भविष्य की आहट।

संसार के भिन्न-भिन्न देशों के हत्याकांड अत्याचार, नृशंसता आदि का प्रभाव दिनकर पर क्यों नहीं पड़ता। राष्ट्रीयता की परिधि को लाँघकर कवि की सहानुभूति औरों तक भी पहुँची है। राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता की यह उदार भावना दिनकर में पूर्णतया कल्पित हुई है। इटली, जर्मनी और जापान की फासिस्टवादी नीति का घोर विरोध करते हुए कवि ने पादाक्रांत देशों के प्रति अपनी सम्वेदना प्रकट की है :—

"राइन तट पर खिली सभ्यता हिटलर खड़ा कौन बोले।
सस्ता खून यहूदी का है नाजी निज 'स्वस्तिक धोले।

ऐसी डँवाडोल हालत देखकर कवि भारत को जगा रहे हैं :—

"हिला 'आल्प्स' का मूल हिले रोकी छोटा जापान हिले।
मेघरंध्र में बजी रागिनी अब तो हिन्दुस्तान हिले।
चोट पड़ी भूमध्य सिन्धु में नीलतटी में शोर हुआ।
मर्कट चढ़े कोट पर देखो उठो सिलासी! भोर हुआ।
— हुं०; मेघ रंध्र में

विश्व की क्रियाओं से प्रभावित होकर उसकी उपयुक्त अभिव्यक्ति करना स्वस्थ हृदय की सुन्दर पहचान है। सौभाग्य से दिनकर को यह हृदय प्राप्त है। कवि ने अपने देशवासियों को विश्व की वर्त्तमान गति-विधि से परिचित कराया, उससे रागात्मक संबन्ध स्थापित कराया—यह देश की कम सेवा नहीं है। राष्ट्र कवि की सामयिक पुकार देश को उद्बुद्ध करने में जितनी सहायक होती है

मन से नहीं हो सकता । कवि ने वीणा के तार को तोड़-मरोड़कर फेंक दिया शंखध्वनि की :—

"फेंकता हूँ, ले तोड़ मरोड़, अरी निष्ठुरे बीन के तार ।
उठा चांदी का उज्ज्वल शंख फूँकता हूँ भैरव हुँकार ।'
—हुँ०

राष्ट्र के नव-जागरण, नव-संदीप्ति के लिये कवि के भैरव हुँकार जरूरत है । लाखों क्रौंच कराह रहे हैं, फिर भी आदि कवि की वाणी क्यों जगती :—

"लाखों क्रौंच कराह रहे हैं, जाग आदि कवि की कल्याणी
फूट, फूट तू कवि-कण्ठों से, बन व्यापक निजयुग की वाणी ।
—रे०

'रेणुका' से 'सामधेनी' तक कवि क्रांति का पागल पु रहा है । असहायों का शोणित शोषण करने वाली स मानवता का सर्वनाश कर रही है । झोपड़ी रो रही है. महल अ कर रहा है । पूँजीपति, जमींदार के कृषक-मेध में पशुता तांडव कर रही किसानों के दिल से खून के फौवारे छूट रहे हैं । कवि ने देश की जर्जर अ की मार्मिक अनुभूति की है । वह इस महान वैषम्य को देख कड़क उठत चाहता है कि एक ही अग्नि-बाण से वह इस पाप-पाखंड को भस्मीभूत कर दिनकर के हृदय ने क्रांति की प्रसव-वेदना की असह्य पीर सही है । कवि की वि लेखनी क्रांति का आवाहन कर रही है:—

"क्रांति-धात्रि कविते, जागे उठ, आडंबर में आग लगा दे ।
पतन, पाप-पाखंड जलें, जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे ।
विद्युत् की इस चकाचौंध में, देख, दीप की लौ रोती है ।
अरी, हृदय को थाम, महल के लिए झोपड़ी बलि होती है ।
उठ, वीरों की भाव-रंगिणी, दलितों के दिल की चिनगारी ।
युग मर्दित यौवन की ज्वाला जाग जाग री क्रांति-कुमारी ।"

कवि की क्रांति-कुमारी जगी और उसके कंठ में युगवाणी फूट पड़ी । [illegible] के [illegible] हृत् कमल से क्रांति-भवानी का जन्म हुआ और वह वहीं [illegible] [illegible] पर नृत्य करने लगी । पुजारी अपने देवता के रूप में अपने को ढाल है । साधना की तल्लीनता में, भाव की एकतानता में उपासक और उपा कोई व्यवधान नहीं रह जाता । देवता पुजारी में अवतीर्ण होता है । पुजारी [illegible] बन जाता है । दिनकर ने काव्य-साधना द्वारा क्रांति की उपासना की. आ

नीरव, निर्जन, प्रशांत दृश्यों को कवि की प्रचुर सहानुभूति प्राप्त हुई है। पंत को स्वप्निल, शैशव, स्वर्णिम, सुन्दर, प्रणय आदि शब्द बहुत प्रिय हैं। पंत के गीत-संग्रह के नाम—'पल्लव,' 'गुंजन,' 'पल्लविनी,' 'स्वर्ण किरण,' आदि—उनके कोमलस्वभाव के परिचायक हैं। पंत को गान की प्रेरणा, आदर्श की कल्पना, और विश्रांति की भावना स्वप्न से प्राप्त होती है :—

"स्वप्न आते उड़ उड़कर पास........
इन्हीं में छिपा कहीं अनजान, मिला कवि को निज गान।
"जगत-जीवन अविरत संग्राम, स्वप्न है यहाँ विराम।

सुभद्रा कुमारी और माखनलाल चतुर्वेदी की कविता में 'बलिदान' और 'त्याग' शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। 'अहा बलिदान, धन्य बलिदान,' कहते हुए माखनलाल नहीं अघाते। गांधी जी के सत्याग्रह-आन्दोलन से प्रेरित तत्कालीन कवियों की रचनाओं में बलिदान-भावना का अधिक चित्रण हुआ है। दिनकर के काव्य में आलोक, अग्नि, दहन, होमशिखा, मशाल, तांडव, प्रलय, शंख ध्वनि, आदि शब्द बार-बार व्यवहृत हुए हैं। 'यज्ञ' और 'होम शिखा, से तो कवि को आसक्ति हो गई है। प्रज्ज्वलित, पूत, प्रदीप्त जीवन के लिये 'होम शिखा' से बढ़कर दूसरा कौन-सा रूपक होगा! 'रेणुका' के मंगलाचरण में कवि देवी से यही वरदान माँगता है :—

अन्यत्र भी :—

क—"जहाँ-जहाँ घन-तिमिर हृदय में छिटका वहाँ विभा प्यारी
दुर्बल प्राणों की नसनस में, देव! फूँक दूँ चिनगारी।

—रे०

ख—"बरसे आग बहे झंझानिल मचे त्राहि जग के आंगन में।

—रे०, तांडव।

ग—"प्राची के प्रांगण बीच देख, जल रहा स्वर्ण युग अग्नि ज्वाल

—रे०, हिमालय।

घ—"युग मर्दित यौवन की ज्वाला, जाग जाग री, क्रांति कुमारी।

—रे० कस्मै देवाय

ङ—'खोज रहा गिरि शृंगों पर चढ़ ऐसी किरणों की लाली,
जिनकी आभा से सहसा, झिलमिला उठे यह अँधियाली।

—रे०

च—'हूँ जगा रहा आलोक अरुण बाणों से
मरघट में जीवन फूँक रहा गानों से'—हुं०, आलोकधन्वा,

ख—प्रलय के समय विकराल तांडव नृत्य करने के कारण—विनाश या संहार के प्रतीक।

ग—नृत्य-विद्या के आदि विशारद होने के कारण—कला और सौन्दर्य के प्रतीक।

विचारों और भावों को उद्‌बुद्ध करने के लिए, उनमें प्रकंपन और प्राण संचरित करने के लिए, उन्हें रस की दिशा में लाने के लिए, सफल कवि प्राचीन काल से चले आते हुए भाव-प्रतीकों का उपयोग करते हैं। पुरानी, जर्जरित सृष्टि के संहार के लिए 'तांडव' की कल्पना अत्यन्त समीचीन है। दिनकर ने देश को नए साँचे में ढालने के लिए, उसका कायाकल्प करने के लिए, नटराज शंकर का आवाहन किया है।

'तांडव' में पूँजीवादी विलासी सभ्यता के विनाश की कामना की गई है। यदि पूँजीवादी दानव मानवता का खून नहीं पीता तो तांडव की आवश्यकता ही क्या! खूँखार राष्ट्र निर्बल निर्दोष राष्ट्रों को न्याय और संरक्षण के नाम पर हड़पते जा रहे हैं। संसार के नृशंस अत्याचार नटराज को नृत्य करने के लिए बाध्य कर रहे हैं,—

"मिटे राष्ट्र उजड़े दरिद्रजन···
आह! सभ्यता आज कर रही असहायों का शोणित शोषण"

कवि की कामना है कि विश्व के अहंकार आडंबर, पाप, ये सभी एक साथ ही क्रांति की अग्नि में जल कर भस्मीभूत हो जायँ—

"गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो, लगे आग इस आडंबर में।
वैभव के उच्चाभिमान में, अहंकार के उच्च शिखर में।
स्वामिन्, अधड़-आग बुला दो, जले पाप जग का क्षण भर में।"

'तांडव' की प्रारम्भिक पंक्तियों में कवि ने भावपूर्ण संबोधनों द्वारा शंकर के विकट रूप को मूर्तिमान किया है। ये संबोधन, शब्द नहीं, मन्त्र हैं, जो नटराज को नृत्य करने के लिए उन्मत्त बना देते हैं—

"चन्द्र चूड़! त्रिनयन! गंगाधर! आदि प्रलय! अवढर शङ्कर!"

जिनके ललाट में चंद्रमा, नयन में पावक, शीश पर गङ्गा, और भंगिमा में प्रलय है, वही तो तांडव नृत्य कर रहे हैं। सृजन और संहार दोनों की शक्तियां शंकर में वर्तमान हैं। वे प्रसन्न होने वाले अवढर और कल्याण करने वाले शंकर हैं। निम्न पंक्तियों में शंकर के चिरन्तन ताल और अमर नृत्य का ध्यान कर उन्हें थिरकने के लिए कहा गया है।

"आदिलास, अविगत अनादि स्वन, अमर नृत्य गति ताल चिरंतन।

आसमान में। प्रलय का यह विनाशकारी दृश्य आँखें कब तक निहार सकतीं हैं। पलभर के लिए ही सही, पलकों को थोड़ा विश्राम चाहिए:—

"प्रभु, तव पावन नील गगन तल
विदलित अमित निरीह निवल दल।"

यहाँ 'प्रभु' का संबोधन प्रार्थना और शरणागति की भावना व्यक्त करता है। दुखी जीव, भयभीत होकर या भगवान की विभूति से प्रभावित होकर, उनकी शरण में आया है। उक्त पंक्ति में 'न' और 'ल' की आवृत्ति मन में शाँति और कोमलता का संचार कर रही है। 'ल' की माधुरी से मन पूर्व परिचित है—'ललित लवंगलता परिशीलन कोमल मलय समीरे।' इस प्रलय की ज्वाला में, क्षणभर के लिए कवि ने सृष्टि के तप्त वक्षस्थल पर चंदन चर्चित कर दिया है। इस करुण कोमल अवसर पर कवि विश्व का दुख निवेदन कर रहा है। शंकर ने तिल भर रुककर शायद सुन लिया, फिर वही नृत्य?

"नाचो अग्नि-खन्ड भर स्वर में' फूँक-फूँक ज्वाला अंवर में
अनिल कोप द्रुमदल जल थल में, अभय विश्व के उर अंतर में
डिम डिम डमरू बजा निजकर में, नाचो, नयन तृतीय तेरेरे
ओर छोर तक सृष्टि भस्म हो चिता-भूमि वन जाय अरे रे।"

तो कवि इस सृष्टि को ओर छोर तक जला कर श्मशान वना देना चाहते हैं! क्या इन्हें चिर विनाश, चिर प्रलय ही प्रिय है? कवि ध्वंस का उपासक और संहार का पुजारी है? नहीं—ऐसा कदापि नहीं। कवि पुरातन के भस्म पर नूतन का निकेतन निर्माण करना चाहते हैं। यह विनाश है, विकास के लिए:—

"रच दो फिर से इसे विधाता, तुम शिव, सत्य, और सुन्दर"

दिनकर के 'तांडव' में कला और शक्ति का अपूर्व संगम है। रुद्र और शंकर का समवेत आवाहन है। कहीं प्रलयकर दृश्य मुखर हो उठा है, कहीं निरीह कोमलता सजीव हो उठी है। इसमें दानवी सभ्यता का अट्टहास और मानवता की कराह स्पष्ट सुनाई पड़ रही है। ओज गुण से भरित यह गीत हमारे हृदय में मंत्र की पवित्रता और बालचंद्र की धवलता का संचार करता है। 'तांडव' में गंगा का प्रवाह, शृंगी का निर्घोष और त्रिनेत्र की प्रज्वलित वह्नि है।

क्रांति-देवता की कल्पना शंकर के अतिरिक्त और किस रूप में की जा सकती है! क्रांतिकाल की सारी विभीषिकाएँ रुद्ररूप में आकर पुंजीभूत हो गई हैं। क्रांति की हुँकार जटाओं में उफनाते हुए शेषनाग की फुफकार है। शृंगी की ध्वनि क्रांतिका अभियान-गान है क्रांति दिगंवरी होती है, उसे कोई बंधन नहीं। 'भविष्य की आहट' में कवि ने क्रांति का रुद्र-रूप ही देखा है:—

"फुँकता शृंगी भयानक आ रहा, कौन यह खोले जटा में नागिनी
अनंतभा किरीट में प्रलय-शिखा सुहागिनी,
किशोर भानु मेष में ललाट मध्य जागिनी,
विषाण के निनाद से दिशा सभीत मौन, री।
विशाल पूर्व व्योम में विभा प्रसन्न कौन, री!--हुँ।

'विपथगा' क्रांतिका दूसरा नाम है। क्रांति आँधी की गति से वृक्षों को उखाड़ती, पर्वतों को कँपाती और नदियों को दोलित करती हुई चलती है। 'तांडव' में पुरुष का ओज और 'विपथगा' में नारी की शक्ति है। 'विपथगा' की चिर कुमारिका स्वयं अवतीर्ण होकर अपने चंडी-रूप और भैरव नर्त्तन का परिचय देती है। 'तांडव' से गगनमंडल गूँजता है, 'विपथगा' से धरती थर थर कंपित है। देश की वर्त्तमान दुर्दशा, दुराचार और शोणित-शोषण को देख विपथगा प्रकट हुई है। इसमें समाज के बीभत्स, कुत्सित और विद्रूप चित्रों का अंकन है। 'तांडव' में पीड़ित विश्व की सूक्ष्म, तीक्ष्ण रेखाएँ खिंची हैं। 'विपथगा' में क्षुब्ध संसार की पुष्ट रेखाएँ तरल अग्नि से अनुरंजित हैं। 'तांडव' पाप का विनाश करता है, 'विपथगा' पापियों को आग में झोंकती है। विपथगा की लपलपाती विलोल जिह्वा जुल्मी दुनिया का खून पीने के लिए धूम मचा रही है। पूँजीपति, महाजन, रईस, अन्धविश्वास आदि समाज के जानी दुश्मन हैं। 'विपथगा' इन सबों को कच्चा चबा जायगी।

'विपथगा' की पायल तलवारों की झंकार में झंकृत हो रही है। कविता का प्रारंभ 'झनन-झनन' से होता है। 'विपथगा' में कुल तेरह पद हैं। प्रत्येक पद की अंतिम पंक्ति झनझना उठती है। यह झनन-झनन हमारे हृदय के सुप्त तारों को झनझनाती है। सम्पूर्ण कविता एक धधकती हुई चिता है, जिसमें अत्याचार के शव चट-चट जल रहे हैं। आग की लपटों से क्रांति-किशोरी का मुख-मंडल देदीप्यमान हो रहा है। विपथगा शक्ति और गति का विराट रूप है। इसमें कवि ने क्रान्ति की प्रचंड शक्ति और तीव्रतम वेग का ज्वलंत चित्र खींचा है।

यह पगली विद्युत् की धारों में ठठाकर हँसती है। पहाड़ों में कालाग्नि बनकर खेलती है। इसकी अँगड़ाई में भूचाल और साँस में लंका के उनचास पवन मौजूद हैं। इस चिर कुमारिका के ललाट में नित्य नवीन रुधिर चंदन जगमगाता है। चिता-धूम का तिमिरांध अंजन यह दृगों में आँजती है, और संहार-लपट के चीर पहन छूम-छनन नाचा करती है।

"मेरी पायल झनकार रही तलवारों की झनकारों में,
अपनी आगमनी बजा रही मैं आप क्रुद्ध हुँकारों में,

मैं अहंकार-सी कड़क ठठा। हँसती विद्युत् की धारों में,
बन काल-हुताशन खेल रही पगली मैं फूट पहाड़ों में,
अँगड़ाई में भूचाल, साँस में लंका के उनचास पवन।"
झन झन झन झन झन झनन झनन।

शासक के अपमान और अत्याचार का घड़ा जब भर जाता है, तभी विपथगा उत्पन्न होती है। पीड़ित प्रजा के मन में शासक के प्रति ईर्ष्या और क्रोध की भावना धीरे-धीरे जमती जाती है। क्रोध की परतें जमते-जमते ज्वालामुखी चट्टान हो जाती है। जैसे मानस की घनीभूत पीड़ा आँसू बनकर बरस पड़ती है, उसी प्रकार घनीभूत क्रोध अंगारे के रूप में टूट पड़ते हैं। सहनशीलता अपनी चरम सीमा पर प्रतिहिंसा हो जाती है। पशुबल से दबाई हुई भयभीत प्रजा मौका पाकर महान विद्रोह करती है :—

"रस्सों से कसे जवान पाप प्रतिकार न जब कर पाते हैं;
बहनों की लुटती लाज देखकर काँप-काँप रह जाते हैं,
शस्त्रों के भय से जब निरस्त्र आंसू भी नहीं बहाते हैं,
पी अपमानों के गरल घूँट शासित जब होंठ चबाते हैं,
जिस दिन रह जाता क्रोध मौन, मेरा वह भीषण जन्म-लगन।
झन झन झन...

विपथगा कहती है कि "मैं जहर उगलती फिरती हूँ मैं विष से भरी जवानी हूँ।" क्रांति किशोरी की कराल हुंकार सुन सरकारों में आतंक फैल जाता, 'नीरो' प्राण सूख जाते क्योंकि वह 'झंझा सी पकड़ झकोर हिला देती दुंभी के सिंहासन' वह किस ओर कहाँ से आयगी किसे क्या मालूम ?

"आँखें अपनी कर बंद देश में जब भूकम्प मचाऊँगी,
किसका टूटेगा शृंग, न जानें, किसका महल गिराऊँगी,
निर्बंध, क्रूर, निर्मोह सदा मेरा कराल नर्तन-गर्जन।

अन्त में विपथगा अत्याचारियों को सावधान करती हुई कहती है:—

"अबकी अगस्त्य की बारी है, पापों के पारावार! सजग,
बैठे 'विसुवियस' के मुख पर, भोले अबोध संसार! सजग;
देशों का रक्त कृशानु हुआ, ओ जुल्मी की तलवार! सजग,
दुनिया के नीरो सावधान! दुनियाँ के पापी जार! सजग,
जाने किस दिन फुंकार उठें, पद दलित काल-सर्पों के फन।
झन-झन-झन...... ......।"

हिन्दी-साहित्य के अपभ्रंश काल से इस आधुनिक काल तक, सातवीं सदी के

श्रीकृष्ण ने पार्थ को अपने विराट् रूप का दर्शन कराया था; क्रांति ने दिनकर को अपने विराट् रूप की झाँकी दिखाई। दिनकर ने विश्व को इसका साक्षात्कार कराया:--

"समस्त सूर्य लोक एक हाथ में लिए हुए.
दबा के एक पांव चन्द्र-भाल पर दिए हुए,
खगोल में धुआं बिखेरती प्रलय प्रश्वास से,
भविष्य को पुकारती हुई प्रचण्ड हास से,
उछाल देव-लोक को मही से तोलती हुई,
मनुष्य के प्रताप का रहस्य खोलती हुई,
विराट् रूप विश्व को दिखा रही जवानियां।"

कवि अंगुलि-निर्देश द्वारा जवानी की अद्भुत शक्ति को दिखा रहा है :—

"व' देख लो खड़ी है कौन तोप के निशान पर,
व' देख लो, अड़ी है कौन जिन्दगी की आन पर,
व' कौन थी, जो कूद के अभी गिरी है आग में?
लहू बहा कि तेल आ गिरा नया चिराग में?"

युवकों का रक्त क्रांति-दीपक में नया तेल बनकर उसकी लौ को तेज कर देता है। जवानी के दहाड़ते हुए रूप का यह वर्णन देखिए :—

"घटा को फाड़ व्योम बीच गूँजती दहाड़ है,
ज़मीन डोलती है और डोलता पहाड़ है,
भुजंग दिग्गजों से कूर्मराज, त्रस्त कोल से,
धरा उछल-उछल के बात पूछती खगोल से--
कि क्या हुआ है सृष्टि को! न एक अंग शांत है!
प्रकोप रुद्र का! कि कल्पनाश है? युगांत है?
जवानियों की धूम सी मचा रहीं जवानियाँ।",

जवानी की ऐसी विराट कल्पना, ऐसा सशक्त चित्रण, ऐसी प्राणवंत तस्वीर अन्यत्र दुर्लभ है। दिनकर की क्रांति-भावना को निरूपित करने के लिए 'हिमालय', 'जय प्रकाश, 'दिल्ली', 'दिगम्बरि', और 'भविष्य की आहट' द्रष्टव्य हैं। भागलपुर की एक साहित्यिक सभा में मैं 'हिमालय' की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर रहा था। 'ले अँगड़ाई, उठ हिले धरा कर निज विराट-स्वर में निनाद' मैं बोल ही रहा था कि एक महानुभाव ने मुझे यह कहते हुये रोका कि महाराज, बस कीजिये! दिनकर ने

के साथ गाँवों की विहँसती हुई प्रकृति का चित्रण किया है। "उन्होंने (श्री पाठक) प्रकृति के रूढ़िबद्ध रूपों तक ही न रहकर अपनी आँखों से भी उसके रूपों को देखा 'गुनवन्त हेमंत' में वे गाँवों में उपजाने वाली मूली-मटर ऐसी वस्तुओं को भी प्रेम से सामने लाए जो परम्परागत ऋतु वर्णनों के भीतर नहीं दिखाई पड़ती थीं।"

[शुक्लजी का इतिहास पृ० ६०३]

स्वयं शुक्ल जी ने 'आमन्त्रण' कविता में ग्राम-श्री का लुभावना वर्णन किया है। 'चिर' काल से 'गाँव' में रमने वाले श्री मैथिलीशरण ने लौकी की लताओं से लहराते, लिपे-पुते स्वच्छ सुघर घरों का सहृदयता के साथ अंकन किया है। किसानों के गाँवों में धूनी रमाकर, गली-गली रमने वाले अलमस्त फकीर प्रेमचन्द ने गाँवों के जादू की तस्वीर बारीकी और खूबसूरती के साथ खींची है। 'कर्मभूमि' 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' के गाँवों की याद आते ही मन आनन्द विभोर हो जाता है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में ग्राम-जीवन के प्रति आकर्षण बहुत पहले से ही प्रारम्भ हो गया था।

कवि ने ग्राम की वैभव-विभूति पर अधिक नहीं लिखा है; किन्तु जो थोड़ा सा लिखा गया है वह अपूर्व है। रेणुका में जो कविता 'कविता की पुकार' शीर्षक से छपी है वही 'हुँकार' में; 'वनफूलों की ओर' के नाम से पुनः प्रकाशित की गई है। नगर के कृत्रिम सौन्दर्य से कविताका जी नहीं भरता। अलका की सुन्दरियों के वर्णन में कविता नहीं फँसना चाहती, कल्पवृक्ष या नन्दन के पारिजात का सौभाग्य उसे कहाँ? कवि की कविता नालंदा और वैशाली के खँड़हरों में भी विहरना नहीं चाहती। कविता मधुर उपालम्भ दे रही है कि कवि ने उसे सौ-सौ बार इन खँड़हरों में रुलाया है, अब वह स्वच्छंद रूप से ग्राम-श्री का दर्शन करना चाहती है, गाँवों की सुनहली धूल में वह जी भर लोटना चाहती है। गाँवों के अनेकों बालक पालन-पोषण के अभाव में असमय इस संसार से चल बसते हैं। धूप और जल के अभाव में अगणित प्रतिमाएँ पीली पड़कर मुरझा जाती हैं।

कितने दीप बुझे झाड़ी झुरमुट में ज्योति पसार,
चले शून्य में सुरभि छोड़कर कितने कुसुम कुमार,
कब पर मैं कवि, रोऊँगी, जुगनु - आरती सँजोऊँगी!

कवि की कविता महलों की चकाचौंध से दूर भागना चाहती है। बिजली की प्रखरता में नयनों को सुख कहाँ? वह कुटिया के मन्द-मन्द दीप की लौ देखकर अपनी आँखों को मुलायम करना चाहती है। वह भिखारिन बनकर घर-घर घूमना चाहती है;

"विद्युत् छोड़ दीप साजूँगी, महल छोड़ तृण कुटी प्रवेश,
तुम गाँवों के बनो भिखारी मैं भिखारिनी का लूँ वेश।

गाँवों की सबसे मनोहर बेला साँझ है। दिन भर के थके-माँदे किसान साँझ को घर लौटते हैं, बच्चे हरी-हरी दूब पर मस्ती से उछलते हैं, गौएँ टनटन-टिनटिन घंटियों के मधुर-स्वर करती झुंड के झुंड, धूल के सुनहरे बादल बिखेरती, साँझ को घर आती हैं। चौपालों में धूरे के निकट गप का अखाड़ा साँझ को ही जमता है। गाँवों की साँझ सोने की साँझ है:

स्वर्णाञ्चला अहा! खेतों में उतरी संध्या श्याम परी
रोमंथन करती गाएँ आ रहीं रौंदती घास हरी
घर-घर से उठ रहा धुँआ जलते चूल्हे बारी-बारी
चौपालों में कृषक बैठ गाते-'कहँ अटके बनवारी।'

कविता की प्रत्येक पँक्ति में एक-एक अनुपम चित्र आप ही खिंच गया है। चित्र की रेखाएँ हलकी होते हुए भी भास्वर हैं। कुशल चित्रकार थोड़ी ही रेखाओं में एक तस्वीर खींच देता है। ये तस्वीरें मूक नहीं, मुखर भी नहीं, वरन् मञ्जु मुस्कान से तरंगित हैं। सुनहले आँचल सम्भा‌लती हुई श्याम-परी-संध्या खेतों में धीरे-धीरे उतर रही है। गाँवों में स्त्रियाँ एक दूसरे का चूल्हा जलते देख अपना भी जला लेती हैं। पड़ोस के किसी घर में जला कि उसकी देखा देखी दूसरे घर में भी जला। फूस या खपरैल के घरों को मन्द-मन्द भेदती हुई, रेशम की-सी जाली, यह धूमराशि सभी ने देखी होगी। गाँवों के इस दृश्य का यहाँ सुन्दर अंकन हुआ है। चौपालों में गृहस्थ बैठे बैठे कोई तान छेड़ देता है, यह कड़ी अनायास उसके कंठ से फूट पड़ती है। 'कहँ अँटके बनवारी' पद से गीत की मिठास आस्वाद्य हो गई है। हम अनायास इस पद में झूम जाते हैं। 'कहँ अँटके बनवारी'—किस ग्राम-गीत का सुनहला छोर है, पता नहीं, किस स्वर्गीय अप्सरा का टूटा हार है, कौन जाने? दृश्य को साकार और सवाक् बनाने की अद्भुत कला कवि को मालूम है।

कुछ दृश्य ऐसे हैं जिनका हमारे जीवन से घना सम्बन्ध है। उनके नाम-मात्र से हमारे मन में कभी स्नेह, कभी पवित्रता और कभी सात्विकता के भाव अविलम्ब छा जाते हैं। कुछ भावचित्र सामुदायिक और सनातन हैं जो हमारे सामुदायिक उपचेतन मन में जन्मकाल से ही चले आ रहे हैं। मंदिर, दीपक, शंखध्वनि, पनघट, आखेट, स्वर्ग आदि शब्द अपने इर्द गिर्द एक भाव लोक बसाए हुए हैं। घर घर में बिजली की रोशनी हो जाने पर भी दीपक हमारे मन-मंदिर को स्निग्ध आभा से आलोकित करता रहेगा। पनघट, मंदिर, दीपक, घटा

ध्वनि आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा इस कविता में कवि ने हमारे युगयुगीन सनातन भावों को उद्बुद्ध किया है। गाँव में अब भी पनघट का दृश्य नीरस नहीं हुआ है। 'पनघट' सुनते ही हमारी आँखों के सामने असाढ़ की नव घटा सी सुन्दर दस-पाँच युवतियाँ बिजली-सी मुस्कुराती प्रकट हो जाती हैं। कोई घड़े जल में डुबो रही है, कोई हौले-हौले माथे पर रख रही है, कोई गजगामिनी चाल से आगे बढ़ रही है कोई एक दूसरे को किसी सरस प्रसंग पर छेड़ रही है:—

> "पनघट से आ रही पीत वसना युवती सुकुमार,
> किसी भाँति ढोती गागर यौवन का दुर्वह भार।
> बनूँगी मैं कवि उसकी मांग, कलस का जल, सिन्दूर सुहाग।"

पीत वसना से पीले वसन्ती रंग की चूनरी में सिमटती हुई सुन्दरियों का चित्र प्रत्यक्ष हो जाता है। 'सुकुमार' से उसके अंगों की कोमलता और लावण्य ध्वनित होता है। इस सुकुमारी को गागर और यौवन दोनों का भार वहन करना है—तभी तो भार दुर्वह हो रहा है! और वह 'किसी भाँति' ढोती चली आ रही है। 'किसी भाँति' से युवती के मद भरे यौवन और आलस मंथर गति का भाव ध्वनित हो रहा है। यहाँ तक तो युवती के वर्णन में शृंगारिक रसिकता है, लेकिन आगे 'सुहाग' और 'सिन्दूर' से भव्यता का उदय हो जाता है। कलस, काजल, सिन्दूर और सुहाग ने पनिहारिन को कुलवधू के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है। 'पनघट' गाँव का पनघट है, शहर का कोई 'पार्क' नहीं।

गुलाब, कमल, जूही, रजनीगन्धा आदि फूल कवियों के बड़े प्रिय हैं। इन फूलों की सुगन्ध अनपहचानी-सी हो रही है। गाँव की अपनी पहचानी सुगन्ध 'मकई की सुरभि' और हल्की पुरवैया पर आती हुई 'वन तुलसी की गन्ध' है। सन्ध्या समय का एक और चित्र देखिए:—

> "टिमटिम दीपक के प्रकाश में पढ़ते निज पोथी शिशुगण,
> परदेसी की प्रिया बैठ गाती यह विरह गीत उन्मन।
> 'भैया लिख दे एक कलम खत मों बालम के जोग,
> चारों कोने खेम कुसल माँझे ठाँ मोर वियोग।"

आँगन में चटाई बिछाकर धुँधले दीपक की रोशनी में बच्चे पोथी पढ़ रहे हैं। 'पोथी' गाँव की अपनी चीज है। टिमटिमाता दीपक गाँव की गरीबी और आलस्य का परिचायक है। कवि ने परदेसी प्रियतम के वियोग में उन्मन विरहिणी के दिलकी धड़कन साफ-साफ सुनी है। 'बालम' की मिठास वल्लभ, स्वामी और पति को नसीब नहीं। 'बालम' का और मीठा रूप 'बलमुजी' है। 'चारों कोने खेम कुशल, माँझे ठाँ मोर वियोग' पंक्ति द्वारा ग्रामीण प्रेमिका का भोला प्यार चित्रित

किया गया है। गाँव का विरह गाँव की बोली में कितना मीठा लगता है ग्राम के साध्य सौन्दर्य में पर्याप्त रमण कर कवि की कविता उषःकाल के प्रभाती गीतों पर लहरायी है और पुजारिन की कंठ-हिलोर बनकर अग-जग भिगो देना चाहती है। अविरल बहने वाली भक्ति-अश्रु-धारा की निर्मल गंगा के किनारे फूलों की डालियाँ लेकर आई हुई रमणियों को कवि कैसे भुला सकता है! भोर और साँझ गाँव की इन दो रमणीय वेलाओं का कवि ने अंकन किया है।

वसन्त के ऋतुराजत्व को स्वीकार करते हुए भी गाँवों ने पावस को ही अपना सर्वाधिक प्यार अर्पित किया है। वर्षा पर किसानों की सारी आशा-अभिलाषा टंगी रहती है। वर्षा काल में रोपनी के समय धन-खेतों की शोभा और बढ़ जाती है :—

"कवि, असाढ़ की इस रिमझिम में धनखेतों में जाने दो,
कृषक सुन्दरी के स्वर में अटपटे गीत कुछ गाने दो।"

गरीब किसानों का एक मात्र उत्सव यह 'रोपनी' है। आषाढ़ की रिमझिम वर्षा हो रही है, रोपनियाँ भींगती जाती हैं, गाती जाती हैं। 'अटपटे' शब्द से उनका अल्हड़ आनन्द ध्वनित हो रहा है। इसी कविता में बच्चों के दूब-बिछौने पर खेलने का भी वर्णन किया गया है। कवि की कविता 'मकई की सुरभि' और 'पके आमफल की लाली' बनने के लिए मचल रही है—'मैं मकई की सुरभि बनूँगी पके आमफल की लाली।' नायिका के गुलाबी कपोलों की लाली बनना अब उसे पसन्द नहीं। सिंदुरिया आम की लाली और मकई की सुगन्ध, बस ये दोनों गाँव की एक ही चीज हैं। मकई के धान की गंध बड़ी पतली और फैली हुई होती है। घने खेतों की हरियाली से गंध मन्द-मन्द कुछ ऊपर उठती है और फिर हरे-हरे पत्तों पर ही पसर जाती है। धीमी, पतली, हल्की, सुनहरी गंध के लिए 'मकई की सुरभि' का प्रयोग कितना कलात्मक है!

"ग्राम्या" को पंत की 'बौद्धिक सहानुभूति' प्राप्त है। 'कविता की पुकार' को का दिनकर का हार्दिक स्नेह उपलब्ध है। एक में ऊपर-ऊपर देखने का प्रयास है दूसरे में अनायास भीतर पैठने की बेकली है :—

"सूखी रोटी खायेगा जब कृषक खेत में धर कर हल,
तब दूँगी मैं तृप्ति उसे बन कर लोटे का गङ्गाजल।"

खेतों में दिन भर बैलों के साथ खटने के बाद अभागे किसान को सूखी रोटी खाने को मिलती है। सूखी रोटी से कहीं तृप्ति मिलने को! वह तो प्रेम के साथ जी भर गङ्गाजल पी लेने के बाद ही आती है। चिलचिलाती धूप में साफ मँजे हुए लोटे का गङ्गाजल तन-मन को शीतल कर देता है! चलते हुए हल को खड़ा करके

(धर कर हल) रोटी खाने में किसानों के जीवन की व्यस्तता वर्णित हुई है, साथ ही चित्र भी स्पष्ट हो गया है। 'वन फूलों की ओर' में गाँव की भयंकर दरिद्रता का चित्र देखकर पाठक उसके सौन्दर्य को बिसर कर शोकाभिभूत हो जाता है! क्या ही अच्छा होता यदि कवि हमें ग्राम-सौन्दर्य में रस लेते हुए छोड़कर स्वयं अलग हो जाता।

अन्य चित्र—

प्रकृति के अधिक चित्र 'रेणुका' और 'रसवंती' में ही आ सके हैं। शेष कृतियाँ, 'हुँकार', 'सामधेनी', 'कुरुक्षेत्र' आदि इनसे विहीन हैं। रेणुका में कवि की चित-वृत्ति प्रायः अतीत-सुख में रमण करती पाई जाती है। सर्व प्रथम कृति होने के कारण इसमें यौवन के मधु का संस्पर्श मिलता है। इसकी कुछ कविताओं में कवि की मनःस्थिति शांत और स्निग्ध पाई जाती है। बाल रवि की कोमल अरुणिमा दिनकर की प्रारम्भिक रचनाओं में पाई जाती जाती है। 'हुंकार' में यौवन का ताप तीव्र हो उठा है। 'सामधेनी' में वह प्रज्वलित हो रहा है। युवाकाल की कविता प्रायः प्रकृति, प्रेमिका, या आदर्श के सम्मोहन से प्रेरित होकर लिखी जाती है। 'रेणुका' में प्रकृति, नारी और स्वदेश तीनों के प्रति कवि के सहज प्रेम-भाव व्यक्त हुए हैं। यथार्थ जीवन के संघर्ष से परिचित नहीं होने के कारण किशोर-जीवन कल्पना-लोक में विचरण कर सुख पाता है। भारत का स्वर्णिम अतीत, खंडहरों की कथाएँ और प्रकृति की रंगस्थली कवि-कल्पना को अनुरंजित करती रहती है। रेणुका के 'कलातीर्थ' में चाँदनी रात का एक चित्र है:—

> "पूर्णचन्द्र-चुँबित निर्जन वन, विस्तृत शैल प्रांत उर्वर थे,
> मसृण, हरित दूर्वा-सज्जित पथ, वन्य कुसुम-द्रुम इधर-उधर थे,
> पहन शुक्र का कर्ण विभूषण दिशा-सुन्दरी रूप-लहर से
> मुक्त कुन्तला मिला रही थी अवनी को ऊँचे अंबर से।"

चन्द्रिका-स्नात प्रकृति-सुन्दरी का उपर्युक्त रूपांकन कुछ कृत्रिम प्रतीत होता है। यहाँ संयुक्तवर्णों का प्रयोग कुछ रूखड़ापन ला देता है। 'र' कार की कर्कशता ने चित्र में तनाव के साथ कड़ापन भर दिया है। चाँदनी के वर्णन में ओज की अपेक्षा माधुर्यगुण का समावेश हितकर सिद्ध होता; क्योंकि इस पीठिका पर जो सुन्दरी अवतरित है, वह शत स्वर्गों का मधु अपने स्वर में भरकर सोने की नैया में बीन बजा रही है। कोमल कलेवरा स्वर्गीय सुन्दरी के अनुकूल पद-माधुरी भी अपेक्षित है। लेकिन सुन्दरी के प्रकट होने पर प्रकृति सुकोमल हो जाती है:—

> "लहरें खेल रहीं किरणों से, ढुलक रहे जलकण पुरइन में
> हलके यौवन थिरक रहा था, ओस-कणों सा गान-पवन में।"

'ढुलक' और 'कण' पदों के द्वारा बड़ी-बड़ी बूँदों का मुलायम पत्ते पर ढुलकना सुन्दरता से अंकित हुआ है।

"लहर-लहर में कनक शिखाएँ
झिलमिल झलक रही लघु सर में।"

उक्त पंक्ति पर एक मित्र ने यह शंका प्रकट की है कि उजली चाँदनी रात में तालाब की लहरें लाल कनक शिखा सी क्यों दीख पड़तीं? आग की लपटों का प्रेमी कवि चाँदनी रात में भी लाल रोशनी देखता है! कविता के प्रारम्भ में 'पूर्ण चन्द्र चुंबित' से यह भ्रम हो जाता है कि पूर्णिमा का चाँद खिलखिलाकर हँस रहा है। ऐसी हालत में लहरें चाँदी के समान उजली दीख पड़ेंगी—लाल नहीं। लेकिन, कवि ने 'चुंबित' शब्द द्वारा क्षितिज में सद्यः उदित चन्द्रमा की ओर संकेत किया है। आगे की पंक्ति द्वारा यह और स्पष्ट हो जाता है :—

"कोमल पग चढ़ रहा पूर्ण विधु क्षितिज छोड़कर मध्य गगन में।"

चाँद उगते समय सिंदुरिया आम के समान दीख पड़ता है; आसमान में ज्यों-ज्यों वह ऊपर उठता है, दूधिया रंग पकड़ता जाता है। इसलिये उगते समय के चाँद की किरण को 'कनकाभ' कहना कवि के सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिणाम है।

'रेणुका' की 'निर्झरिणी' प्रकृति चित्रण के उद्देश्य से नहीं लिखी गई है। इस तरह का वर्णन शुद्ध प्रकृति के अन्तर्गत नहीं आ सकता। प्रकृति में मानवीकरण का स्थान है और उसका मानवी रूप श्लाघ्य भी होता है। लेकिन प्रश्न यह है कि प्रकृति का मानवी रूप उसका अंग बनकर आवे या अंगी? दृश्यांकन में मानवीकरण उपमान हो सकता है उपमेय नहीं; नहीं तो प्रकृति चित्रण के उद्देश्य में ही व्याघात उत्पन्न होता है। निराला की 'जूही की कली' और दिनकर की 'निर्झरिणी' में कली और झरने की स्वाभाविक छवि की छाप चित्त पर नहीं रह पाती। इनमें समन्वित प्रभाव क्रमशः रभस लीला और विरह निवेदन का पड़ता है। प्रसाद की 'बीती विभावरी' में मानवीकरण शोभाकारक धर्म बनकर अलंकार के रूप में व्यक्त हुआ है। प्रकृति-चित्रण में जहां मानवीकरण अलंकार की जगह अलंकार्य का आसन ग्रहण कर लेता है, वहीं उसका स्वाभाविक सौन्दर्य नीचे दब जाता है। 'निर्झरिणी' में विरहिणी का रूप आरोपित किया गया है, लेकिन रूपक दूर तक खींचे जाने के कारण नैसर्गिक छटा की कमर टूट गई है। निर्झरिणी की नव जलधारा, तीक्ष्ण प्रवाह, जल भ्रमर, धार के नीचे चमकने वाले स्वच्छ पत्थर, बहुवर्णी फूल पत्ते आदि के रूप-सौन्दर्य के दर्शन नहीं हो पाते

यह और बात है कि 'निर्झरिणी' में विरहिणी नारी की आत्मा का भाव-वैदग्ध्य अपूर्वता से व्यंजित है।

पंत के प्रकृति-अंकन में जिस प्रकार आध्यात्मिकता बाधक हुई है, दिनकर में उसी प्रकार राष्ट्रीयता। दिनकर के मानस की प्रत्येक लहर में अतीत का सुनहला रंग चमक रहा है। किसी भी परिस्थिति में कवि अतीत की मीठी कसक को नहीं बिसार पाता। अतीत का प्रेमातिरेक प्रकृति-सौन्दर्य में हिलकोरें उत्पन्न कर उसे हिला-डुला देता और चित्र थरथरा कर ओझल होने लगते हैं। अतीत-प्रेम अपनी जगह पर ठीक है, लेकि खामखाह उसे हर जगह छेड़ते रहना बुद्धिमानी नहीं। जैसे छायावादी कविता में आँसू की झलक मिलती है वैसे ही दिनकर की कविता में अतीत की झलक। दिनकर को अपनी राष्ट्रीय भावना का संयम करना चाहिये। अधिक ऊँचे स्वर में गरजने वाली वेदना कानों को गड़ती है। कवि को अपनी अतीत भावना पर लगाम नहीं है। खींचते रहने पर भी 'मुँह जोर तुरङ्ग लौं' यह उसे खंडहरों में घसीट ले जाती है। वसन्त, शरत्, पावस — किसी भी दृश्य को आँकते समय ये अतीत को भूल नहीं सकते। अतीत का तीर इनके दिल में—'तिरछे ह्वै जु अड़े।'

"भावुक मन था, रोक न पाया, सज आये पलकों में सावन।
नालंदा-वैशाली के ढूहों पर बरसे पुतली के घन।
दिल्ली की गौरव समाधि पर आँखों ने आँसू बरसाये।
सिकता में सोये अतीत के ज्योतिर्वीर स्मृति उग आये।"

—रे०, कर्मदेवाय।

'वसन्त के नाम पर' (हुं०) कुछ पंक्तियाँ लिखते समय कवि का अन्तस्तल उद्वेलित होकर सिकुड़ जाता है। 'सुंदरता को जगी देखकर जी करता मैं भी कुछ गाऊँ' लेकिनः—

"कलम उठी कविता लिखने को अन्तस्तल में ज्वार उठा रे!
सहसा नाम पकड़ कायर का पश्चिम पवन पुकार उठा रे।
देखा शून्य कुँवर का गढ़ है, झाँसी की वह शान नहीं है।
दुर्गादास, प्रतापबली का प्यारा राजस्थान नहीं है।
क्या गाऊं सतलज रोती है।"

पराधीन कवि को वसंतोत्सव मनाने का कोई हक नहीं है। रावी, सतलज को रोते देख आँसू झरेंगे या गीत फूटेंगे। राष्ट्र-प्रेम की दृष्टि से देखा जाय तो कवि की यह लाचारी सोलहों आना सच है। लेकिन, प्रकृति का चितेरा कहेगा कि वसंत-वर्णन की दिलासा देकर कवि ने हमें आँसुओं के देश में ले जाकर छोड़ दिया। कालिदास ने पार्वती के कटाक्ष का वर्णन करते हुए लिखा है कि कह नहीं सकता

कि पार्वती ने मृगांगना *से चंचल चितवन सीखी या मृगांगना ने पार्वती से। मैं भी ठीक नहीं कह सकता कि रोना-कलपना अतीत से दिनकर ने सीखा या दिनकर से अतीत ने।

'मिथिला में शरत्' 'विश्वछवि' और 'अमासंध्या' [रेणुका] के प्रकृति-चित्र अतीत के आँसुओं से भरसक गीले नहीं हुए हैं। 'मिथिला में शरत्' के प्रारम्भ में 'खंडहर से निकली एक परी, गंडकी कूल खेतों में आ हरियाली में हो गई खड़ी' पढ़कर माथा ठनका कि इस परी बेचारी को अब जार-बेजार रुलाए बिना कवि नहीं छोड़ेगा। लेकिन नहीं, मर्म की आँखों से कलित वस्तु-विधि बेर-बेर हेरकर वह शारदीय-सौन्दर्य में आत्मविभोर हो जाती है, उसे कभी-कभी खंडहर की याद सताती है—बस, इतना ही। जान बची, लाखों पाए!

'ग्रीष्म हो तरु की छाँह रहे, पावस हो प्रिय की बाँह रहे' हमें रहीम की 'टूट टाट घर टपकत...' की याद दिलाती है। खैर, शारदी निशा की दिव्य शोभा का वर्णन देखा जाय—

"शारद निशि की शोभा विशाल, जगती-ज्योत्स्ना का स्वर्णताल,
श्यामल शुभ शस्यों का प्रसार, गंडक मिथिला का कंठहार।
चंद्रिका-धौत वालुका-कूल, कंपित काँसों का श्वेत फूल॥"

उपर्युक्त पंक्तियों में चारो ओर फैली हुई चाँदनी की विस्तृत शोभा का वर्णन है। 'आ'—स्वर से युक्त कई शब्द व्यवहृत हुए हैं:—जैसे, शारद, शोभा, विशाल, ताल, वालुका आदि। 'आ' की ध्वनि में छितराती हुई, चौड़ी होती हुई छवि का चित्र मूर्त्तिमान होता है। लम्बे लटकते हुए हार को अनुस्वार [कंठ] और आकार [हार] द्वारा चित्रित किया गया है। हवा की सनसनाहट 'काँसों' और 'श्वेत' की सों-श्वे-ध्वनियों द्वारा कर्णगोचर हो रही है। ऐसी शोभाशाली जन्म-भूमि के प्रति कवि का यह उद्गार स्वाभाविक है—

"हे जन्म भूमि शत बार धन्य, तुझ-सा न 'सिमरिया घाट' अन्य,
तेरे खेतों की छवि महान, अनिमंत्रित आ उर में अजान,
भावुकता बन लहराती है, फिर उमड़ गीत बन जाती है।"

खेतों की हरियाली छवि भावुकता बन कर गीतों में परिणत हो जाती है। कूलों पर फूली हुई काँस-परी की सुन्दरता कवि की आँखों में समा गई है। शरत्-ऋतु में खिलने वाले अनेकों फूलों, जिनमें रूप और गन्ध की कमी नहीं, को छोड़कर

---

*प्रवात नीलोत्पल निर्विशेषमधीर विप्रेक्षित मायताक्ष्या।
तया गृहीत नु मृगाङ्गनाभ्यः ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः॥
—कुमारसंभव, १।४६

कवि की दृष्टि बबूल के पेड़ों पर जाती है। बबूल और बेर में भीनी-भीनी सुगन्ध वाले फूल और मंजरियाँ होती हैं। दिनकर ने इनकी शोभा को बड़े भाव से चित्रित किया है :—

"है बिछी दूर तक दूब हरी, हरियाली ओढ़े लता खड़ी,
कासों के हिलते श्वेत फूल, फूली छतरी ताने बबूल,
अब भी लजवन्ती भीनी है, मंजरी बेर रस भीनी है।
कोयल न कीर तो बोले हैं, कुररी मैना रस घोले हैं।
कवियों की उपमा की आँखें, खंजन फड़काती हैं पाँखें।
रजनी बरसाती ओस ढेर, देती भू पर मोती बिखेर,
नभ नील स्वच्छ सुंदर तड़ाग, तू शरत न शुचिता का सुहाग।"

इसके बाद 'सिमरिया-घाट' का वर्णन आता है। कार्तिक में गङ्गा-स्नान के लिए मिथिला के अनेक नर-नारी यहाँ जुटते हैं। कई परिवार तो पूरा महीना गङ्गा के तीर पर निवास करते हैं। पूर्णिमा की सुहावनी संध्या, गङ्गा की निर्मल धार, और सुन्दरियों की जल-क्रीड़ा कवि की कल्पना को सरस किये देती है:—

"शारद संध्या यह उगा सोम, बन गया सरित में एक व्योम,
शेखर उर में अब बिंधे बाण, सुंदरियाँ यह कर रहीं स्नान।"

स्नान करती हुई सुन्दरी को देखकर सरस हृदय में तत्काल मदन-पीड़न प्रारम्भ होता है। विद्यापति ने निःसंकोच भाव से इस सत्य को स्वीकार किया है- 'कामिनी करए स्नाने, हेरतहि हृदय हने पँचबाने।' मार्ग में आती हुई युवती अपने रूप, मर्यादा और वस्त्राभूषण के प्रति सशंक, सचेत रहती है। लेकिन स्नान करते समय उसका सौन्दर्य उन्मुक्त, निःशंक और गतिशील हो जाता है। 'अधखुले अंगों का मधुमास' आँखों में नशा घोल देता है। विद्यापति, बिहारी, भारतेन्दु आदि कवियों ने जल-केलिरता कामिनियों का सरस वर्णन किया है। घाट अगोरे हुए खड़े बिहारीलाल को देख कर 'बाबूसाहब' बौखला उठे हैं। 'कहुँ सुन्दरी नहात वारि कर जुगल उचारत' के चितेरे पर 'आचार्य' की कड़ी निगाह है। दिनकर ने इन रमणियों का वर्णन इस प्रकार किया है:—

"आग्रीव वारि के बीच खड़ी, गा रही मधुर प्रत्येक परी,
बिछली पड़ती किरणें जल पर, नाचती लहर पर स्वर लहरी।"

मिथिला की सुकुमारियाँ गीत और प्रीत में परम मधुर होती हैं। विद्यापति और शेखर के गीत इनके कोकिल-कंठों में निवास करते हैं। गंगा-स्नान, शिवपूजन, या किसी मांगलिक कार्य के अवसर पर इनके हृदय में संगीत हिलोरें लेने लगता

है। आकंठ जल में खड़ी प्रत्येक परी मधर-मधुर गा रही है। डुबकी लगाती हुई रमणियों की एक झाँकी:—

"डुबकी रमणियाँ लगाती हैं, लट ऊपर ही लहराती हैं।
जलमग्न कमल को खोज-खोज मधुपावलियाँ मँडराती हैं।"

डूबे हुए कमल को भौरे की पाँत खोज रही है। कमल और भौंरे की उपमा ने रमणी के मुख और *लट को कितना रमणीय बना दिया है! रमणियों के इस सिक्त सौन्दर्य को निरखने के लिए गगन का चाँद नीचे उतरना ही चाहता है:—

"नीचे आने विधु ललक रहा, मृदु चूम परी की पलक रहा
वह स्वर्ग बीच ललचाता है, भू पर रस प्याला छलक रहा।"

यहाँ ललकना और ललचना क्रियावादों का प्रयोग अपूर्व है। सुन्दरियाँ स्नान कर जल से बाहर निकल रही हैं:—

"परियाँ अब जल से चलीं निकल, तन से लिपटे भींगे अंचल
चू रही चिकुर से वारिधार, मुख-शशि-भय रोता अंधकार
विद्यापति! सिक्त वसन तन में, मन्मथ जागे न मुनी-मन में।"

तन से लिपटे हुए भींगे अंचल पर कवि की दृष्टि पहुँची नहीं कि उसे विद्यापति की ये पंक्तियां याद हो आती हैं: —'चिकुर गिरय जल धारा, जनु-मुख शशि भय रोय अँधारा—।' सद्यः स्नाता के वर्णन में विद्यापति का ध्यान स्वाभाविक है। मुझे तो ऐसा लगता है कि कवि के हृदय में जगती हुई शृंगार-भावना ने लजाकर विद्यापति के उत्तरीय में मुँह छिपा लिया है। कवि के शील-संकोची नेत्र यहाँ से चटपट छुट्टी छुड़ाकर गंगा-पूजन के पवित्र दृश्य को देखने में संलग्न हो जाते हैं। कवि की शृंगारिकता संयमित होने के लिए गार्हस्थ्य की ओर चल पड़ती है।

'विश्वछवि' में कवि निखिल सृष्टि के सौन्दर्य का अवलोकन करते हुए निमग्न हो रहा है। इस कविता में कवि की कैशोर-प्रवृत्ति का सुन्दर दिग्दर्शन हुआ है। निसर्ग की शोभा देखकर मन आपही आप उस पर रीझता है, फिर उसमें जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इसे प्यार करने से जी क्यों नहीं अघाता? अपने और प्रकृति के बीच एक रागात्मक सम्बन्ध का अनुभव कर कवि 'धन्य री जगती

---

*सुन्दरियों की लटों पर हमारे केसरी जी चकित हैं:—
'वे जपाकुसुम से पाँव, लगी है जिनपर मेंहदी की लाली,
वह जादूगर की परी शीश पर जिसने नागिनियाँ पालीं।"

पुलक भरी, कह कर पुलकित हो जाता है। सूर्य उत्साह और कर्म का संदेश ले उदित होता है, और चाँद प्यार का मधु लेकर मुस्कुराता है। किशोर-मन च को देखकर विविध प्रकार की रंगीन मोहक जालियाँ बुनता है। इसी वय में का भावना भी मन में प्रकंपन उत्पन्न करती है। यह भावना किशोर में किशोरी प्रति स्नेह उत्पन्न करती है, कल्पना में 'मिलन' का आनंद भरती है। 'चंदा हू अति सुन्दर तोहि नवल दुलहिया ब्यैहौं' में कौन-सा जादू है जो रोते कन्हैया मना लेता है! इस कविता में कवि पहले तो प्रकृति के रूप पर मुग्ध होते हैं औ तब किसी संगिनी के संग की अभिलाषा करते हैं: —

> 'चंद्रिमा-पट का कर परिधान, सजा नक्षत्रों से शृंगार
> प्रकृति पुलकाकुल आँखें खोल, देखती निज सुवर्ण संसार।
> धमकते तरु पर झिलमिल फूल बौर जाता है कभी रसाल।
> अंक में लेकर नीलाकाश, कभी दर्पण बन जाता ताल।
> चहकती चित्रित मैना कहीं, कहीं उड़ती कुसुमों की धूल
> चपल तितली सुकुमारी कहीं दीखती फुदक रहे ज्यों फूल"

फूलों का झिलमिलाना, तालाब के आईने में नीले आकाश का चमकन रंगबिरंगी मैना का चहकना, तितली का फूल की तरह फुदकना, फूलों की धूल उड़ना—ये सभी अभिव्यक्तियं बालकों की क्रीड़ा से सम्बन्धित हैं। आईना, धू तितली, मैना, फूल, आदि के बिना बालक रह ही नहीं सकते! दिनकर ने प्रकृ की रूप-माधुरी को इसी बाल-सुलभ भावना से देखा है। बिना किसी अलंकार चित्र कितने साफ उतरे हैं:-

> "हरे वन के कंठों में कहीं, स्रोत बन जाते उज्वल हार,
> पिघल कर चाँदी ही बन गई, कहीं गंगा की झिलमिल धार
> उतरती हरे खेत में इधर खींचकर संध्या स्वर्ण दुकूल
> व्योम की नील वाटिका बीच उधर हँस पड़ते अगणित फूल।"

'पिघलकर चाँदी ही बन गई' की 'ही' में बालक के हठ और विश्वास झाँकी मिलती है, कंठ-हार और सुनहली साड़ी के प्रति आकर्षण है; 'हँस पड़ते तो बालक का स्वभाव ही ठहरा। नीचे की पंक्तियों में साफ-साफ बोलने की प्रवृ प्रकट हुई है:-

> "फूलों की क्या बात? बाँस की हरियाली पर मरता हूँ,
> अरी दूब, तेरे चलने जगती का आदर करता हूँ।
> इच्छा है, सौ-सौ जीवन पा इस भू-तल पर आऊँ मैं
> बनी पत्तियों की हरियाली से निज नयन जुड़ाऊँ मैं

तरु के नीचे बैठ सुमन की सरस प्रशंसा गाऊँ मैं,
नक्षत्रों में हँसूँ, ओस में रोऊँ और रुलाऊँ मैं।"

हँसना, गाना, रोना, रुलाना—इनमें बालक को कितना आनंद आता है। 'सौ-सौ जीवन' में गिनती करने की, दूसरे से बढ़ जाने की बाल-प्रवृत्ति का दर्शन कीजिए। रोता बच्चा औरों को भी बिना रुलाए नहीं छोड़ता। बच्चे का रोना भी अच्छा लगता है, घर सुहावना मालूम पड़ता है;—कहीं सयाने आदमी रोने को मचल पड़ें तो तमाशा खड़ा हो जाय! पौरुष और सुकुमारता के अनुकूल प्रवृत्ति के रंगमंच पर दिनकर ने बालक और पंतजी ने बालिका का पार्ट अदा किया है। आकाश के बिखरे मोतियों की एक माला तैयार कर कवि अपनी प्रेयसी को पिन्हाना चाहते हैं। रंगों के प्रेमी किशोर अपनी प्रेयसी का विविध प्रकार से शृंगार करना चाहते हैं:—

"किसी बाल युवती की ग्रीवा में वह हार पिन्हाऊँ मैं
हरी दूब पर चंद्र-किरण में सम्मुख उसे बिठाऊँ मैं।
श्वेत, पीत, बैजनी कुसुम से मैं उसका शृंगार करूँ,
कविता रचूँ, सुनाऊँ उसको हृदय लगाऊँ प्यार करूँ।"

उक्त पद की अंतिम पंक्ति के वाक्य-खंड छोटे-छोटे, सीधे सादे और भोले-भाले हैं। एक पंक्ति में दिल की सारी बातें कितनी सरलता से कह दी गई हैं!

'अमासंध्या' कविता कल्पना-प्रधान है। इसमें संध्या एक सुन्दरी के रूप में चित्रित की गई है। झिल्ली की झंकार सुनकर कवि के मन में तरह-तरह की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। यह झंकार न जाने किस सुन्दरी के नूपुर से उत्पन्न हो रही है। यह विश्व की हृदय वीणा की झंकार है या अंधकार की लहरियों का कंपन है या अमा-सुन्दरी के हृदय का गुन-गान है या किसी विरह गीत का उन्मन स्वर है? संध्या-समय सूर्य की अंतिम किरणें लहरों पर पड़ रही हैं:-

"अंतिम किरणें भर गईं उर्मि-अधरों में मोती के चुम्बन
वन-कुसुम वृंत पर ऊँघ रहे, दूर्वा-मुख सींच रहे हिमकण।"

माखनलाल चतुर्वेदी इन पंक्तियों की कल्पना पर बेहद रीझे हैं। बिछुड़ते समय प्रिय का चुम्बन कितना रस प्रदान करता है! अपनी कवरी से तारे रूपी कलियों को बिखेर कर अमा-सुन्दरी अब लहरों में अठखेलियाँ कर रही है:—

"नीलिमा सलिल में अमा खोल कलिका गुंफित कवरी-बंधन
लहरों पर बहती इधर-उधर कर रही व्योम में अवगाहन।"

रेणुका की 'कोयल' भी कवि के प्रकृति-प्रेम का एक सुन्दर उदाहरण है। ऋतुओं में वसन्त और पक्षियों में कोकिल कवि समुदाय के बड़े प्यारे रहे हैं।

अमराइयों में बौरों के बीच छिपी हुई कोयल की 'कु-कू' से सारा वातावरण तरंगित होने लगता है। इस कोयल ने केवल कवि का ही ध्यान आकृष्ट किया हो, ऐसी बात नहीं, गाँव के नर-नारी इसकी मादक काकली सुनकर अधीर हो उठते हैं। अपने बगीचे में एक चरवाहे के मुँह से सुनी हुई यह पंक्ति मुझे अभी तक याद है,—'आज दिन बोले कोइली, भोर भिनसरवाँ। आजु बोले आधि रतिया हो रामा...।' कोयल यदि सामने आकर कूकती तो इसके रूप रंग को देखकर बड़ी निराशा होती। कोयल के गीत सुनते ही कवि उसके स्वर की मिठास के उद्गम की कल्पना करने लगते हैं। ऐसा मीठा स्वर कोयल कहाँ से ले आई। किस नन्दन वन की स्वर्ण तटी से वह अपने स्वरों के लिये ये मधुकण भर पाती है। कवि उस स्वर्ण प्रभात और अमरावती की कल्पना करता है जहाँ प्रथम-प्रथम कोयल अपनी काकली में मधुरस घोलती है। कवि के सामने उस आश्रम का चित्र आ जाता है, जहाँ सखियों से घिरी हुई शकुंतला अपने प्रियतम के लिये कमल-पत्र पर, 'तव न जाने हृदयं' लिख रही है। हो न हो इसी शकुन्तला के हृदय-स्पंदन से कोयल ने अपने स्वर में कसक भर ली हो। कोयल की काकली कवि को यथार्थ जगत के सूखे तृणों से हटाकर कल्पना के छाया-वन में पहुँचा देती है। "कैसा होगा वह नन्दन वन! सखि, जिसकी स्वर्ण तटी से तू स्वर में भर-भर लाती मधुरकण।" इसी कविता में षोड़शी ऊषा का यह चित्र है :—*

"नत नयन लाल कुछ गाल किये, पूजा हित कंचन थाल लिये
ढोती यौवन का भार, अरुण कौमार्य-विन्दु निज भाल दिये।
स्वर्णिम दुकूल फहराती सी अलसित, सुरभित मदमाती-सी
दूर्वा से हरी भरी भू पर आती षोड़शी उषा सुन्दर।"

पर्वत और निर्झर अपने बीच इस स्वर्गीय षोड़शी को देखकर फूले न समाते। ऊषा की किरणें पड़ते ही स्वच्छ पत्थर चमकने लगते हैं। झरने के दोनों किनारे फूल मुस्कुराते हैं। निर्झर षोड़शी के सुनहले सुहाग भरे अंचल को देखकर गद्गद हो रहा है।

पर्वत के पद-प्रांतर दृश्य का यह स्वाभाविक वर्णन है :—

---

* कन्येव तन्वा शाशदानां एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती। ऋग्वेद, १।१२३।१०

अर्थात हे उषादेवि, तुम कन्या की तरह अपने अंगों को विकसित करके दानपरायण और दीप्तमान सूर्य के निकट जाओ। अनन्तर कुछ हँसती हुई अपने प्रियतम सूर्य के सामने अपना हृदय-देश उघारो।

"गिरि के पदतल पर आस पास, मखमली दूब करती विलास
भावुक पर्वत के उर से झर, यह चली काव्य-धारा निर्झर—
हरियाली में उजियाली-सी, पहने दूर्वा-सी हरित चीर
नव चंद्रमुखी मतवाली सी, पद-पद पर छितराती दुलार
वन हरित भूमिका कंठहार।"

दुलार छितराती हुई मतवाली निर्झरिणी की छटा दर्शनीय है। दुलार छितराना कितना सुन्दर प्रयोग है! दिनकर ने जहाँ जहाँ गति के (बोल चाल के) क्रियापदों का प्रयोग किया है, वहाँ काव्य की व्यंजना शक्ति निखर उठी है। इसी सिलसिले में आश्रम का भी वर्णन आया है। निर्झर बह रहा है। कुछ मृगछौने तट पर पाँव पसारे (निश्चिंत) लेटे हैं। कुछ तो मृगी के अंगों पर उछल रहे हैं। कहीं गायें चर रही हैं, बछड़े दूध पी रहे हैं। ऋषि कन्याएँ वृक्ष सींच रही हैं :—

"रोमन्थन करती मृगी कहीं, कूदते अंग पर मृग-कुमार;
अवगाहन कर निर्झर तट पर लेटे हैं कुछ मृग पद पसार।
टीलों पर चढ़ती गाय सरल, गो-शिशु पीते माता का थन,
ऋषि बालाएँ ले-ले लघु घट हँस हँस करतीं द्रुम दल सिंचन"

उपर्युक्त चित्र कवि की प्रतिभा के परिचायक हैं। मृग, मृगछौने और गो-शिशुओं की क्रियाओं द्वारा शांति पूर्ण वातावरण का चित्र अंकित किया गया है। मृगी की जुगाली करने की क्रिया उसकी मानसिक निर्भयता की सूचक है। ऋषि-बालाओं का हँस हँसकर सिंचन करना उनके सरल स्वच्छंद जीवन एवं विकसित यौवन को अभिव्यक्त कर रहा है। कवि का कोयल से यह पूछना कैसा प्यारा लगता है :—

"किन कलियों ने भर दी श्यामा, तेरे कंठों में यह मिठास,
किस इन्द्रपुरी ने सिखा दिया, स्वर का कंपन, लय का विलास"

कोयल की मधुर मादक काकली सुनकर हमारा मन एक अलौकिक लोक में संतरण करने लगता है। पुनः, इसी भूतल पर एक दिव्य सौन्दर्य की झाँकी देखकर आत्म-विभोर हो जाता है। जीवन की विकट वास्तविकता से पिंड छुड़ा कर 'कोयल' हमें उस अलकापुरी की ओर ले जाती है, जहाँ धूप का तीखापन नहीं, चांदनी की कपूर छाया है, जहाँ यथार्थ का दुखद दर्शन नहीं, कल्पना का मलय समीरण है और जहां विनाशकारी शूर्पणखा की विषमयी वासना नहीं बल्कि सरला शकुन्तला का सात्विक प्रणय है। कवि की 'कोयल' हमारे शुष्क

जीवन-तृषा को अपने मधुमय कण से सदा सरस करती रहेगी—इसमें कोई संदेह नहीं।

'रसवंती' में कवि की भावना मानव हृदय में रस खोज रही है। प्रकृति की 'नगन माधुरी' की ओर वह उन्मुख नहीं दीखती। नारी के अम्लान रूप और निर्मल प्रेम के सामने प्रकृति बिसर गई है। शायद नारी में ही प्रकृति की सारी छवि समा गई है। 'रेणुका' की 'ऊषा', 'निर्झरिणी' आदि में नारी छवि दीख पड़ती है और 'रसवंती' की नारी छवि में ऊषा, निर्झरिणी आदि दीख पड़ती हैं। रसवंती में प्रकृति के स्वतंत्र चित्र बहुत ही कम आये हैं। 'पावस-गीत' और 'सावन' में न तो पावस के श्यामल रूप का अंकन है न सावनी समा का किंचित आभास। इनके शीर्षकों से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि वर्षा के नैसर्गिक सौन्दर्य का वर्णन करेंगे। लेकिन, नहीं--'पावस गीत' उनके विदग्ध हृदय का उच्छ्वास है :—

"मैंने भी क्या हाय, हृदय में अङ्गारे पाले, सजनी
...पलभर को भी हाय व्यथाएँ टलीं नहीं टाले सजनी।"

कवि की यही रूदनेच्छा 'सावन में' बनी रहती है :—

'अब तो रोना पाप नहीं, पावस में सखि, जी भर रोले!'

'विजन' में कवि ने प्रकृति का शांत एकांत रूप चित्रित किया है। मैं हूँ तो कहाँ हूँ? ये मेघ, ये झरने; ये वृक्ष—आखिर ये सब कब से हैं? क्यों हैं? आदि अनेक प्रश्न इनके मन में उत्पन्न होते हैं। बिल्कुल एकांत में मन के अन्तमुर्ख हो जाने से उपर्युक्त प्रकार के प्रश्न सबों के मन में उठते हैं। 'विजन में' चित्त की उन्मन दशा का अच्छा चित्र उतरा है। सभी तो शांत हैं; लेकिन—'हिलडुल एक लता की फुनगी इंगित में कुछ बोल रही है।' यह हिलती हुई फुनगी प्रकृति की निर्जनता को और साकार कर देती है।

रसवंती की 'संध्या' में गंभीर निस्तब्धा, गंभीर अंधकार और विस्तीर्ण सन्नाटे का दृश्य अंकित है। संध्या के इस भव्य, विराट रूप को देख कर सभी वसुंधरा शांत और अभिभूत हो जाती है। इस कविता के छंद और शब्द-प्रयोग में एक प्रकार की त्रासोत्पादकता है। छंद की गति में किसी आसन्न भय की आशंका प्रतीत होती है। पढ़ते समय ऐसा लगता है कि कोई अति प्राकृत घटना घटित होने जा रही है। कविता के प्रारंभ में ही रक्त पीते आकाश रूपी कापालिक के हाथ से मधु-पात्र गिर पड़ता है और सूर्य भी छप से डूब जाता है :—

"जीर्णवय अंबर-कपालिक शीर्ण, वेपथुमान
पी रहा आहत दिवस का रक्त मद्य समान।

'सन्ध्या' की कसी हुई पदावली और संश्लिष्ट चित्र-योजना में उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करने की कलात्मक क्षमता वर्त्तमान है।

प्रकृति-वर्णन के सिलसिले में अभी तक जो कुछ कहा गया है, उसके अनुसार दिनकर के प्रकृति-चित्रण को हम छः भागों में विभाजित कर सकते हैं।

क—प्रकृति का सहज उत्फुल्ल रूप। इसके अन्तर्गत प्रकृति के उन रूपों का वर्णन आता है जो स्वस्थ सन्तुलित व्यक्ति के चित्त पर (प्रकृति के सुन्दर रूपों को देखने से) सहज अंकित होते हैं। हमारी दृष्टि के सामने प्रकृति के जो व्यापार घटित हो रहे हैं उनका सरल स्वाभाविक वर्णन इसके अन्तर्गत है। 'वनफूलों की ओर' में मकई की सुरभि, पके आम की लाली, असाढ़ की रिमझिम, टिमटिमाते दीपक में बालकों का पढ़ना, चूल्हे का बारी-बारी जलना आदि प्रकृति के प्रसन्न चित्र हैं। दिनकर ने प्रकृति के इन व्यापारों को बिना किसी भावनात्मक रंग चढ़ाए चित्रित किया है। 'मिथिला में शरत' में बबूल के फूल, कांस के फूल, सुन्दरियों की जल-केलि आदि का अंकन इसी कोटि में परिगणित है। इसमें 'कोयल' के आश्रम का चित्र भी सम्मिलित किया जा सकता है।

ख—प्रकृति का मानवी रूप। इसमें प्रकृति, प्रायः नारी का रूप धारण कर कवि के सामने अपना सलज्ज अवगुंठन खोलती है। पुरुष के मानस में सतत निवास करने वाली काम-भावना, कामिनी की छवि की कल्पना करते ही, हर्षित हो जाती है। मानस में तैरती हुई अप्सरा का आलिंगन कर हमारा 'मनोज' सन्तृप्ति का अनुभव करता है। अनादिकाल से पुरुष प्रकृति के साथ रमण करता आ रहा है। ऋग्वेद में ऊषा का अभिसारिका-रूप हमारी रमण-भावना का द्योतक है (यद्यपि कई स्थलों पर वह देवी और माता के रूप में भी प्रयुक्त हुई है।) सरिता-सागर, लता-विटप, कली-भ्रमर, रजनी-चंद्रमा, ऊषा-सूर्य आदि युग्मों में प्रेम-व्यापार के दर्शन हमारी विस्तृत प्रणय-भावना के परिचायक हैं। हमारे अन्दर का 'पुरुष' अपनी बनाई हुई सृष्टि के साथ रमण करता है। दिनकर ने ऊषा, संध्या, रजनी, गंगा, निर्झरिणी आदि की कई स्थलों पर मानवी रूप में वर्णना की है। प्रसाद, पंत महादेवी में ऐसे चित्र जितने चाहिए मिलेंगे। *

"अप्सरि तेरा नर्त्तन सुन्दर।
आलोक तिमिर सित असित चीर सागर गर्जन रुनझुन मजीर
उड़ता झंझा में अलक जाल, मेघों से मुखरित किंकिणि-स्वर"

—महादेवी

"फटा हुआ था नील। वसन क्या ओ यौवन की मतवाली!
देख अकिंचन जगत लूटता तेरी छवि भोली भाली।"

—प्रसाद कामयनी।

ग—प्रकृति का विराट भव्य रूप। इसमें प्रकृति रूप-वर्णन अत्यंत विराटता और व्यापकता के साथ किया जाता है। ससीम मानव को निःसीम अनंत प्रकृति का रूप विराट प्रतीत होता है। वह इसका चतुर्दिक् प्रसार और अखंड कार्यकलाप देखकर चकित विस्मित और मुग्ध हो जाता है। समुद्र का गर्जन, पवन का संचरण, चन्द्र-सूर्य की परिक्रमा आदि व्यापार कवि के चित्त को पूर्णतया प्रभावित करते हैं। ऐसे दृश्य तो सभी के सामने प्रत्यक्ष हैं; लेकिन उनमें भव्यता का साक्षात्कार करना कवि-प्रतिभा का काम है। पन्त ने 'मौन-निमंत्रण' में प्रकृति के भव्य विराट दृश्यों का सफलता के साथ अंकन किया है। 'ऊँघता एक साथ संसार', 'बुलबुलों का व्याकुल संसार' आदि चित्रों में प्रकृति की विराटता सजीव दीख पड़ती है। दिनकर की संध्या में इस भव्य विराट्रूप की झाँकी मिलती है। कलातीर्थ और 'विश्वछवि' में एकाध स्थल प्रकृति की भव्यता को व्यक्त करने में सफल हुए हैं।

घ—प्रकृति का पृष्ठाधार रूप। इसमें प्रकृति पृष्ठ भूमि के रूप में प्रयुक्त की जाती है। इसके द्वारा काव्य में आगे घटित होने वाली घटनाओं का पूर्वाभास मिलता है। घटना विशेष पर प्रकाश डालना, उसे चित्ताकर्षक बनाना भी इसका एक प्रधान उद्देश्य है। घटित होने वाले क्रिया-व्यापार यदि एकाएक पाठकों के सामने अवतरित हो जायँ तो उनके चित्त को झटका-सा लग सकता है। प्राकृतिक पृष्ठाधार के द्वारा कवि पहले हमारी मानसिक भूमि को तैयार करता है। प्रकृति की पीठिका से यह अनुमान हो जाता है कि आगे अब किस प्रकार की घटना चित्रित होने वाली है। विरहिणी, पति परित्यक्ता श्रद्धा को उपस्थित करने के पूर्व 'कामायनी' में प्रकृति के सांध्यरूप की पीठिका प्रस्तुत की गई है :—

> "संध्या अरुण जलज केसर ले अब तक मन थी बहलाती
> मुरझाकर कब गिरा तामरस उसको खोज कहाँ पाती!
> क्षितिज भाल का कुंकुम मिटता मलिन कालिमा के कर से।
> कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मँडराती।"

दिनकर ने 'सामधेनी' में प्रकृति का पृष्ठ-भूमि के रूप में बड़ी सफलता के साथ उपयोग किया है :—

> "वृद्ध सूर्य की आँखों पर माँड़ी सी चढ़ी हुई है,
> दम तोड़ती हुई बुढ़िया-सी दुनिया पड़ी हुई है।"

—— साम०, अंतिम मनुष्य,

इसमें अंतिम मनुष्य द्वारा देखा हुआ विनष्ट संसार का चित्र उतारा गया है। महानाश के चित्रण के पहले, मटमैले बादल से ढके हुए सूर्य का वर्णन माँड़ी-चढ़ी

ई आँख के रूप में किया गया है। इसी एक पंक्ति से आगे आने वाले दृश्य
ाभास मिल जाता है। सामवेनी की 'कलिंग-विजय' में अशोक द्वारा बह
ई रक्त-धारा के बीच, तैरती हुई लाशों के वर्णन के पूर्व कवि ने नर के पा
ो झाँक कर घन-खंड में छिपते हुए विन्धु का अंकन बड़ी कुशलता के सा
किया है :—

"छा गया तम आ गये तारे तिमिर को चीर,
आ गया विधु; किंतु क्यों आकृति किये गंभीर ?
और उस घन खण्ड ने विधु को लिया क्यों ढाँक ?
फिर गया शशि क्या लजाकर पाप नर के झाँक ?
चाँदनी घन में मिली है छा रही सब ओर,
साँझ को ही दीखता ज्यों हो गया हो भोर।"

—प्रकृति का भावना रोपित रूप। इसमें कवि अपनी मनोभावनाओं को प्रकृ
र आरोपित करता है। यदि उसके हृदय में उस समय व्यथा है तो प्रकृति रोती, औ
ानंद है तो वह विहँसती दीख पड़ेगी। सच पूछिए, तो प्रकृति न कभी हँसत
, न रोती है। हम उसमें अपनी हँसी खुशी का प्रतिरूप देखना चाहते हैं। न
लहिन आने के दिन दुलहे को ऐसा लगता है कि 'कैसे कर्कश काग-कंठ में आ
ा गई मीठी भाषा'! प्रियतमा के संयोग और वियोग में प्रेमी को चंद्रम
भी सुधा बरसाता, कभी आग उगलता नजर आता है।* तटस्थ व्यक्ति
ाए चाँद जस-का-तस रहता है। रसवती में दो-चार स्थलों पर प्रकृति
ावनारोपित रूप चित्रित हुए हैं। काम विह्वला राधा को चाँदनी रात ऐस
गती है :—

---

*'प्रबन्ध चिन्तामणि' में एक कथा है। राजा भोज और कुलचंद्र एक दिन छ
र बैठे थे। भोज ने कहा :—

'येषां वल्लभया सह क्षणमिव क्षिप्रं क्षपा क्षीयते।
तेषां शीतकरः शशिर्विरहिणामुल्केव संताप कृत्॥

अर्थात् प्रेयसी के संयोग से चंद्रमा शीतल प्रतीत होता है, और रात भी पल
ारते कट जाती है; लेकिन प्रियतमा के विरह में चंद्रमा उल्का की तरह कष्टदाय
तीत होता है। इस पर बेचारे कुलचंद्र ने जवाब दिया :

अस्माकं तुन वल्लभा न विरहस्ते नो भयभ्रंशिनाम्
इन्दू राजति दर्पणाकृतिरसौ नोष्णो न वा शीतलः।'

अर्थात् महाराज, हमारे न तो स्त्री है, न विरह ही और न उसका भय
सलिए दर्पणवत् यह चंद्रमा न ठंढा ही मालूम पड़ता है न गरम ही।

"चाँदनी में उमड़ी सब ओर, कहाँ के मद की मधुर उफान
गिरा चाहता भूमि पर इन्दु शिथिलवसना रजनी के संग।'

'सावन में' और 'पावस' के फूटते हुए बुलबुले में कवि ने अपने दिल के छाले की कसक देखी है।

च—प्रकृति का अलंकरण रूप। इसमें प्राकृतिक वस्तुओं का उपमा, रूपक आदि अलंकारों के रूप में प्रयोग किया जाता है। प्रकृति कविता—कामिनी का अलंकार बनकर सुशोभित होती है। अभिव्यंजना में चमत्कार, सौन्दर्य और शक्तिमत्ता उत्पन्न करने के लिये प्राकृतिक उपमानों का काव्य में प्रयोग किया जाता है। रीतिकाल की प्रकृति नायिका के अंगों को अलंकृत करने में बड़े उत्साह से भिड़ी है। दिनकर ने भी, अन्य कवियों की तरह, प्रकृति से उपमान लेकर अपने काव्य को अलंकृत किया है :—

"रागानल के बीच पुरुष कंचन-सा जलने वाला,
तिमिर-सिंधु में डूब रश्मि की ओर निकलने वाला,
ऊपर उठने को कर्दम से लड़ता हुआ कमल-सा
ऊब-डूब करता, उतराता घन में विधु-मण्डल-सा।
—कुरुक्षेत्र, सर्ग ७।"

कवि के प्रारम्भिक जीवन के साथ प्रकृति का जो मनोरम संबन्ध था, देश के बढ़ते हुए संघर्ष के कारण वह हौले-हौले हटता गया। 'बापू', 'कुरुक्षेत्र' और 'सामधेनी' में प्रकृति शायद ही कहीं आलंबन के रूप में प्रकट हुई हो। नागरिक जीवनकी संकुलता ने दिनकर की तरह कई कवियों को वनफूलों की ओर से विमुख कर दिया है। 'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है' जैसे गीतों में प्रकृति माधुरी का समावेश असंभव है। कवि की प्रकृति सौन्दर्य की पिपासा अभी तक अतृप्त या अर्द्धतृप्त रही है। देश दुर्दशा के कारण वह खुलकर निकल नहीं पाती; लेकिन दिनकर के उपचेतन में वह दमित होकर पीन होती जा रही है। सुअवसर मिलते ही कवि की दमित प्रकृति-भावना काव्य-क्षेत्र अपना हौसला अवश्य पूरा करेगी।

काव्य-सौन्दर्य

मम्मट ने काव्य-उत्पत्ति के तीन हेतु,—शक्ति, निपुणता और अभ्यास में प्रथम को कवित्व का बीज रूप माना है। इसके बिना काव्य बन नहीं सकता, यदि बनता भी तो हास्यास्पद होता है। हेमचन्द्र ने भी अपने 'काव्यनुशासन' में काव्य-रचना का एक मात्र कारण केवल शक्ति (प्रतिभा) को माना है। इनने स्पष्ट कहा है कि व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य रचना को सुसंस्कृति, परिमार्जित करने वाले संस्कारक हैं, × कारण नहीं। दिनकर में उत्कृष्ट काव्य के सभी हेतु वर्तमान है। ईश्वर प्रदत्त, जन्मजात 'सहजा' और परिश्रम द्वारा प्राप्त 'उत्पाद्या' ये दोनों प्रकार की प्रतिभा दिनकर में विद्यमान हैं। सरल शब्दों द्वारा मार्मिक भावों की कलात्मक व्यंजना—कवि-प्रतिभा को परखने की सामान्य कसौटी है। पिछले पृष्ठों में इस ओर संकेत करने का प्रयास किया गया है, आगे भी इसके लिए पर्याप्त अवसर मिलेंगे। दिनकर में निपुणता और अभ्यास इन दोनों की भी कमी नहीं है। हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, बंगला और अँग्रेजी के प्रमुख काव्यों के गम्भीर अध्ययन ने कवि की भारती को प्रांजल और प्रौढ़ बना दिया है। सतत अभ्यास से दिनकर का हाथ इतना मँज गया है कि पद्य की तो बात ही क्या, कवियों के निकष गद्य में भी इनने अच्छा ख्याति प्राप्त कर ली है।

रचना की दृष्टि से दिनकर की काव्य कृतियों का वर्गीकरण कुछ कठिन प्रतीत होता है। कवि ने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकार के काव्यों की रचना की है। काव्य के अन्तर्गत, पहले नाटक, कविता मुक्तक आदि का समावेश किया जाता था।

समय की प्रगति के साथ, अपनी विशेषताओं के कारण काव्य के भेदोपभेद अपनी भिन्न सत्ता घोषित करने लगे। संभवतः श्रम और उत्पादन के वर्गीकरण का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा हो। इन दिनों कविता नाटक, कहानी.

---

* शक्ति : कवित्वबीजरूपः संस्कार विशेषः। या
विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्।
—काव्य प्रकाश, प्र० उल्लास।

× प्रतिभैवच कवीनां काव्य-करण कारणम्।
व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव संस्कार कारकौ न तु काव्यहेतू॥
—काव्यानुशासन।

एकांकी, उपन्यास, आलोचना, निबन्ध आदि अनेक शाखाएँ अपनी स्वतंत्र स्थिति और विकास की सूचना दे रही हैं। प्रत्येक के कौशल और शैली में दूसरे से प्रत्यक्ष अन्तर दिखाई पड़ रहा है।

कुरुक्षेत्र को दिनकर ने 'प्रबन्ध कविता' कहा है। प्रबन्ध-काव्य शब्द से परिचित कान कविता सुनकर कुछ खालीपन का अनुभव करते हैं। संभवतः क्षीण कथावस्तु, दुर्बल घटना, कृश कलेवर और संक्षिप्त वर्णन के कारण 'काव्य' की जगह 'कविता' का उपयोग किया गया है। 'कुरुक्षेत्र' के निवेदन में दिनकर ने कहा है, "मुझे जो कुछ कहना था वह युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग उठाए बिना भी कहा जा सकता था, किन्तु, तब यह रचना, शायद, प्रबंध के रूप में नहीं उतर कर मुक्तक बनकर रह गई होती। तो भी यह सच है कि इसे प्रबन्ध के रूप में लाने की मेरी कोई निश्चित योजना नहीं थी।" इससे यह स्पष्ट है कि यदि कुरुक्षेत्र में से युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग उठा दिया जाता तो यह मुक्तक हो जाती, वर्ना यह प्रबंध कविता है। प्रबन्ध कविता का एक मात्र उदाहरण 'कुरुक्षेत्र' ही है। शेष रचनाएँ मुक्तक के अन्तर्गत आयेंगी, लेकिन इनमें भी सामधेनी की 'कलिंग विजय' और 'जय प्रकाश' एवं 'बापू' ऐतिहासिकता और वस्तु के कारण प्रबंध की ओर झुकी-सी हैं। शुद्ध मुक्तक कविता का उदाहरण द्वन्द्वगीत है। इसका प्रत्येक पद स्वतंत्र है। इसके हर पद में जो भाव या विचार व्यक्त हुआ है, वह अपने आप में करीब-करीब पूर्ण है। 'रेणुका' 'रसवंती' आदि पुस्तकों में अधिकांश कविताएँ वर्णनात्मक हैं। कवि की कुछ कविताएँ कोमल सुकुमार भावों की प्रधानता के कारण गेय हो उठी हैं। इन सब दृष्टियों से विचार करने पर दिनकर–काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

१—**प्रबन्ध कविता**—'कुरुक्षेत्र'

२—**मुक्तक कविता**। इसके चार भेद :—

क—वृत्तात्मक—ऐतिहासिक वृत्त या घटना का आधार लेकर जिन कविताओं में भावाभिव्यंजन हुआ है; जैसे :—'जयप्रकाश' 'बापू' 'कलिंग-विजय' आदि इन कविताओं में भाव व्यक्ति घटना को केन्द्र मान कर मँडराते रहते हैं और पढ़ते समय प्रसंग-बोध की अपेक्षा बनी रहती है।

ख—वर्णनात्मक। ऐसी कविताओं में प्राकृतिक दृश्य, स्थान या देश-दशा का सीधा वर्णन रहता है। सिद्धांत या नीति-कथन के लिए भी इसका उपयोग ('रेणुका' की कलातीर्थ) किया गया है।

रसवंती, की 'रसवंती', 'सध्या', 'अगरुधूम', 'पुरुष-प्रिया' और 'रेणुका' की 'कोयल' 'कलातीर्थ' आदि के अन्तर्गत समाविष्ट हैं।

ग—भावात्मक। इस प्रकार की कविताओं में मधुर या उग्र भावों में से किसी एक की प्रधानता रहती है। इनमें शृंगारिकता, प्रणय, उत्साह, करुणा सहानुभूति, रोष, क्रांति आदि भावों को प्रायः एकाधिक सम्मिश्रण पाया जाता है। दिनकर की उत्कृष्ट रचनाएँ इसी वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। हिमालय, विपथगा, हाहाकार, साथी, आग की भीख, आदि कविताएँ भावात्मक मुक्तक की श्रेणी में हैं।

घ—गेयात्मक। जीवन के मधुर क्षणों में, राजनीतिक जय-पराजय और सुख-दुख से ऊपर उठकर 'निरुद्देश्य प्रसन्नता' से जहाँ आत्मा गुनगुना उठती है,—ऐसे गीतों का सृजन होता है। इस प्रकार की गेयात्मक कविताएँ—गीत—बहुत कम रची गई हैं। रसवंती के ये गीत इस के अन्तर्गत हैं:—'गीत अगीत कौन सुन्दर है' 'सोच रहा कुछ गा न रहा मैं' और 'संगिनि, जी भर गा न सका मैं।'

अंतिम प्रकार की मुक्तक कविता (गेयात्मक) की ओर दिनकर की चित्तवृत्ति रमती नहीं दीखती। गीति-काव्य में हृदय का उल्लास, अनुभूति की मार्मिकता और आत्मा का संगीत रहता है। कभी विपुल सौन्दर्य से अभिभूत होकर प्राण गा उठता है, कभी निराशा की नीलिमा में मन छूट जाता है; और अभी विरह की वेदग्धता में दिल बल उठता है। गीति काव्य में किसी मर्माहत वेदना की टीस रहती है या उल्लसित आनन्द की पुलक। मीरा, घनानन्द, सूर और तुलसी में यह वेदना और उल्लास वर्त्तमान है। प्रसाद, पन्त और महादेवी में आत्मा का सगीत, वेदना का सौन्दर्य एवं करुणा को स्रोत प्रवाहित हो रहा है। गीतिकाव्य को अनुभूति अत्यन्त मार्मिक होनी चाहिये। सांसारिक सुख-दुख, लाभ-हानि, जय-पराजय से ऊपर उठकर कवि भाव-गगन में जब उन्मुक्त विचरण करता है तभी आँखों से चुपचाप उमड़ कर कविता बह जाती है। राष्ट्र की अन्चोगति से व्यथित कवि 'वीणा के तार' को तोड़-मरोड़ कर फेंक देते हैं। बसंत और चाँदनी के बीच भी उन्हें खंडहर की याद सारी रात रुला देती है। ऐसी परिस्थिति में कवि का यह पश्चात्ताप उचित ही है:—

> **"संगिनि, जी भर गा न सका मैं।**
> **रँगता रहा गुलाब-पटी पर अपना चित्र उठा न सका मैं।"**

गीति काव्य अन्तर्मुखी होता है; वह वाह्य-जगत् की छान-बीन में, सुधार-संहार में उत्सुकता नहीं दिखाता। दिनकर की क्रांतिकारी कविताओं का उद्देश्य दुनिया के 'नीरों' को सावधान करना, पापी जार को सजग करना और पाप-परावार का शोषण करना है। इनकी कविता भूखे बच्चे के लिए दूध और प्यासे हलवाहे के

के लिए लोटे का गङ्गा जल बनना चाहती है। राष्ट्रीय कवि में जनता की यह अभिलाषा होनी ही चाहिए; यदि वह भी नैराश्य, भक्ति, प्रणय और सौन्दर्य की ओर उन्मुख होकर अन्तर्मुखी [Introvert] हो जाय तो राष्ट्र का कल्याण, उसका तात्कालिक उद्धार, अनिश्चित हो जायगा। इसलिए यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि दिनकर के काव्य में उच्चकोटि के गीतों का अभाव है। सफल गीत की प्रारम्भिक पंक्ति में इतनी निश्छलता, निश्चलता और संगीतात्मकता रहती है कि उसके श्रवणमात्र से ही हृदय में एक स्पन्दन, प्रकम्पन और आलोड़न होने लगता है। पाठक का मानस एकाएक किसी अलौकिक लोक की आभा पाकर गीतिमय हो जाता है।

'मीड़ मत खिंचे वीन के तार' 'आह वेदना मिली विदाई,'
'कौन तम के पार, रे कह' 'मैं विरह की बात रे मन।

आदि पंक्तियाँ हमें अनायास भावों की अलकापुरी में पहुँचा देती हैं। वर्त्तमान वातावरण की रुक्षता, ऐहिकता और नश्वरता तत्काल सरसता, अलौकिकता, और चिरतनता में परिवर्तित हो जाती है।

एक गीत में प्रायः एक ही भाव की प्रधानता रहती है। चित्त कुछ क्षणों के लिए उसी भावदशा में रमण करना चाहता है। हठात् किसी विरोधी भाव के आगमन से चित्त में ठेस लगती है। प्रणय, वेदना, नैराश्य आदि भावनाएँ अपने पूरे वेग के साथ गीतों में ही उतरती हैं। इनके बीच विरोधी भावना के पड़ने से धारा छिन्न-भिन्न हो जाती है। हाँ, उस मूल भावना को उत्प्रेरित, उद्दीप्त और तीव्रतर करने के लिए, उसके सहायक भाव आ सकते हैं। दिनकर के कुछ गीतों छोड़ कर अधिकांश कविताओं में प्रायः एकाधिक भावों का समावेश हो जाता है। इसका आशय यह नहीं है कि इनकी कविताओं में परस्पर विरोधी भावनाएँ आकर प्रभाव-अन्विति को तोड़-मरोड़ देती हैं, बल्कि, इसका तात्पर्य सिर्फ इतना ही है कि इनकी कविताएँ दो-तीन भावनाओं को लेकर कुछ चौड़ी हो जाती हैं। इससे, भाव-शाखा में कई टहनियाँ फूट जाती हैं। एक ही कविता में, घृणा, विद्वेप स्मृति, करुणा, उत्साह, गर्व आदि भाव सम्मिलित होकर उसकी तीव्रता को कुछ मंथर कर देते हैं। ऐसी कविता गेयात्मक नहीं हो पाती।

भावना और संवेग प्रधान होने के कारण गीतिकाव्य की शैली सामासिक और संश्लिष्ट होती है। भाव की गूढ़ता को अभिव्यंजित करने के लिए शब्दों की प्रचुरता उचित नहीं। कहीं-कहीं तो, 'रे' 'हाय', 'आह' आदि पदों की उपस्थिति ही—हृदय में अनुकूल भाव उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ होती है। शोक, आनन्द, नैराश्य, कारुण्य आदि को सूचित करने के लिए सफल कवि कम-से-कम शब्दों का

प्रयोग करता है और कभी-कभी तो कुछ नहीं कह कर सभी कुछ कह देता है। कालिदास और तुलसीदास इस कला के पूरे मर्मज्ञ हैं।

दिनकर में शब्द-लाघव का प्रायः अभाव पाया जाता है। इनमें 'अर्थ व्यंजन ध्वनि आगत शोर' की कला का सम्यक् विकास अभी तक नहीं हो पाया है। इनके हृदय में भावों का तूफान उठ जाता है, और ये उनको पूरी तरह सम्हाल नहीं पाते, नियंत्रित नहीं कर सकते। 'परिचय' में कवि ने अपने को 'बँधा तूफान' और 'देवों उद्दाम निर्झर धार' कहा है। सो, उचित ही है। क्योंकि जब कभी यह तूफान चढ़ता है तो बड़े वेग से ही और पहाड़ की जड़ को हिलाकर चला जाता है। दिनकर की वाणी में गहराई की अपेक्षा जनसमुदाय को आसानी से समेटने वाली चौड़ाई अधिक है। दिनकर में तुलसी की विशालता और व्यापकता है, सूर की गम्भीरता और मार्मिकता नहीं।

गीतिकाव्य की कसौटी पर दिनकर के गीत पूरे खरे नहीं उतरते। फिर भी इनके जो दो-चार गीत उपलब्ध हैं, उनमें उपर्युक्त विशेषताएँ थोड़ी बहुत मात्रा में पाई जा सकती हैं। 'गीत अगीत कौन सुन्दर है' यह गीत हमारे नयनों के सामने निर्झरी-पाटल, शुक-शुकी, प्रेमी-प्रेमिका के मोहक चित्र उपस्थित करते हैं। चित्र कहने के लिये तीन हैं, लेकिन तीनों में रंग, तरंग और प्राण एक ही हैं। गीत-अगीत कौन सुन्दर है? इस प्रश्न का केवल संकेत कर दिया है, उत्तर नहीं दिया जाता है। निर्झरी, शुक और प्रेमी गीत के प्रतीक हैं एवं पाटल, शुकी और राधा अगीत की। यह पाठक के ऊपर निर्भर है कि वह किसे सुन्दर माने। 'बच्चन' ने अपनी 'पग ध्वनि' में ध्वनि की व्याख्या करके कला को रौंद दिया है; इसके विपरीत पंत ने, 'अरे, सुख-दुख के सहचर मौन, नहीं कह सकता तुम हो कौन।' कहकर कला को खिला दिया है। 'गीत-अगीत' के कवि इस अवसर पर बिल्कुल मौन हैं। पहले चित्र में विरह का गीत गाती हुई वेगवती निर्झरी के तट पर गुलाब यह सोच रहा है :—

……"देते स्वर यदि मुझे विधाता
अपने पतझड़ के सपनों का, मैं भी जग को गीत सुनाता,
गा-गाकर बह रही निर्झरी, पाटल मूक खड़ा तट पर है
गीत अगीत कौन सुन्दर है।

दूसरे चित्र में पत्रों से छनकर आती हुई वासंती किरण का संस्पर्श पाकर शुक घनी डालों में छिपकर गा रहा है, लेकिन नहीं अंडे सेती हुई शुकी का गीत स्नेह में सनकर रह जाता है :—

"गूँज रहा शुक का स्वर वन में, फूला मग्न शुकी का पर है।
गीत अगीत कौन सुन्दर है !

पाँख फुलाये आनन्द-विभोर शुकी का अंतर्गीत कितना सुन्दर होगा ! तीसरे चित्र में कोई राधा अपने प्रेमी का आल्हा सुनते ही घर से निकल, चोरी-चोरी नीम की छाया में छिपकर खड़ी हो यह सोचती है :--

"हुई न क्यों मैं कड़ी गीत की, बिधना !
यों मन में गुनती है।
वह गाता पर किसी वेग से फूल रहा इसका अंतर है।
गीत अगीत कौन सुन्दर है !

प्रेमी के गीत में उल्लास है, आह्लाद है, मादकता है; लेकिन इस राधा के उच्छ्वसित हृदय की गरम-गरम साँसवाली कसकती कड़ी को किसने सुना है। इस गीत में तन्मयता, आनन्द विभोरता और संकेत भरे हुए हैं। इस गीत का प्रत्येक चित्र सराहनीय है। 'चोरी-चोरी खड़ी नीम की छाया में छिपकर सुनती है' पंक्ति में सलज्ज प्रणय और औत्सुक्य का कितना अपूर्व समावेश हुआ है। नीम की हिलती-डुलती हलकी छाया छन-भर हमें गाँव में पहुँचा देती है। 'साँझ', 'आल्हा', 'राधा' 'बिधना' आदि पद वातावरण के निर्माण में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए हैं। 'साँझ' में झुटपुट अँधेरा लिपटा हुआ है, 'आल्हा' से मस्ती और अल्हड़पन फूट रहा है; 'राधा' प्यार की मचलती धार है ! उमड़ती जमुना है ! 'बिधना' किसी अबला के भाग का दयामय देवता है।

'शेषगान' में अपूर्ण जीव की 'पूर्ण' में विलीन होने की मीठी आकुलता है। माया से लिपटी जीवात्मा ब्रह्मानन्द का अमृत पीने के लिये छटपटा रही है :--

"परिधि-परिधि मैं घूम रहा हूँ, गंधमात्र से झूम रहा हूँ
जो अपीत रसपात्र अचुम्बित उसपर अधर लगा न सका मैं।
संगिनि, जी भर गा न सका मैं।

इस गीत में असीम को भुजाओं में बाँधने की बेचैनी का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। कवि माया के परदे को ज्यों-ज्यों हटाते जाते हैं, वह भेद और ही रहस्यपूर्ण हो जाता है। कवि की आत्मा अग-जग घूम चुकी लेकिन अभी तक 'अपना घर' न पहचान सकी।

भावात्मक कविता लिखने के पूर्व कवि के अन्तस्तल में ज्वार उठ जाता है। देश की अर्द्धनग्न, क्षुधातुर मूर्त्तियाँ आँखों के सामने आते ही हृदय में एक उद्वेलन

उत्पन्न होता है। अमानुषिक अत्याचार और शोषण देखकर चित्त सात्विक क्रोध से क्षुब्ध हो उठता है। वह कभी अपनी विवशता, पराधीनता का स्मरण कर क्लान्त निस्तेज और अश्रु सिक्त हो जाता है। सम्पूर्ण मानवता को अंधकार के गहन गर्त से दूर निकालने के लिए कवि 'आलोक धन्वा' धारण करते हैं। पददलितों के उत्पीड़न की समानुभूति 'विपथगा' को जन्म देती है। 'तांडव' 'विपथगा' और 'आग की भीख' जैसी कविताओं में ओजस्वी भावों का प्रचंड प्रदर्शन हुआ है। इनकी कविता की भाव-धारा कहीं तुंग शिखरों पर गर्जन करती है, कहीं प्रस्तर-खंडों को रलमलाती है, कहीं कूलस्थित रुक्ष वृक्षों को मरोड़ती है, कहीं साँपिन की तरह चिकने संगमर्मर पर समरती है, और कहीं तुमुल कोलाहल करती हुई, अनेक बल खाती हुई सागर में सम्मिलित हो जाती है। कवि की राष्ट्रीय-भावना और प्रगतिवाद का विवेचन करते हुए ऐसी कविताओं की शक्ति का उल्लेख किया जा चुका है। वर्णनात्मक कविता में भावानुभूति की तीव्रता मंद पड़ जाती है। इसमें भाव संयमित, व्यवस्थित और कभी-कभी वर्णना के कारण विस्तृत रूप से व्यक्त होता है। इसमें अनुभूति की अपेक्षा स्मृति चित्रण पर अधिक ध्यान रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि के पास भाव-निवेदन के लिए काफी अवकाश है, और विश्वास है कि श्रोता आश्वस्त होकर सहयोग दे रहे हैं। ऐसी कविता प्रायः शिथिल और लम्बी हो जाती है; फिर भी इसमें भाव छटा, वस्तु-सौन्दर्य और दृश्याकर्षण वर्त्तमान रहता है। इस कोटि में जिन कविताओं का ऊपर उल्लेख हुआ है, उनमें उक्त विशेषताएँ मौजूद हैं।

सफल काव्य में अनुभूति, कल्पना और बुद्धि तीनों तत्वों का आपेक्षिक मात्रा में समन्वय रहता है। भारतीय काव्य जीवन से अधिक संबंधित होने के कारण भावानुभूति को प्राधान्य देता रहा है। कल्पनाप्रिय काव्य यथार्थ की भूमि से ऊपर उठकर गगन-विहारी हो जाता है। फिर भी काव्य को अलंकृत, औचित्यपूर्ण और प्रभावशाली बनाने के लिए कल्पना और बुद्धि की आवश्यकता रहती ही है। कल्पना के सुनहले पानी से काव्य का खुरदरापन ढँक जाता है, और उसमें रमणीयता, स्वप्निल आकर्षण एवं संगीत का समावेश हो जाता है। कल्पना का संबंध रूप-सौन्दर्य से और अनुभूति का भाव सौन्दर्य से है। लेकिन रूप और भाव की पृथक् सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। देश के सुख-दुख से प्रभावित कवि के लिये कल्पना के साथ विलास करना शायद अपराध प्रतीत होता है। कवि की कविता मानव-वेदना के सरोवर से फूटती है और उसी से रस प्राप्त कर विकसित होती है। 'रसवंती' को कवि 'कुरूप पर्वत की बाँसुरी' न कह कर 'दाह की कोयल' कहते हैं। वह अपनी कविता-भ्रमरी से कहते हैं—'चूस-चूस

मकरन्द हृदय का, संगिनि, तू मधु-चक्र सजा। कल्पना सुकुमार अप्सरा है, जूही की कली है :—

> चिलचिलाती धूप का यह देश, कल्पने! कोमल तुम्हारा वेश
> लाल चिनगारी यहाँ की धूल, एक गुच्छा तुम जूही के फूल।"
>
> — रस० दाह की कोयल

दिनकर को उस कल्पना से चिढ़ है जो कवि को सदा तितली और फूल के देश में रमा कर घर से बेखबर कर देती है। 'वनफूलों की ओर' में कवि इस मायाविनी से पिंड छुड़ाना चाहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कल्पना छाया-युग के 'वीचि-विलास' से ऊबकर हृदय-रस पीने के लिए आकुल हो उठी है :—

> "अयि सगुण कल्पने मेरी! उतरो पंकज के दल से,
> अन्तःसर में नहला कर साजूँ मैं तुम्हें कमल से;
> मधु तृषित व्यथा उच्छ्वसित हुई, अंतर की क्षुधा अधर में री।
> तुम कौन प्राण के सर में री?
>
> —रस० अन्तर्वासिनी

> कितना जीवन-रस पिला-पिला पाली तुमने कविता प्यारी
> कवि गिनो घाव कितने खोलो, उर बीच उगे बारी बारी।"

वह कल्पना जो नवीन वस्तु, नवीन पात्र और नवीन कथा का सृजन करती है सृष्टिमूलक या सर्जनात्मक कही जा सकती है। ऐतिहासिक कथावस्तु में भी जि[illegible] अंश तक नवीन पात्र या प्रसंग का समावेश किया जाता है, वह उस अंश त[illegible] सर्जनात्मक है। 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' में दुर्वासा का शाप, 'रामचरित-मानस' में सरस्वती द्वारा मंथरा का बुद्धि-परिवर्त्तन तथा प्रसाद जी के मालविका, कोमा[illegible] कल्याणी आदि पात्र इसी कल्पना के प्रसाद हैं। प्रेमचंद के सूरदास और होरी [illegible] छाया किसी की रहे काया इन्हीं के द्वारा निर्मित हुई है। इस कल्पना का प्रचुरप्रयो[illegible] प्रबंध काव्य में किया जाता है। कवि की एकमात्र प्रबंध-कविता में इसका उप[illegible] योग नहीं किया गया है। अपने अनुभवों को काव्य में चित्रित करने के लिए उन्[illegible] फिर से अनुभूत किया जाता है; उनकी स्मृति की जाती है। कभी-कभी तो अनुभू[illegible] के साथ ही अभिव्यंजना हो जाती है या यों कहा जाय कि अनुभूति ही अभिव्यंजन[illegible] का रूप धारण कर लेती है। अनुभूतियों का पुनः अवतरण करनेवाली कल्पना स्मृ[illegible] मूलक या संस्मरणात्मक कही जा सकती है। यह कल्पना कभी कवि की वैयक्ति[illegible] आत्मानुभूति को जागरित करती है और कभी उसके चित्र में प्रसुप्त ऐतिहासि[illegible] भाव प्रतिमाओं को प्रदीप्त करती है। 'रसवंती' के कुछ गीतों में कवि के वैयक्ति[illegible]

विचारों और हृद्गत भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। इनने प्रेम, विरह, रूप, नारी, पुरुष आदि पर अपने भाव प्रकट किए हैं। यौवन की रूप-माधुरी का कवि ने जैसा अनुभव किया है, वह यहाँ व्यक्त है। 'रसवंती' की 'अधिकांश कविताओं में जन समुदाय का हर्ष-विषाद 'अपना' बनाकर प्रकट किया गया है।

मन अपनी ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से जिन भावनाओं, संवेदनाओं का प्रभाव ग्रहण करता है, चित्त पर उनका कोई न कोई चित्र अवश्य अंकित हो जाता है। वातावरण, परिस्थिति, संस्कार आदि के वैभिन्य के कारण प्रत्येक व्यक्ति पर एक ही मनोभाव से विभिन्न प्रकार के चित्र खिंचेंगे। 'जुलूस पर घोड़े दौड़ाए गए!' यह सुनकर मिल-मालिक, मजदूर, छात्र, कलक्टर और कार्यकर्त्ता के मन में भिन्न प्रकार के चित्र अंकित होंगे। मजदूरों से सहानुभूति रखने वाले कार्यकर्त्ता के सामने गंदे फटे छीथड़ों में लिपटे, औंधे मुँह गिरे, दुर्बल मजदूर की नंगी पीठ पर मतवाले घोड़े की कठोर टाप का दृश्य खड़ा हो जायगा। इसी प्रकार ग्रन्थों के अध्ययन या श्रवण से भी घटना विशेष का चित्र पाठक या श्रोता के चित्र पर अंकित हो जाता है। कुंवरसिंह की बहादुरी और मर्दानगी की कहानी सुनकर किसी भी भारतीय वीर की भुजा फड़क उठती है। ऐतिहासिक घटना की सत्यता में तिलमात्र भी संदेह नहीं होने से चित्र की रेखाएँ गहरी उतरती हैं। देश, काल, पारिवारिक सम्बन्ध आदि की निकटता से भावना में सघनता और तीव्रता आ जाती है। देश-भक्तों के लिए कुँवर सिंह का जन्मस्थान, जगदीशपुर, तीर्थ है, और इस गाँव की धूल चंदन है। ऐतिहासिक घटना से अनभिज्ञ या देश प्रेम से शून्य हृदय के लिए उपर्युक्त नाम निःसार प्रतीत होंगे। अशोक, प्रताप शिवाजी आदि के कृत्यों का प्रभाव दिनकर के हृदय में स्पष्टता के साथ खचित हुआ है। कवि ने भारतीय इतिहास का गम्भीर अध्ययन किया है। लेकिन इस 'गम्भीर' में नीरस पांडित्य की अपेक्षा सरस मर्मज्ञता है। भारतीय वीरों की रोमाञ्चक गाथाएँ कवि के हृदय-पटल पर सदा के लिए अंकित हो चुकी हैं। रामायण और महाभारत काल से लेकर गाँधी युग तक की ऐतिहासिक परम्परा के अनेकों चित्र दिनकर-काव्य में चित्रित हुए हैं। इन चित्रों के प्रभाव को कवि ने कई प्रकार से पाठकों के चित्र में प्रेषित किया है। प्रेषणीयता के लिए यह आवश्यक नहीं कि चित्र अपनी सम्पूर्णता के साथ उपस्थित किए जायँ। सफल कलाकार रंग, छाया या रेखा द्वारा संकेत, प्रतीक या वातावरण को ही अंकित कर प्रभावोत्पादन कर लेता है। प्रभावोत्पादन का साधन जितना ही सूक्ष्म होगा, कलाकार की प्रतिमा उतनी ही निखरेगी। कोमल अँगुलियों या पल्लवों का अंकन कर चित्रकार किसी सुकोमला रमणी की छवि की कल्पना हमें आसानी से करा सकता है। ऐतिहासिक भावप्रतिमाओं के

अंकन में कवि ने अपनी कल्पना का सफल प्रयोग किया है। ऐसे चित्रों का प्रभाव-क्षेत्र अन्य चित्रों की अपेक्षा सीमित रहता है। ऐतिहासिक चित्रों की आनंदानुभूति के लिए पाठक के चित्र की तदनुकूलता अपेक्षित है। भारतीय वीर गाथाओं से सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति को इनमें सद्यः आनंद की उपलब्धि नहीं होगी। यह ऐतिहासिक कल्पना पाठक के हृदय के प्रसुप्त चित्रों को प्रबुद्ध करती है। उनमें रस रंग का वह संचार करती है। जिन पाठकों के हृदय में कोई चित्र हैं ही नहीं, या हैं भी तो बहुत धुँधले, तो आनन्द की उद्भूति शायद नहीं होगी। ऐसे अवसरों पर ऐतिहासिक प्रसंग कोरे पाठकों के लिए रोड़े हो जाते हैं, जिज्ञासा को उत्पन्न कर वे रसानुभूति में बाधा पहुँचाते हैं। दिनकर का अतीत-रसायिक-हृदय खंडहरों में राजभवन और धूलिकणों में तलवार की झंकार सुनते हैं। 'हिमालय' कवि के प्रकृति प्रेम न छू कर उनकी ऐतिहासिक कल्पना को झकझोर डालता है। हिमालय को देखते ही पहले उसके दिव्य किरीट पर दृष्टि ठहरती है,। कर्त्तव्यशील कवि को उसकी चिर समाधि अच्छी नहीं लगती, वे उसे जगाने लगते हैं। जगाने में क्षण भर भी विलंब न सह सकने वाले आतुर कवि का ध्यान अपनी दुर्दशा पर आता है और तराई में बहने वाली गंगा-यमुना की अमियधार में तरंगित होने लगता है। देश की नारियों को अकाल काल कवलित होते देख इन्हें चित्तौर के 'जौहर' की स्मृति होती है। चित्तौर से राजस्थान, और राजस्थान महाराणा प्रताप की याद दिलाता है। वन-वन स्वतंत्रता-दीप लिए फिरने वाले बलवान से वनवासी राम का स्मरण होता है। राम से कृष्ण और कृष्ण से जरासंध के प्रदेश मगध की स्मृति होती है। अशोक और चन्द्रगुप्त की चर्चा के पश्चात्, पैरों पर पड़ी हुई मिथिला, कपिलवस्तु और वैशाली की याद आती है। द्वार-बंग का विद्यापति बंगाल के 'सोराज' का ध्यान दिलाता है। इससे स्पष्ट है कि कवि के हृदय में चित्रों की लड़ियां एक के बाद एक फिल्म की तरह सामने आती हैं। मन का कोई भाव या विचार निरपेक्ष और स्वतंत्र रह नहीं सकता। प्रत्येक छोटे-बड़े विचार के साथ अनेकों विचार घुले मिले रहते हैं। 'विचार-साहचर्य' के कारण मन एक ही क्षण में कहाँ से कहां दौड़ जाता है। बांसुरी की आवाज किसी के मन में संगीत-सम्मेलन, बारात, हँसी-मजाक, मार-पीट, क्षमादान, मित्र से माफी मांगना, पत्नी से माफी मांगना, पूजा की छुट्टी, और तब बनारसी साड़ी की याद उत्पन्न कर सकती है। क्षण-भर में बाँसुरी बनारसी-साड़ी हो जाती है। दिनकर की ऐतिहासिक कल्पना में विचार-साहचर्य की खोज बड़ी मनोरंजक सिद्ध होगी। कवि 'पाटलिपुत्र की गंगा' की तरह अतीत की धड़कनों को कान लगाकर सुनते हैं :—

"चल अतीत की रंगभूमि में, स्मृति पंखों पर चढ़ अनजान
विकल चित्त सुनती तू अपने चंद्रगुप्त का क्या जयगान ?"

गंगा के तीर पर कितने दिग्विजयी नृप के निशान उड़े होंगे कितने चक्रवर्तियों ने तीर पर अवमृथ-स्नान किया होगा; ये चित्र जिस प्रकार कवि के मानस में अंकित हैं, उसी प्रकार कविता में भी प्रकट हुए हैं। विजयी समुद्रगुप्त का गंगा की धार में तलवार धोना—कवि भुलाए नहीं भूलता। 'पाटलिपुत्र की गंगा' कवि की प्राचीन ऐतिहासिक स्मृतियों को जगाने में पूर्ण सफल हुई है। 'दिल्ली' और 'वैभव की समाधि पर' में मुगलकालीन ऐश्वर्य का हृदय हारी वर्णन हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने हर बादशाह और बेगम के सुख-दुख की कहानी संग रह कर देखी सुनी है।

कवि की कल्पना कुछ शब्दों के सहारे ऐसी मूर्त्तियों का निर्माण करती है, जिन्हें हम चक्षुरिन्द्रिय से स्पष्ट देख सकते हैं। कुशल गद्य लेखक इसी मूर्ति विधायिनी कल्पना के सहारे अपने पात्रों की चुने हुए शब्दों में तस्वीर खींचते हैं। प्रेमचन्द्र इस हुनर में सभी उपन्यास लेखकों से आगे हैं। ऐसे शब्द चित्र पाठकों के मानस में इस प्रकार उतर आते, कि वे कभी उन्हें बिसर नहीं सकते। काव्य में स्थूल वस्तु या सूक्ष्म भावों का शब्द चित्र सफल कलाकार आसानी से प्रस्तुत कर देता है चित्र जितना ही साफ होगा प्रेषणीयता उतनी ही शक्तिमती होगी। रसवंती में मूर्त्ति विधायिनी कल्पना का शब्द चित्र देखिए :—

अध खिले पद पर मौन खड़ी तुम कौन प्राण के सर।
भींगने नहीं देती पग की अरुणिमा सुनील लहर में री।"

'भींगने नहीं देती' और 'सुनील लहर' से चित्र में गति आ गई है। 'बालिका वधू' की प्रथम चार पंक्तियों में पहली बार ससुराल जाने वाली ग्राम-बाला का भोला चित्र है :—

माथे में सेंदुर पर छोटी दो बिंदी चम-चम-सी
पपनी पर आंसू की बूंदें मोती सी शबनम सी।"

संस्कृत का 'सिन्दूर' ग्राम-वधू की सुकोमल मांग में सेंदुर हो गया है। 'न्' बिन्दी बनकर माथे पर सुशोभित हो रहा है। चम-चम खास गांव की बोली है। इसके द्वारा बिंदी का हौले हौले चमकना सूचित हो रहा है। 'पपनी' मानो पिया के प्रेम से 'सकपका' रही है। 'विपथगा' में कल्पना द्वारा क्रांति की ज्वलंत मूर्ति प्रत्यक्ष की गई है :—

"मेरे मस्तक के छत्र-मुकुट वसु काल सर्पिणी के शत फन।
मुझ चिर कुमारिका के ललाट में नित्य नवीन रुधिर चंदन।

यहाँ कल्पना के साथ बहते रहने में मिलता है। कल्पना 'अनन्त यौवना उर्वशी' की तरह अपनी मादक नूपुर-झंकार से हमारे मानस को तरंगायित करती है। इसमें एक गुलाबी नशा है, जो पाठक को कविता से लिपटाए रखता है। ऐसा लगता है, जैसे 'उनींदी श्रुति' में 'विहाग की तान' सुनाई देती हो। इससे हर पुरानी पहचानी चीज में नयापन मालूम होता है। कल्पना नियन्त्रण को बर्दाश्त नहीं कर पाती। मस्ती अठखेली और ताजगी इसकी दासी है।

रस और भाव की दृष्टि से, अब दिनकर के कुछ पदों का सौन्दर्य-निरूपण किया जायगा।

कवि की राष्ट्रीय कविता में वीर, रौद्र और करुण रसों की प्रचुरता है। रेणुका, हुँकार, सामधेनी और कुरुक्षेत्र में इन रसों के अनेकों उदाहरण मिलेंगे। करुण, बीभत्स, वीर, रौद्र आदि रस शृंगार के विरोधी हैं। इसलिए वीर और करुण रस-प्रधान राष्ट्रीय काव्य में शृंगार और हास्य का समावेश नहीं किया जा सकता था। रसवन्ती और रेणुका के कुछ पदों में शृंगार रस के कुछ अंगों की व्यंजना हुई है। इन कविताओं में भी कवि का मुख्य उद्देश्य शृंगार-रस की निष्पत्ति न होने के कारण अधिकांश पदों में अपुष्ट रति और हर्ष स्मृति आदि संचारी भावों का ही चित्रण हुआ है। कहीं-कहीं शृंगार रस के उद्दीपन विभावों का ही सरस वर्णन करके सन्तोष कर लिया गया है। भारतेन्दु की कुछ कविताओं में राष्ट्रीय दशा को लक्ष्य करके हास की उत्पत्ति की गई है। भारतेन्दु काल में शत्रु से युद्ध करने की बेचैनी नहीं होने के कारण कवि को हास्य का सुयोग मिल गया था। अपनी दुर्बलता का अनुभव कर औरों पर व्यंग्य-प्रहार करना भी स्वाभाविक था। लेकिन दिनकर का युग संघर्ष का युग रहा है। युद्ध-स्थल में हास अस्वाभाविक है। यहाँ कर्त्तव्य परायणता, उत्साह और क्रोध की व्यंजना उचित है। रसवन्ती की रचना भी सैनिक के घर की मीठी याद के रूप में हुई है।

वीर रस उत्तम पात्र में आश्रित होता है। इसका स्थायी भाव उत्साह है। इसका देवता महेन्द्र और रंग सुवर्ण माना गया है :—

"दूध-दूध" फिर सदा कब्र की, आज दूध लाना ही होगा
जहाँ दूध के घड़े मिलें उस मंजिल पर जाना ही होगा
जय मानव की धरा साक्षिणी! जय विशाल की अम्बर की जय हो
जय गिरिराज! विन्ध्य गिरि जय जय! हिन्द महासागर की जय हो
हटो व्योम के मेघ पंथ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं।
"दूध-दूध" ओ वत्स! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।"

उक्त पद में उत्साह स्थायी रूप से वर्तमान है। कवि आश्रय है। पूँजीवादी सभ्यता (स्वर्ग) आलम्बन है; इसी के चलते शिशु-संसार कष्ट भोग रहा है। पूँजीवाद की निर्ममता उद्दीपन है। 'हटो व्योम के मेघ पंथ से' यह गर्व सूचक वाक्य और 'जय-जय' ध्वनि अनुभाव हैं। 'दूध-दूध' की पुकार की स्मृति वीर रस का संचारी भाव है।

'विपथगा', 'जवानियाँ' 'जय प्रकाश' आदि कविताओं के कई पद वीर-रस के उदाहरण स्वरूप रखे जा सकते हैं। 'बापू' से उत्साह भाव का एक उदाहरण दिया जाता है:—

"एकाकी हाँ एकाकी हूँ, डसना चाहे तो व्याल डँसे,
करुणा को जिसने ग्रसा, बढ़े आगे वह, मुझको काल ग्रसे।
मैत्री, विश्वास अहिंसा को जिस महादनुज ने खाया है,
है कहाँ छिपा! ले ले, भोजन फिर वैसा ही कुछ आया है,
बामी से कढ़ बाहर आवे, वह दनुज मुझे भी खाने को,
मैं हो आया तैयार, प्रेम का अन्तिम मोल चुकाने को।"

यहाँ उत्तम प्रकृति बापू वीर रस के आश्रय हैं। नोआखाली में अकेले घूमने वाले बापू से बढ़ कर और कौन वीर है! दानवता, साम्प्रदायिकता आदि शत्रु आलम्बन विभाव हैं। बापू की ललकार अनुभाव है, असीम धैर्य और आत्म गर्व संचारी हैं।

इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से* करुण रस की उत्पत्ति होती है। यह कपोत वर्ण होता है; इसका देवता यमराज है। अनिष्ट के अन्तर्गत द्रव्य-नाश और धर्म के अपघात के अतिरिक्त राष्ट्र का घोर दारिद्र्य, साम्प्रदायिक द्वेष, अशान्तता आदि समाविष्ट हो सकते हैं। पशु-पक्षियों का कष्ट, एक राष्ट्र का दूसरे पर अत्याचार आदि विषय करुणा रस के अन्तर्गत हैं।

'ऋण शोधन के लिए दूध-घी बेच बेच धन जोड़ेंगे।

(रेणुका) वाले पद में कवि या उसकी कविता करुण रस का आश्रय है। दारिद्र्य जनित शोक स्थायीभाव के रूप में अन्त तक व्याप्त है। महाजनों और धनपतियों की नीचता, (इतने पर भी धनपतियों की उन पर होगी मार) शोषण-उद्दीपन है। दूध देखकर शिशु का मचलना (शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलायेगी) भी उद्दीपन के अन्तर्गत आयगा। माता का बच्चे को बहलाना हृदय फाड़ने को उद्यत होना, प्रलाप, अश्रु-पात, स्तंभ आदि (मैं फाड़ूँगी

---

*इष्ट नाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्।
धीरैः कपोत वर्णोऽयं कथितो यम दैवतः॥

—साहित्य दर्पण, ३।२२२

हृदय, लाज से आँख नहीं रो पायेगी) अनुभाव है। कर्ज को कर्ज चुकाने में चिंता, बूँद-बूँद दूध बेचने में दैन्य और महाजनों द्वारा सताये जाने की याद में स्मृति आदि संचारी भाव हैं। 'विपथगा, 'हाहाकार', 'दिल्ली', 'हिमालय' आदि कविताओं में भी शोक भाव की व्यंजना हुई है; लेकिन इन कविताओं की परिणति रौद्र या वीर रस में हो जाने से पाठक के चित्त पर करुणा रस का स्थायी भाव नहीं रह पाता। ऐसी कविताओं में वर्णित शोक या रौद्र भाव को वीर रस के उद्दीपन या संचारी के रूप में ग्रहण करना चाहिए।

जहाँ, शत्रु या प्रतिद्वन्द्वियों की ललकार, आत्मसम्मान में चोट और गुरुजन अथवा देश के अपमान से प्रतिशोध की भावना उत्पन्न होती है, वहाँ रौद्र रस अविर्भूत होता है। इस रस का स्थायी भाव क्रोध, वर्ण लाल और देवता रुद्र है। शत्रु या विरोधी पक्ष आलंबन एवं उनकी चेष्टाएँ-कटुवचन, अनिष्ट कार्य, अधिक्षेप आदि— उद्दीपन होती हैं। अपने स्वार्थ-सुख-साधन के लिए जहाँ क्रोध प्रकट किया जाता है, वह हेय एवं निन्द्य है; लेकिन जहाँ जन-कल्याण के लिए, अनाचार का दमन करने के लिए, क्रोध का उदय होता है, वह अभिनंदनीय है। किसी निर्दोष को पिटते देख या किसी अबला पर अत्याचार होते देख जिसके हृदय में क्रोध का संचार नहीं हुआ, खून नहीं खौला, वह मृतात्मा है या मृत पिंड है। पाप और अनीति देखकर महात्मा एवं ज्ञानियों के मन में भी क्रोध उत्पन्न होता है, लेकिन उसका इतना सूक्ष्म उन्नयन हो जाता है कि कटुता का आभास तक नहीं रह पाता। महात्मा गांधी का सात्विक क्रोध असहयोग, सत्याग्रह और अनशन में परिवर्तित हो गया। अन्याय के प्रति मन में प्रतिक्रिया उत्पन्न होना स्वस्थ चित्त का लक्षण है। यदि महत् व्यक्तियों में क्रोध का उदय न हो तो संसार अंधेर नगरी हो जाय। साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के अनाचारों से दिनकर के हृदय में कई स्थलों पर सात्विक क्रोध की व्यंजना हुई है:—

"अब की अगस्त्य की बारी है, पापों के पारावार सजग,
बैठे 'विसू वियस' के मुख पर भोले अबोध संसार, सजग
रेशों का रक्त कृशानु हुआ, ओ जुल्मी की तलवार! सजग,
दुनिया के नीरो सावधान! दुनिया के पापी जार, सजग,
जानें, किस दिन फुंकार उठें, पद-दलित काल-सर्पों के फन
झन-झन झन...... !"

इस पद में नीरो जैसे क्रूर हृदय सम्राटों द्वारा किए गए अत्याचार, जार-शाही के जुल्म और पूँजीपतियों द्वारा भयानक शोषण उद्दीपन विभाव हैं। क्रूर शासक आलंबन विभाव है, कवि या उसकी क्रांतिभावना आश्रय है। 'रेशों

का रक्त कृशानु हुआ' यह अनुभाव है। रौद्र-रस में नेत्रों की रक्तता, भृकुटि-भंग, वक्रदृष्टि आदि अनुभाव होते हैं। वीर रस में उत्साह, उमंग आदि की प्रधानता के कारण उपर्युक्त अनुभाव रौद्र रस के अंतर्गत ही लिए जायँगे। अमर्ष, गर्व, उग्रता आदि भाव यहाँ संचारी हैं। 'दिल्ली' की पंक्तियों में क्रोध, अमर्ष, ग्लानि आदि भावों का सफल व्यंजना हुई है।

अद्भुत रस का चित्र 'जवानियाँ' में बड़ा सुन्दर उतरा है। अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय है। जवानी के विराट रूप में अद्योपान्त विस्मय बना रहता है। 'प्रचंडहास, 'प्रतप्त श्वास' आदि इसके अनुभाव हैं और वितर्क, हर्ष आदि संचारी भाव है।

संसार की क्षणभंगुरता देखकर, तत्वज्ञान या वैराग्य से शांतरस की उत्पत्ति होती है। इसका स्थायी भाव शम या निर्वेद है। इसका वर्ण कुन्द अथवा चंद्रमा के समान शुक्ल हैं, देवता भगवान लक्ष्मीनारायण हैं। संसार की अनित्यता और असारता का ज्ञान, अथवा परमात्मा का चिंतन इसका आलंबन है। सत्संग, तीर्थ, एकांत, आश्रम आदि इसके उद्दीपन हैं। रोमांच, संसार-भीरुता, अध्यात्म शास्त्र का चिंतन आदि अनुभाव और निर्वेद हर्ष, स्मरण, प्राणियों पर दया आदि संचारी हैं।

"यह महाभारत वृथा निष्फल हुआ,
उफ! ज्वलित कितना गरलमय व्यंग्य है।
पाँच ही असहिष्णु नर के द्वेष से
हो गया संहार सारे देश का।
द्रौपदी हो दिव्य वस्त्रालंकृता
और हम भोगें अहम्मय राज्य यह,
पुत्र-पति-हीना इसी से तो हुईं
कोटि माताएँ, करोड़ों नारियाँ।
रक्त से छाने हुए इस राज्य को
वज्र हो कैसे सकूँगा भोग मैं?
आदमी के खून में यह है सना,
और है इसमें लहू अभिमन्यु का।"

—कुरुक्षेत्र, प्र० सर्ग।

यहाँ युधिष्ठिर के उपर्युक्त कथन में शांत रस की पूरी व्यंजना नहीं होने के कारण निर्वेद भाव की अभिव्यक्ति समझी जायगी। मम्मट के मतानुसार तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद ही स्थायी भाव है, अन्यथा अनिष्ट की प्राप्ति से जो निर्वेद होता

है वह संचारी है। युधिष्ठिर के इस विलाप में चित्त की शांतावस्था का संकेत नहीं होता है। धर्मराज का चित्त अभी भी उद्वेलित हो रहा है। जिसमें न दुख न सुख हो, न कोई चिंता हो, न राग हो, न इच्छा हो न द्वेष हो—*उसे मुनिजन शांत रस कहते हैं। यहाँ चित्त की शमावस्था से मोक्ष-दशा का बोध नहीं होना चाहिये; क्योंकि मोक्ष-दशा में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होने से संचारी आदि भाव भी उत्पन्न नहीं होंगे—तब फिर शांतरस की अनुभूति कैसे होगी? सांसारिक विषय-वासना से विरत होकर स्वर्गीय सुख के उपभोग का आनन्द शांत रस में होता है। यहाँ अनुभाव, संचारी आदि भावों की दीप्ति होती रहती है। युधिष्ठिर का हृदय अभी शांत नहीं हुआ है; क्योंकि 'खींचकर उच्छ्वास बोले सिर्फ वे, पार्थ मैं जाता पितामह पास हूँ।' ऐसी परिस्थिति में, उपर्युक्त पद में, शांत रस नहीं मानकर निर्वेद संचारी मानना उचित प्रतीत होता है।

> "मिटता लोचन-राग यहाँ मुरझाती सुन्दरता प्यारी
> पक-पककर उजड़ रही है हरी-भरी कुसुमों की क्यारी
> मैं न रुकूँगा इस भूतलपर, जीवन यौवन प्रेम गवाँकर
> वायु उड़ाकर ले चल मुझको जहाँ कहीं इस जग से बाहर।"

'परदेशी' (रेणुका) की उपर्युक्त पंक्तियों में शम स्थायी भाव है। निर्वेद, स्मरण और मति संचारी भाव हैं। संसार की असारता, दुःख, ममत्व आदि आलंबन हैं। संसार-भीरुता अनुभाव एवं शून्य स्थान उद्दीपन है। संसार की क्षण-भंगुरता देखकर परदेशी के हृदय में विरक्ति हो गई है। उसमें विषय भोग की तनिक भी इच्छा अवशिष्ट नहीं है। फिर भी उसके हृदय में हाहाकार है या शम है, यह विवादास्पद है। सामधेनी की 'कलिंग-विजय' में लोमहर्षक युद्ध से विरक्त सम्राट अशोक के हृदय में शान्त रस की निर्मल धारा प्रवाहित हो रही है :—

> "शत्रु हो कोई नहीं, हो आत्मवत् संसार,
> पुत्र-सा पशु पक्षियों को भी सकूँ कर प्यार।
> मिट नहीं जाये किसी का चरण चिन्ह पुनीत,
> राह में भी मैं चलूँ पग-पग सजग, सभीत
> हो नहीं मुझको किसी पर रोष,
> धर्म का गूँजे जगत में घोष।

---

*नयत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेष रागौ न काचिदिच्छा
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रै सर्वेषु भावेषु शम प्रधानः।'
—साहित्य-दर्पण

बुद्ध की जय ! धर्म की जय ! सङ्घ का जय-गान,
आ बसें मुझमें तथागत मारजित भगवान।"

अशोक की यह चित्त-स्थिति सदा एक-सी बनी रहती है। 'कलिंग विजय' में शांत-रस की पूर्ण निष्पत्ति हुई है। युद्ध की भयानकता, विश्व की क्षण-भंगुरता अबलाओं का आर्त नाद आदि इसके आलंबन विभाव हैं। सम्राट अशोक आश्रय एवं युद्ध की शून्य-भूमि उद्दीपन हैं। निर्वेद, हर्ष, स्मरण, भूत-दया आदि संचारी भाव हैं। रोमांच, आह, धर्म का आवाहन आदि अनुभाव परिपुष्टता के साथ व्यक्त हुए हैं। निःसंदेह, 'कलिंग-विजय' शांत-रस की श्रेष्ठतम कविताओं में से एक है।

दिनकर की कविताओं में शृंगार रस का पूर्ण परिपाक प्रायः नहीं हो पाया है। इसके स्थायी, संचारी एवं अनुभावों का एकाध स्थलों पर सुन्दर चित्रण अवश्य हुआ है। दिनकर का शृंगार, सदा संयमित रहने के कारण, खुलकर कभी नहीं खेल पाया। इनके शृंगार पर गोस्वामी तुलसीदास जी के आदर्शवाद का प्रभाव पड़ा है। सामयिक कवि होने के नाते इनने लोक-मर्यादा की रक्षा का प्रयत्न किया है। नहाती हुई सुन्दरियों के प्रसंग में शेखर और विद्यापति को सामने खड़ाकर कवि पुजारिन के चित्रण में प्रवृत्त हो जाते हैं। गोस्वामी जी की तरह 'सोह नवल तन सुन्दर सारी' के पश्चात् 'जगत जननि अतुलित छवि भारी' कहने में इनकी चित्तवृत्ति अधिक रमती है। नारी को रमणी, सुन्दरी कहकर फिर मातृरूप में नमस्कर कर लिया है :—

"कढ़ो जमुना से कर तुम स्नान पुलिन पर खड़ी हुईं कच खोल,
सिक्त कुंतल से झरते देवि, पिये हमने सीकर अनमोल।
तुम्हारे अधरों का रस प्राण ! वासना-तट पर पिया अधीर
अरी ओ माँ, हमने है पिया तुम्हारे स्तन का उज्ज्वल क्षीर।

—रस०, नारी।

उपर्युक्त पद में नारी के विभिन्न रूपों की वर्णना का जहाँ तक प्रश्न है, वह दुरुस्त है; लेकिन, एक ही साँस में कामिनी और जननी संबंधी रति की व्यंजना रस-दृष्टि से दोषपूर्ण है। सम्भोग, शृंगार और वात्सल्य का युगपत् वर्णन अवांछनीय है। रसों का पारस्परिक विरोध तीन प्रकार से होता है। एक आलम्बन विरोध, अर्थात् एक से अधिक रसों का केवल एक ही आलम्बन होने के कारण विरोध; दूसरा, एक आश्रय विरोध—अर्थात्, एक से अधिक रसों का केवल एक ही आश्रय होने के कारण विरोध; और तीसरा नैरंतर विरोध; अर्थात् दो विरोधी रसों के बीच में किसी तीसरे अविरोधी रस की व्यंजना न होने से विरोध। यहाँ प्रथम प्रकार का रस विरोध है,

क्योंकि जिस नारी आलंबन के कारण सम्भोग शृंगार की उत्पत्ति होती है, उसी के कारण वात्सल्य रस की भी। यदि यहाँ नारी के कामिनी और जननी दो भिन्न रूप मानकर दो आलंबन मानते हैं, तो फिर एक आश्रय [illegible] नहीं छूटता। यदि आप इससे भी युवा और शैशव दो भिन्न भिन्न आश्रय मानकर दोष का परिहार करना चाहें तो तीसरे दोष-वाणी, निरंतर विरोध से आपको मुक्ति नहीं मिलने की। यहाँ सम्भोग शृंगार और वात्सल्य के बीच में किसी तीसरे रस की कल्पना नहीं हुई है। यदि वात्सल्य को स्वतन्त्र रस नहीं मानकर उसे शृंगार का एक अंग माना जाय तो किसी प्रकार तात्कालिक समाधान हो सकता है। पर समाधान क्या परिष्कृत रुचि को प्रिय होगा? शृंगार और वात्सल्य के अंग-भाव में महान अन्तर है। प्रथम से कामोद्दीपन और द्वितीय से कामोन्नयन होता है। शिशु के प्रसन्न मुखमण्डल के सामने शृंगार अपना मुँह छिपा लेता है। शृंगार रस में बाधा उपस्थित करने वाले शिशु-शतानन्द का गला घोटा जाना अप्रिय होते हुए भी असत्य नहीं है। कहने का आशय यह है कि कवि उपर्युक्त पंक्तियों में एक-न-एक दोष से अवश्य लांछित होगा।

शृंगार रस में आश्रय और आलम्बन जितने ही स्पष्ट, विशिष्ट और सन्निकट होंगे, उनमें प्रगाढ़ता और रस- मग्नता उतनी ही अधिक होगी। रेणुका और रसवन्ती के शृंगारिक चित्र, प्रायः किसी भावना के प्रतीक या प्रतिनिधि बनकर उपस्थित हुए हैं। इन चित्रों में मांसलता और उष्णता का अभाव खटकता है। 'रसवन्ती', 'नारी', 'पुरुष-प्रिया', 'अगरुधूम', 'अन्तर्वासिनी' आदि कविताओं में नारी की विशिष्टता और शारीरिकता दब गई है नारी में स्नेह, प्रेम, बलिदान, कल्पना सुन्दरता, स्वर्गिकता आदि भावनाओं की अभिव्यंजना हुई है। शृंगार-रस के पूर्ण परिपाक न होने का एक प्रधान कारण यही है। रसवन्ती में नारी के सौन्दर्य-माधुर्य की महिमा का गान किया गया है, आत्म विभोर होकर उसका अधरामृत-पान नहीं। **दिनकर की नारी में उपयोग-भावना है—उपभोग भावना नहीं।** कवि नारी के स्नेह-सरोवर में डूबने की इच्छा रखते हुए भी 'अनबूड़े' रह जाते हैं। पहली ही बाजी हार जाने वाले कवि को भला कौन रसवन्ती प्यार करने लगी?

> **"प्रणय उससे कैसा यह जो कि गया पहली ही बाजी हार!**
> **चीखती क्यों ले ले कर नाम अरी ओ रसवन्ती सुकुमार!'**

प्रेमालाप करते समय 'रसवन्ती' के सामने 'रस' का प्रसंग न छेड़कर 'जग है कठिन' की याद दिलाना बिलकुल बे-मज़ा है। 'पुरुष-प्रिया' में एक स्थल पर 'सम्भोग शृंगार' का यह चित्र है:—

"मैं रहा देखता निर्निमेष, तुम खड़ी रहीं अपलक चितवन
नस-नस जृंभा संचरित हुई, संलग्न शिथिल उर के बंधन।
सहसा बोलीं 'प्रियतम', अधीर श्लथ कटि से गिरा कलस तेरा
गिर गए बाण, गिर गया धनुष, सिहरा यौवन का रस मेरा।"

यहाँ पुरुष आश्रय एवं प्रिया आलंबन है। निर्निमेष देखना, नस-नस में जँभाई आना, प्रेम-विभोर हो धनुष बाण का गिरना, सिहर उठना आदि अनुभाव हैं।

प्रेयसी का रूप-सौन्दर्य, एकांत मिलन ये उद्दीपन विभाव हैं। मिलने की उत्कंठा, औत्सुक्य, व्रीड़ा आदि संचारी भाव हैं। सम्पूर्ण पद में रति भाव स्थायी रूप से वर्तमान है।

रसवंती की 'नारी' से प्ररूढ़ यौवना मध्या नायिका का एक उदाहरण दिया जा सकता है :—

"दृष्टि तुमने फेरी जिस ओर गई खिल कमल पंक्ति अम्लान
हिंस्र मानव के कर से त्रस्त शिथिल गिर गए धनुष औ' बाण
हो गया मदिर दृगों को देख सिंह-विजयी बर्बर लाचार
रूप के एक तंतु में नारि गया बँध मत्त गयंद कुमार।"

आचार्यों ने प्ररूढ़ यौवना के उदाहरण में उसके प्रत्येक अंग की उभरती हुई सुंदरता का वर्णन किया है। यहाँ केवल नयन कटाक्ष के जादू भरे प्रभाव का उल्लेख है। काव्य में सौन्दर्य का वर्णन कहीं मात्राधिक्य के द्वारा और कहीं महत्ताधिक्य के द्वारा किया जाता है। सुन्दरी के अधर, नयन, और कपोलादि की रक्तिमता, लवणता, और चिक्कणता के वर्णन में रूप का मात्राधिक्य दिखाया जाता है। तरुणी की चंचल चितवन के प्रभाव का—औरों पर कैसी बीत रही है!—वर्णन करना महत्ताधिक्य के अन्तर्गत है। दिनकर ने उक्त पंक्तियों में नारी के रूप का प्रभाव वर्णित किया है। नारी के मदिर दृगों को देखकर बर्बर आदमी लाचार हो गया, उसके हाथ से धनुष बाण आप ही गिर गए। अनायास आत्म समर्पण कर दिया उसने। रूप की पतली डोर में मतवाला हाथी चुपचाप बँध गया आदि।

रस के साथ गुण की अचल स्थिति मानी गई है। वह रस की शोभा बढ़ाता है। मम्मट ने गुण की संख्या दस से घटाकर तीन कर दी। माधुर्य, ओज और प्रसाद के अन्तर्गत सभी गुण आ गये। शब्दों की कठिनता, कोमलता आदि में गुणों का स्थान नहीं मानकर, रसों में उनकी नित्य स्थिति मानी है। काव्य-हीन नीरस रचना की मधुर पदावली पर झूमने वाले कान झंकार-प्रिय हो सकते हैं, सहृदय नहीं। 'गीत गोविन्द' की मधुर कोमल-कान्त पदावली सर्वत्र गूढ़ार्थ

गर्भित नहीं है । किसी खास शब्द या वर्ण में कोई खास या आन्तरिक गुण पहले से वर्तमान नहीं रहता । उसकी सुकुमारता, मिठास और कटुता का अनुभव हमारे मानस-लोक के तदनुकूल वातावरण पर निर्भर करता है ।

* मम्मट के 'माधुर्य गुण' की परिभाषा की आलोचना करते हुए साहित्य दर्पणकार ने माधुर्य को द्रुति का कारण कहना अयुक्ति-सङ्गत बताया है । द्रवी-भाव या द्रुति आस्वाद स्वरूप आह्लाद से अभिन्न होने के कारण कार्य नहीं है । आस्वाद और रस दोनों एक ही हैं, और द्रुति रस का स्वरूप होने के कारण उससे अलग नहीं हो सकती । जब काव्य में रस कार्य नहीं माना गया है तो इसके स्वरूप द्रुति को कार्य मानना तर्क सङ्गत नहीं जँचता । यह सिद्ध हो जाने पर कि द्रुति कार्य नहीं है तो फिर इसके कारण का नामकरण व्यर्थ है । प्राचीन आचार्यों के सूक्ष्म साहित्य-ज्ञान को दर्शाने के लिये यहाँ इतनी-सी चर्चा कर दी गई है । हाँ, तो विश्वनाथ के अनुसार जिसमें चित्त द्रवीभूत हो जाय ऐसा आनन्द विशेष माधुर्य गुण कहा जायगा । रसास्वादन के समय चित्त की चार दशाएँ होती हैं, काठिन्य, दीप्तत्व, विक्षेप और द्रुति । किसी प्रकार के आवेश से रहित अनाविष्ट चित्त की स्वभाव सिद्ध कठिनता को काठिन्य; क्रोध और अनुपात आदि से प्रभावित चित्त को दीप्तत्व एवं विस्मय और हास्य आदि से उत्पन्न चित्त दशा को विक्षेप कहते हैं । इन तीनों दशाओं के न होने पर रति आदि के स्वरूप से अनुगत, आनन्द के उत्पन्न होने के कारण द्रवीभूत चित्त की दशा को द्रुति कहते हैं । यह गुण शृंगार, करुण और शांत रस में अधिकाधिक वर्त्तमान रहता है । माधुर्य गुण व्यंजक वर्णों की सूची में ट, ठ, ड, ढ को बिलकुल देश-निकाला हो गया है और वर्ग के अन्तिम वर्णों को राजतिलक दिया गया है । चित्त को सतेज और उत्तेजित करने वाले गुण का नाम ओज है । इससे मन में स्फूर्ति होती है, भुजाएँ फड़कने लगती हैं । वीर, वीभत्स और रौद्र में इसकी स्थिति अधिकाधिक रहती है । काव्य के श्रवण मात्र से ही जहाँ अर्थ तुरत समझ में आ जाय, वहाँ प्रसाद गुण होता है । स्वच्छ जल में वस्त्र की तरह यह गुण तत्काल चित्त में व्याप्त हो जाता है । संयुक्त और सामासिक पदों की रचना में ओज एवं सभी प्रकार की रचनाओं में प्रसाद गुण की उपस्थिति पाई जा सकती है ।

'बालिका से वधू' में माधुर्य और प्रसाद गुण कूट-कूटकर भरे हुए हैं । भोली ग्राम वधू के वर्णन में कवि ने संस्कृत गर्भित तत्सम पदावली का भूल कर भी कहीं प्रयोग नहीं किया है । बावन पंक्तियों की इस कविता में शायद

---

* आह्लाद करत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुति कारणम् । —काव्यप्रकाश

एक भी सामासिक पद प्रयुक्त नहीं हुआ है। 'कनक-वल्ली', 'चंद्र-किरण' और 'प्रेम सुधा' इन तीन पदों में वैयाकरण के अतिरिक्त किसी सहृदय को समास नजर नहीं आयगा। शृंगार की मिठास और कोमल-पद विन्यास ने इस कविता को अक्षय सुहाग प्रदान किया है। निम्नांकित पंक्तियों में माधुर्य और प्रसाद की सुंदर निवृति हुई है :—

"हँसकर हृदय पहन लेता जब
कठिन प्रेम-जंजीर
खुलकर तब बजते न सुहागिन
पाँवों के मंजीर
घड़ी गिनी जाती तब निशि-भर
उँगली की पोरों पर,
प्रिय की याद झूलती है
साँसों के हिंडोरों पर।..."

प्रसाद गुण के लिए सागधेनी की ये "रात यों कहने लगा मुझसे गगन का चाँद, आदमी भी क्या अनोखा जीव होता है..." पंक्तियां उद्धृत की जा सकती हैं। 'रात यों कहने लगा' से लगता है जैसे कोई किस्सा सुना रहा हो। इस कविता में कवि बात ही बात में हमारे अंदर एक सत्य उतार देता है, और पता भी नहीं चलने देता। 'तांडव' 'विपथगा' आदि में ओज गुण का कई बार उल्लेख किया जा चुका है। नारी की निम्नांकित पंक्तियों में तीनों गुणों के दर्शन एक साथ किये जा सकते हैं :—

"हो उठी प्रतिमा सजग प्रदीप्त
तुम्हारी छवि ने मारा बाण
बोलने लगे स्वप्न निर्जीव
सिहरने लगे सुकवि के प्राण

प्रथम पंक्ति में 'उठी' प्रतिमा' और 'प्रदीप्त' के ठकार और संयुक्ताक्षर के कारण ओज गुण है। नारी की रूप-छवि से कवि की प्रतिभा में सृजन का जो प्रवेग स्पंदित है वह प्रथम और तीसरी पंक्ति में ध्वनित है। किसी ने बाण नहीं भी देखा हो, लेकिन उससे घायल होने की कसक से अपने को कोई अनजान नहीं बता सकता। 'तुम्हारी छवि ने मारा बाण' पंक्ति बाण की तरह मन में चुभती है। उपर्युक्त पद की अंतिम पंक्ति सिहरती हुई पुलकावली के समान सुकोमल है। स, र, न, ल आदि कोमल वर्णों द्वारा माधुर्य गुण का आस्वादन होता है। शृंगार रस के अनुकूल माधुर्य गुण की स्थिति ठीक ही है। पहली और दूसरी

केत में 'घाण' से वीर की याद हो जाती है। प्रसाद उक्त पद में सर्वत्र व्याप्त
। इसी प्रकार, महाकवि माघ के निम्नलिखित श्लोक में तीनों गुणों की छटा
र्णनीय है :—

"विकच कमल गन्धैरन्धयन् भृङ्ग माला :
सुरभित मकरन्दं मन्दमावाति वातः।
प्रमद--मदन--माद्यद्यौवनोद्दाम--रामा--
रमण-रभस-खेद-स्वेद-विच्छेद-दक्षः--

--शिशुपालवध, सर्ग ११, श्लो० १६।

भाषा-शैली

अपने वक्तव्य को सुन्दर एवं प्रभावशाली बनाने के लिए रचना में जिस कौशल का प्रयोग किया जाता है उसे शैली कहते हैं। इसका आंतरिक संबंध व्यक्ति के शीलस्वभाव एवं चरित्र तथा बाह्य प्रतिपाद्य विषय से रहता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व किसी गुण विशेष के कारण समाज में निखरता है; उसी प्रकार लेखक की विशिष्टता भी उसकी रचनाओं में अभिव्यक्त होती है। कवि की रचनाओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन करके उसके स्वभाव एवं रुचि वैचित्र्य का पता सरलता से लग जाता है। हिंदी के भक्ति और रीतिकाल के प्रमुख कवियों ने मानो अपनी कविता के बहाने अपना 'आत्म-चरित्र' वर्णित कर दिया है। विनोद प्रिय, भावुक एवं चिंतनशील लेखक अपनी रचनाओं में भली प्रकार अवतरित हो जाते हैं। मनुष्यकी विचारधारा जब उसकी मुखाकृति, वेशभूषा और क्रिया कलाप तक को मोड़ लेती है तो भाषा-शैली को प्रभावित करते समय उसे क्या विलंब! आदमी जिस रूप में सोचता है उसी रूप में ढलता भी है। भाव को व्यक्त करने वाली उसी के अनुकूल कोमल, परुष या विक्षिप्त हुआ करती हैं। आचार्य वामन ने अपने 'काव्यालंकार सूत्र' में जिस रीति की चर्चा की है वह यही शैली है और इसे काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है।

दिनकर की भाषा शैली के कुछ गुणों का उल्लेख, पिछले पृष्ठों में, प्रसंगवश किया जा चुका है। यहाँ रचना में प्रभावोत्पादकता लाने के लिए, जिन मार्गों का अवलम्बन किया गया है, उन पर थोड़ा प्रकाश डाला जायगा।

पद या पंक्ति की आवृत्ति से काव्य में शक्ति, सौन्दर्य और प्रभाव की अभिवृद्धि की जाती है। किसी वाक्य को फिर से दुहराने में, पुनरुक्ति दोष इसलिए माना गया है कि उस उक्ति से काव्य की श्रीवृद्धि नहीं होती, बल्कि उसमें भद्दापन आ जाता है। लेकिन, जहाँ पद या पदावली की आवृत्ति से भाव या वेग तीव्रतर और उद्वेगजनक होता जाय, वहाँ वह जबर्दस्त गुण है। संगीत में किसी कड़ी में सैकड़ों बार दुहराए जाने पर भी जी नहीं ऊबता; क्योंकि प्रत्येक आवृत्ति में राग-रागिनी की कुछ नवीनता, लय का प्रकंपन और स्वर का अभिनव माधुर्य प्रतीत होता रहता है। एक पंक्ति को सुनकर मानस-पटल पर कुछ भाव रेखाएँ और खिंच जाती हैं उस पंक्ति के पुनः श्रवण से रेखायें गहरी होती जाती हैं। उन भाव रेखाओं के इर्द - गिर्द और जो छोटी - छोटी भाव लहरियाँ थिरकती रहती हैं, वे शनैः शनैः मूलभाव-चक्र से लिपटती जाती है और एक सुन्दर समन्वित लयमय गति का सृजन करती हैं। जिस भाव या रसविन्दु

से हृदय की प्यास बुझती है उसे पी जाने के लिए वह और आकुल रहता है। यदि वही भाव अभिनव भंगिमा में प्रकट होता रहे तो 'तले-तिले नूतन' का आनन्द कदापि तिरोहित नहीं हो सकता। काव्य के पद स्वयं अपने आप में शब्द मात्र हैं; सहृदय से उनका संयोग होते ही वे भाव-प्रवण हो गेय हो उठते हैं। विशेष पद के द्वारा पाठक के हृदय में कई प्रकार की भावनाएँ उठती रहती हैं। एक क्षण पहले पाठक का मानस वातावरण कुछ और है दूसरे क्षण कुछ और। प्रतिक्षण पद, पंक्ति, पाठक और भावलोक में कुछ न कुछ परिवर्त्तन होता रहता है।

दुख, निराशा, संशय, संघर्ष आदि भावनाओं के समय मन मँडराते हुए बार-बार किसी भाव विन्दु पर ठहरकर विश्राम करता है और तदनुकूल पद या पंक्ति को बार-बार आवृत्ति करता है। कभी - कभी भावानुभूति की तीव्र होती हुई अवस्था में भी किसी विशेष पदावली का आश्रय लिया जाता है। ऐसे अवसरों पर पदावृत्ति भावाभिव्यंजन में बड़ी सहायक होती है। 'साकेत' की कैकेयी का संशयग्रस्त मन घूम फिर कर इसी केन्द्र पर आता है—'भरत से सुत पर भी संदेह, बुलाया तक न उसे जो गेह।' 'हाय' आह रे आदि पदों की आवृत्ति से बढ़ती हुई वेदना या करुणा का वर्णन किया जाता है :—

दिल्ली आह, कलंक देश की, दिल्ली, आह ग्लानि की भाषा
दिल्ली, आह मरण पौरुष का, दिल्ली छिन्न-भिन्न अभिलाषा

—साम०, दिल्ली और मास्को।

'हिमालय' में 'तू पूछ अवध से राम कहाँ' आदि पंक्तियों में कहाँ और रे की आवृत्ति से देश की विपन्न, निःसहाय और आर्त्त दशा का चित्रण किया गया है। हाहाकार में 'दूध-दूध' की कई बार आवृत्ति हुई है। प्रत्येक आवृत्ति में उबलते हुए क्षोभ को कई प्रकार से व्यक्त किया गया है। मंदिरों के पाषाण को बहरे कह कर कोसा गया है, आकाश के देवता से कुछ बूँदों के लिए हाथ पसारा गया है; हर दिशा से निराश होकर आकुल कवि गंगा से कहते हैं; 'दूध, दूध' गंगा तू ही अहने पानी को दूध बना दे।' दूध-दूध की प्रतिध्वनि से कब्र मन्दिर, आसमान गूँजने लगते हैं। इस पदावृत्ति से पाठक या श्रोता का हृदय उफना उठता है। प्रत्येक आवृत्ति में भावावेग तीव्रतर होता जाता है, कंठ वाष्प-पूर्ण और आँखें अश्रु सिक्त हो जाती है। [कवि के मुख से इस कविता को सुनकर राजेन्द्र बाबू रो पड़े थे!] उत्साह और ओज को खरतर करने के लिए 'आलोक धन्वा' में 'दिए देता हूँ' की आवृत्ति की गई है:—

"जड़ को उड़ने की पाँख दिए देता हूँ
चेतन के मन को आँख दिए देता हूँ

दौड़ा देता हूँ तरल आग नस-नस में
रहने देता बल को न बुद्धि के बस में।
स्वर को कराल हुंकार बना देता हूँ।
यौवन को भीषण ज्वार बना देता हूँ।
शूरों के हग अङ्गार बना देता हूँ,
हिम्मत को ही तलवार बना देता हूँ।

उक्त पद की पहली और दूसरी पंक्ति में प्रकाश की व्यापकता एवं कल्पना की दूरदर्शिता के लिए 'पाँख', 'आँख' जैसे मुलायम और फुर्तीले शब्दों का प्रयोग दिया गया है। पाँख का फड़फड़ाना 'जड़' और 'उड़ने' के ड़कार से सुनाई दे रहा है। 'पाँख' का चन्द्र-विन्दु, आकार और 'ख' उड़ने की नुकीली, चिकनी और चंचल गति को व्यक्त कर रहा है। 'पंख' का अनुस्वार दूर आकाश में उड़ता है, पाँख का चन्द्र विन्दु आकार के सहारे धरती के निकट रहता है। दूसरी पंक्ति में आँख की कोमलता के कारण त, न, म, जैसे कोमल वर्णों का प्रयोग हुआ है। तीसरी पंक्ति में, खून में बिजली भर जाने के कारण छंद का चरण चपल हो गया 'तरल' और 'नस-नस' अत्यन्त क्षिप्रता से साथ उच्चरित होकर दौड़ने की सार्थकता सिद्ध कर रहे हैं। फिर तो, 'हुँकार', ज्वार, 'अंगार' और 'तलवार' स्वयं चली आती है।

अन्तिम चार पंक्तियों में वीरत्व क्रमशः गर्जमान होता जाता है। 'प्रत्येक' गद्य का शब्द है। कविता में यह अलग अपना कान खड़ा किये रहता है। पद की आवृत्ति द्वारा 'प्रत्येक' का निराकरण कर निम्न पंक्तियों में सौन्दर्य उपस्थित किया गया है: —

"घर-घर देखा धुआँ, धरा पर सुना, विश्व में आग लगी है,
'जल ही जल' जन-जन रहते हैं, कण्ठ कण्ठ में प्यास लगी है।"
—हुँ०—हाहाकर।

"बापू" में 'मानवता' का इतिहास एक स्थल पर चौदह पंक्तियों के अन्दर सात बार दुहराया गया है। पदावृत्ति की भी एक हद होती है। दिनकर ने यहाँ इसका अतिक्रमण कर दिया है। श्रोता को पता नहीं चलता कि इस 'मानवता का इतिहास' का इतिहास कितना लम्बा है। सभा में सरल श्रोताओं के ऊपर इस आवृत्ति का रङ्ग चढ़ जाता है, लेकिन शांत पाठक का मन फीका पड़ जाता है। पदावृत्ति द्वारा सरल मन में भावोत्तेजन करना कुछ सस्ता सौदा है। इसका अत्यधिक प्रयोग वर्जित होना चाहिए।

आदिम मानव अपने वन्य जीवन में समुचित भाषा के अभाव के कारण

समूह की सम्मिलित ध्वनि या आवाज के द्वारा पलायन, सम्मिलन, भोजन, नृत्य-गान आदि के लिए सहज प्रेरणा मिलती होगी। किसी विशेष प्रकार की ध्वनि से समूह के सभी व्यक्ति एक साथ प्रभावित और क्रियाशील होते होंगे। कविता में भी जब संगीत, लय, नादानुकरण या पदावृत्ति होती है, तो समूह में बैठा हुआ व्यक्ति उससे अधिक प्रभावित होता है। कृषि प्रधान देश होने के कारण यहाँ के जन-समुदाय के व्यक्तित्व में अभी उतना विभिन्नीकरण शुरू नहीं हुआ है। सैकड़ों आदमी एक साथ धान रोपते, फसल काटते, और पंगत में बैठकर भोज खाते, हैं। सामूहिकता इस देश की अपनी चीज है। लेकिन मशीन-युग के कारण श्रम के प्रत्येक भाग में अनेकों उपविभाग होते जा रहे हैं। 'शिक्षित', 'सभ्य' आदमी के व्यक्तित्व में विभक्ती-करण शुरू हो गया है। इस मशीन-युग के पिसे हुए आदमी का सामूहिक, सामान्य व्यक्तित्व मन के अचेतन स्तर में धँसता जा रहा है और उसका यांत्रिक, कृत्रिम व्यक्तित्व ऊपर छा रहा है। ऑफिस में हम कृत्रिम, गम्भीर मुद्रा में बैठते हैं, लेकिन खेतों में, मेले में हर आदमी से हँस-बोल लेते हैं। दिनकर की राष्ट्रीय कविता समूह के श्रोताओं की सामान्य आदिम प्रवृत्तियों को चेतन-स्तर में लाकर उन्हें भावाभिभूत कर देती है, और एकांत में बैठे हुए बुद्धि प्रधान व्यक्तित्व को केवल झकझोर कर छोड़ देती है। "दूध-दूध" की पदावृत्ति का प्रभाव और "झन-झन-झनन" का संगीत समूह के सामान्य हृदय को आसानी से भाव प्रवण कर सकता है।

अनुकरण करना मानव का स्वभाव है। शिशु अपने गुरुजनों का प्रायः हर क्षेत्र में अनुकरण किया करते हैं। बड़ों के विवाह और बरात की नकल बच्चे गुड़ियों की शादी द्वारा किया करते हैं। बच्चों के एक भोज में मिट्टी के लड्डू-खाजा 'खाने' का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। कोयल की 'कू-कू' को बच्चे ('बालक' होने के नाते कभी-कभी मैं भी) खूब दुहराते हैं। कवि भी प्रकृति के संगीत का अपनी रचना में अनुकरण करते हैं। 'झांकन झंझा के झोंके में झुककर गूंजे भग्नों से' और 'टी-वी-टी-टुट-टुट' में गुप्त और पंत ने आंधी और चिड़िया की नकल की है। नादानुकरण द्वारा शैली में सौन्दर्य उत्पन्न किया जा सकता है। 'दिनकर ने 'रुनझुन-रुनझुन किसका शिंजन' में नूपुर की झंकार का अनुकरण किया है। त्रिपथगा की 'झनन-झनन' में शब्दों की झंकार प्रत्यक्ष सुनाई पड़ती है। लेकिन 'झन-झन' की कई बार आवृत्ति में थोड़ा लड़कपन दिखाई पड़ता है। 'सामधेनी' की निम्नलिखित पंक्ति में नगाड़े की आवाज का अनुकरण देखा जाता है :—

'सीमा पर बजने वाले धौंसों की अब धुधकार नहीं'।'

—'अतीत के द्वार पर'

'तृणवत् धधक धधक मत जल सखि' (रस०, प्रीति) में जलती आग की प्रतिध्वनि है। 'संहार-लपट के चीर पहन नाचा करती मैं छूम छनन' के अन्तिम पद में पैरों में कसे घुँघरू की ध्वनि सुनाई पड़ती है। इसी प्रकार, अवसर मिलने पर दिनकर ने 'नाद-सौन्दर्य' का अपनी शैली में अच्छा समावेश किया है।

भाषा में नाटकीय शैली का प्रयोग होने से काव्य में गति, प्राण और रोचकता का समावेश होता है। नाटकीय से मेरा तात्पर्य प्रवाहपूर्ण संवाद, कुशल अभिनेयता और घटनाओं के द्रुत परिवर्तन से है। संवाद का आनन्द प्रबन्ध-काव्य में पात्रों के वार्त्तालाप द्वारा आसानी से मिल जाता है। इसमें व्यंग्य, कटाक्ष, हास्य, करुण, आनन्द आदि की अभिव्यक्ति थोड़े में अत्यन्त मार्मिकता के साथ होती है। काव्य की अधिकांश श्रेष्ठ पंक्तियां संवादों में पाई जाती हैं। मुक्तक काव्य में वस्तु और पात्र का उपयोग न होने के कारण या, अत्यन्त क्षीण होने के कारण हमें संवादों से बहुत कुछ अंशों में वंचित रहना पड़ता है। दिनकर ने, फिर भी, ऐसे प्रसंग निकाल लिये हैं जहां वार्तालाप का थोड़ा-बहुत प्रयोग सुलभ हो गया है। इसके लिये कवि ने चाँद, सितारे, फूल, तितली आदि में प्राण-प्रतिष्ठा कर उन्हें बोलने के लिये तैयार किया है। कहीं-कहीं अमूर्त भावों को मानवी रूप प्रदान कर उन्हें अभिनय करने के लिए खड़ा किया है। 'विपथगा' क्राँति का अवतार धारण कर 'नीरो' को साव-धान करती है। ब्रिटिश कालीन नई दिल्ली को कुलटा बताकर कवि ने उसकी भर्त्सना की है। 'रात यों कहने लगा मुझसे गगन का चाँद' में कवि और चाँद के बीच बात-चीत चलती है। इस प्रकार कई स्थलों पर कवि ने अपनी रचनाओं में संवाद को प्रस्तुत कर भावा भिव्यंजन को पुष्टता प्रदान की है। संवाद की शक्ति से परिचित कवि ने 'कुरुक्षेत्र' में युधिष्ठिर भीम आदि पात्रों को उपस्थित किया है। 'युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग उठाये बिना भी (कुछ) कहा जा सकता था, किन्तु, तब यह रचना, शायद, प्रबन्ध के रूप में (कवित्वपूर्ण) नहीं उतर कर (बेजान) *मुक्तक बनकर रह गई होती।' कुरुक्षेत्र के भावों की ओजस्विता और सजीवता उसके संवादों में ढल जाने के कारण है। 'पुरुष-प्रिया' (रस०) में पुरुष और प्रिया की वार्त्ता इस प्रकार है:—

"तुम अर्द्धचेतना में बोला', मैं खोज थकी, तुम आ न सके
लद गई कुसुम से डाल, किन्तु अब तक तुम हृदय लगा न सके
सीखा यह निर्दय खेल कहाँ ? तुम तः न कभी थे निठुर पिया
मैं चकित भ्रमित कुछ कह न सका, मुख से निकले दो वर्ण पिया।"

---

*इस उद्धरण में कोष्ठक के शब्द मेरे हैं।

'रास की मुरली' (रस०) में मुरली सखी के रूप में राधा को पुकार-पुकार कर कह रही है:—'तुम्हें तनु पर यदि नहीं प्रतीति, भेज दो अपने आकुल प्रान।' 'बापू' में एक स्थल पर बापू दानवता को चुनौती देते हुए कहते हैं:—

"एकाकी, हाँ एकाकी हूँ, डँसना चाहे तो व्याल डसे
करुणा को जिसने ग्रसा चढ़े आगे, मुझको वह काल ग्रसे
भर गया पेट इतने से ही? मुझको खाने की चाह नहीं?
पर, याद रहे, मैं सहज छोड़ देने वाला हूँ राह नहीं।"

ऐसा प्रतीत होता है कि सचमुच, बापू और काल के बीच गरम-गरम बातें चल रही हैं। पापियों के सामने मुलायम और पाप के सामने बापू रूखे दीखते हैं।

वर्णन के प्रसंग में पात्र के मुख से उसकी प्राकृत भाषा का प्रयोग कभी-कभी नाटकीय प्रतीत होता है। एक बँधी प्रणाली की भाषा से पाठकों के मन में एकरसता आ सकती है। नाटक में किसी पात्र के मुख से उसकी अपनी प्रांतीय बोली—जो पुस्तक की भाषा से भिन्न है—सुनकर दर्शक उत्फुल्ल हो जाते हैं। दिनकर ने भाषा के इस नाटकीय परिवर्तन का कहीं-कहीं अच्छा प्रयोग किया है। 'वनफूलों की ओर' में 'भैया, लिख दे एक कलम खत मो वालम के जोग...' भूलने भूलने की चीज नहीं है। 'मिथिला' (रेणुका) में 'लहरें गाती हैं मधु-विहाग;—हे हे सखि! हमर दुखक न ओर' मन को करुण में बोर देती है।

नाटक के रङ्गमंच की तरह कविता में भी भाव और विषय के अनुकूल पट-परिवर्तन होता रहता है। विषय के अनकूल प्राकृतिक पृष्ठाधार कैसा होना चाहिए, इस पर दिनकर का विशेष ध्यान रहता है। 'कस्मैदेवाय', 'कलातीर्थ', 'रास की मुरली', 'मिथिला', 'दिल्ली और मास्को आदि कविताओं में भावानुरूप दृश्य का संयोजन किया गया है। कहीं-कहीं शीघ्र परिवर्तित होते हुए दृश्यों की ओर दो-एक शब्दों में संकेत कर दिया गया है। फिल्म की तरह चटपट पट बदलते जा रहे हैं। हत्या, खून, भूकम्प, क्रांति, जन-गर्जन, ध्वंस आदि के दृश्य कितनी शीघ्रता से निम्नलिखित पंक्तियों में दर्शाए गए हैं:—

"यह जो कटे वीर-सुत माँ के,
यह जो बही रुधिर की धारा
यह जो डोली भूमि देश की,
यह जो काँप रहा गया नभ सारा।
यह जो उठी शौर्य की ज्वाला
यह जो खिला प्रकाश,
यह जो खड़ी हुई मानवता रचने को इतिहास।

कोटि-कोटि सिंहों की यह जो उठी मिलित दहाड़,
यह जो छिपे सूर्य-शशि, यह जो हिलने लगे पहाड़।"
—दिल्ली और मास्को।

उपर्युक्त पद में 'यह जो' की आवृत्ति प्रवाह में तीव्रता प्रदान कर रही है। अगस्त क्रांति के दृश्यों को कवि अंगुलि-निर्देश द्वारा एक-एक कर बतला रहे हैं। उँगली उठाते ही जादू की तरह दृश्य प्रकट होते, प्रकंपित होते, कुछ इंगित करते और शीघ्र ओझल हो जाते हैं। 'निर्झरिणी' के कुछ पद ऐसे हैं जिनका नृत्य के द्वारा अभिनय किया जा सकता है। 'रास की मुरली', 'पुरुष-प्रिया', 'विपथगा' आदि कविताओं का भावाभिनय प्रदर्शित करने के लिए सफल कलाकारों की आवश्यकता है। भावाभिनेयता का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है :—

"वनदेवि! द्रुमांचल श्याम हिला, फिरने का करो न इशारा मुझे
उपलो! पद यों न गहो, भुज खोल ने बाँध तू हाय! किनारा मुझे,
किसको ध्वनि दूर से आई! पुकार रहा सुन अम्बुधि प्यारा मुझे
जननी धरणी! तिरछी हो जरा, अरी वेग के खींच तू धारा मुझे।"
—निर्झरिणी

नाटक में एक पात्र के कथन के कुछ अंश को उसी प्रकार दुहराता हुआ जब दूसरा पात्र मंच पर प्रकट होता है तो उसे कथोद्घात कहते हैं। 'दिल्ली और मास्को' से इसका उदाहरण दिया जाता है:—

अर्पित करो समिध, आओ हे समता के अभिमानी,
इसी कुण्ड से निकलेगी भारत की लाल भवानी।
हाँ भारत की लाल भवानी, जवा कुसुम के हारों वाली,
शिखा, रक्तरोहितवसना कबरी में लाल सितारों वाली।

'भारत की लाल भवानी' को दूसरे अनुच्छेद में दुहराकर नाटकीयता का समावेश किया गया है।

लम्बी कविताओं में शैली की एकरसता दूर करने के लिए छंद-परिवर्त्तन द्वारा अभिनवता लाने का स्तुत्य प्रयास कई जगह मिलता है। लय में परिवर्त्तन होते ही मानस के भाव-लोक में सिहरन आ जाती है और नई उठती हुई लहरियों द्वारा नवरूपता का संचार होता है। बँधा हुआ छंद मन की गति को एक दिशा की ओर बहाता रहता है; उसमें परिवर्त्तन आते ही गति हौले से मुड़ जाती है। भाव और छंद मन का युगपत् परिवर्त्तन मणिकांचन-योग उपस्थित करता है। 'मिथिला में शरत्,' 'भविष्य की आहट' 'कलिंगविजय', 'दिल्ली और मास्को' आदि कविताओं में

छंद-परिवर्तन द्वारा भावों की तीव्रता एवं भंगिमा की ओर कलात्मक संकेत किया गया है:—

१—ओ शरत गंग ! लेखनी, आह, शुचिता का यह निर्मल प्रवाह ।
पल भर निमग्न इसमें हो ले, वरदान माँग किल्विष धो ले ।
गिरिराज सुता सुषमा-भरिता, जग स्रोत नहीं कविता-सरिता ।
यह कोमल कास विकासमयी, वह बालिका पावन हासमयी ।
यह पुण्य त्रिकालिनि दिव्य विभा, वह भाव सुहासिनि प्रेम-प्रभा
हे जन्म भूमि ! शतबार धन्य, तुझ-सा न 'सिमरिया-घाट' अन्य ।
—रे०, मिथिला में शरत

२—जाग, तीव्र मरीचि मेरी कल्पने ! चीर कर तो देख भावी का हृदय
किस महायुग देव की विपुला अनी, आ रही तम तोम में बनकर उदय ?
प्रचण्ड ज्योति भीति से प्रकम्पिता निशाधनी
अजेय तेज की चली विक्षुब्ध सिन्धु-सी अनी
अनन्त-भा किरीट में प्रलय-शिखा सुहागिनी;
किशोर भानु नेत्र में ललाट मध्य नागिनी ।"
—हुँ०, भविष्य की आहट ।

३—"मौन कब के हो चुके रण तूर्य,
डूब जा तू भी कहीं ओ सूर्य !
छा गया तम, आ गये तारे तिमिर को चीर
आ गया विधु; किन्तु, क्यों आकृति किये गंभीर ।"
साम; कलिंग-विजय

प्रथम पद की तीसरी पंक्ति में गंगा की महिमा का वर्णन करते समय छंद सवैये में बदल गया है । देवी-देवताओं की स्तुति के लिए हिन्दी में सवैये का बड़ा आदर है । भक्ति और करुणा की धारा इस छंद के सहारे आसानी से बह चलती है । तीर्थस्थानों में, शिव और गंगा की स्तुति में, भक्तजन सवैये गाते हुए पाए जाते हैं । दिनकर ने गंगा की स्तुति में सवैये का प्रयोग कर अपनी छंद-मर्मज्ञता का परिचय दिया है । अपनी संस्कृति के रस में भीगे हुए छंद गंगा-माता की स्तुति में कितने प्रसन्न दीखते हैं ! राष्ट्र-कवि इसी प्रकार संस्कृति के माध्यम से अपने देशवासियों के हृदय में सुगमता से प्रवेश कर जाता है । मास्को की ओर उचक कर ताकने वाले 'द्विपदों' से ऐसी चीज की उम्मीद करना झड़-बेरी से अंगूर चाहना है । दूसरे पद में, पहले क्रांति के अवतरण की ओर इंगन किया गया है । उसके

प्रत्यक्ष होते ही छंद बदल जाता है। क्षणभर के लिए, 'जटाटवीगलज्जल प्रवाह पावित स्थले' का स्मरण हो आता है। *संस्कृत का यह पञ्चचामर छंद ओज-चित्रण के लिए प्रसिद्ध है। प्रसाद जी ने 'हिमाद्रितुंग शृंग...' में इसी छंद का प्रयोग किया है। ऐसे छंदों से हमारा पुराना साहचर्य रहने के कारण चित्र कंटकित हो जाता है। तीसरे पद की तीसरी पंक्ति में सूर्य के डूबने के बाद धरती पर फैलती हुई चौड़ी अँधियारी का वर्णन है।

'तूर्य्य' और 'सूर्य्य' के 'र्य्य' युद्ध की भयानकता की ओर संकेत करते हैं। कवि ने सोच समझकर 'र्य' की जगह 'र्य्य' लिखा है। सूर्यास्त के बाद दृश्य में परिवर्त्तन होता है। परिवर्त्तित छंद इसकी सूचना दे रहा है। 'कुरुक्षेत्र' में ऐसे उदाहरणों का बाहुल्य है।

किसी शब्द की पर्यायमूलक व्याख्या द्वारा भी शैली में उत्कर्ष लाया जाता है। इससे तिरस्कार, उत्कर्ष, अमर्ष आदि की व्यंजना की जाती है।

१—"खूँ बहाया जा रहा इन्सान का
सींग वाले जानवर के प्यार में
कौम की तकदीर फोड़ी जा रही मस्जिदों की ईंट की दीवार में।"

—हुँ०, तकदीर का बटवारा।

२—"ज्वलित पिण्ड को हृदय समझकर ताप सदा सहते थे,
पिघली हुई आग थी नस में, हम लोहू कहते थे।

—साम०, अन्तिम मनुष्य

३—"लाल कीच के कमल, विजय, को जो पद से ठुकराती है।"

—साम० अतीत के द्वार पर।

पहले में गाय की जगह 'सींगवाले जानवर' कहकर मानव को गो से उच्च स्थान दिया गया है; साथ ही हिन्दू की अंधी साम्प्रदायिकता की खिल्ली उड़ाई गई है। दूसरे में लहू को 'पिघली हुई आग' कहकर उसका उत्कर्ष सूचित किया गया है। तीसरे में विजय को 'लाल कीच का कमल' कहकर उसका अपकर्ष बोध कराया है।

वर्णन शैली में सिहरन उत्पन्न करने के लिए सफल कलाकार कथा-प्रसंगों का निर्देश यत्रतत्र कर दिया करता है। समतल पर बहती हुई भाव-धारा प्रसंग निर्देश द्वारा द्रुततर और मधुरतर हो जाती है। वह हृदय को हलकोरों द्वारा कुछ दूर तक और आर्द्र बनाकर फिर उसी तरह बहने लगती है। हमारे मानस-लोक

---

*प्रमाणिका पद द्वयं वदन्ति पञ्चचामरम्।
प्रमाणिका जरौ लगौ।

में युग-युग से आती हुई अनेकानेक भाव प्रतिमाएँ बहुशः भंगिमाओं के साथ, निवास करती हैं। उनके ऊपर नई यांत्रिक सभ्यता की धूल की परतें भी जमती जा रही हैं। आदिम काल का मानव देवी-देवता, भूत-प्रेत, नाग-यक्ष, स्वर्ग-नरक आदि पर जितना विश्वास करता था उतना आधुनिक काल का नहीं। तर्क और चिंतन का विकास होने पर मानव इस देव-युग से ऊपर उठकर अध्यात्म-युग में आया, जहाँ वह उपनिषदों में ब्रह्म और ज्ञान की गम्भीर चर्चा करने लगा। आज का नवीन युग अनुमान, कल्पना और श्रद्धा का नहीं, बल्कि अनुभव, यथार्थ और विज्ञान का है। फ्रेंच दार्शनिक कामते ने इन तीन युगों को क्रमशः Theological, Metaphysical और Positive stage कहा है। वैज्ञानिक युग के मानव का मस्तिष्क अपने आदिम काल की विशेषताओं को किसी न किसी रूप में ढोता चला आ रहा है। प्राचीन काल का जीवन सामुदायिक होने के कारण व्यक्ति का मनोलोक सामुदायिक भाव-धारा से अभिप्रेरित हुआ करता था। देवताओं की जो कहानियाँ एक भू-खंड में प्रचलित थीं, वे ही या उसी प्रकार की कहानियाँ अन्य जगह भी थीं। शकुन-अपशकुन आदि बातों में हमारी मान्यताएँ प्रायः एक-सी हुआ करती हैं। प्राचीन काल की बहुतेरी कथा कहानियाँ हमारे मन में चलती चली आ रही हैं। पुराणों की बहुतेरी कथाएँ इस देश के हर प्रान्त में सामान्य रूप से प्रचलित हैं। 'दुर्गा सप्तशती' और 'सत्य नारायण-कथा' की सत्यता पर हम तर्क-वितर्क नहीं करते, इनमें भाव-गत सत्य वर्तमान है। विश्वामित्र की तपस्या, दुष्यंत-शकुन्तला का प्रेम, अमृत-मंथन आदि कथाओं का अमिट रेख हमारे चित्त पर अंकित है। सुरसा के सोलह योजन के मुँह पर हमारा अविश्वास नहीं है। अगस्त्य का समुद्र पीना, हनुमान का पर्वत उठाकर उड़ना,—ये सब प्रसंग अतिप्राकृत होते हुए भी मन को भाते हैं। पौराणिक युग के बाद ऐतिहासिक युग की घटनाओं में भी 'अतिप्राकृत' का यथेच्छ समावेश किया गया है। हिन्दी के रीतिकाल तक काव्य में अतिप्राकृत घटनाओं का समन्वय मिलता है। 'साकेत' और 'कामायनी' में भी इसकी एकाध झलक है। कहने का आशय यह है कि पौराणिक और ऐतिहासिक कथा-प्रसंगों का स्पष्ट या धूमिल प्रभाव आधुनिक मानव के मन पर भी बना हुआ है। इतिहास के उन्हीं व्यक्तियों का जन-मन पर स्थायी प्रभाव पड़ता है, जिनमें लोक-कल्याण और रंजन की भावना अन्तर्निहित रहती है। लोक-हृदय में शृंगार, वीर और हास्य रस के आलंबन सरलता से प्रतिष्ठित हो जाते हैं। संत-महात्मा, कवि-विद्वान आदि भी हमारी दैनिक चर्चा के विषय बने रहते हैं। राजा भोज, चंद बरदाई, प्रताप, शिवाजी, कुँवरसिंह आदि [illegible] हमारे मानस में तैरते रहते हैं। इसी प्रकार सुविख्यात प्रबन्ध काव्य, [illegible] और [illegible] के साथ स्वयं उनकी कथा-वस्तुएँ, ऐतिहासिक घटनाओं की

तरह, हमारे बीच सत्य और सजीव हैं। सच पूछा जाय, तो पुराण और इतिहास के पात्रों को कवि की वाणी ही वाणी प्रदान करती है। ब्रह्मा के राम की तरह कवि के राम नश्वर नहीं हैं। विद्वान् लोग राधारानी का अस्तित्व भले ही न मानें, लेकिन कवियों के हृदय में राधा सदा कृष्ण का अभिसार किया करती है। सीता, शकुन्तला और कादंबरी हमारे भाव-लोक की अक्षुण्ण सम्पत्ति हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हमारे मानस के भाव-चित्र तीन श्रेणियों में विभाजित किए जा सकते हैं--पौराणिक, ऐतिहासिक और काव्याश्रित। इन चित्रों का अंकन हमारे मन में कथा-श्रवण, रंग-मंच और चित्र-दर्शन द्वारा प्रायः हुआ करता है। प्रसंग-गर्भत्व और अतीत-चित्रण में अन्तर है। प्रथम संचार भाव के समान किसी भाव या वर्ण्य वस्तु को कुछ प्रदीप्त कर अस्तमत हो जाता है, दूसरा स्थायी या प्रमुख भाव के समान काव्य में वर्त्तमान रहता है। अतीत का चित्रण करते समय कवि तत्-कालीन युग में रमण करता है, उसकी धूप छाँह से पुलकित होता है और देश, काल, पात्र और वृत्त की ओर स्पष्ट संकेत करता है। संकेत में कहीं धूमिलता नहीं रहती। भाव-साहचर्य के कारण तत्संबंधी अन्य दृश्यों का किंचित् अंकन भी किया जा सकता है। कभी-कभी विभिन्न युगों का एक साँस में ही सिंहावलोकन किया जाता है। उन युगों के प्रमुख प्रतिनिधि चित्र एक-एक कर मानस पट पर घूमने लगते हैं। 'पाटलिपुत्र की गंगा', 'हिमालय', 'दिल्ली', 'वैभव की समाधि' आदि कविताओं में, एक उत्स से विभिन्न प्रकार के दृश्य अवतरित हो, ओझल होते जाते हैं। 'बोधिसत्व' में भगवान बुद्ध के ध्यानोपरांत वर्तमान-युग की चर्चा छिड़ती है।

प्रसंग गर्भत्व में घटना, स्थल, पात्र, या वातावरण के किसी एक मार्मिक अंश का उल्लेख किया जाता है। इससे हृदयसरित् में लघु लहरी छहर उठती है और स्रोत की प्रसन्नता या पीड़ा तनिक बढ़ जाती है। प्रसंग-गर्भत्व की भाषा गूढ़, सांकेतिक और अवगुंठित होनी चाहिए। अनुभूति की गहराई में भाषा, प्रायः सरल, स्वल्प और निर्मल हो उठती है। तब एकाध मार्मिक पद ही हृदय में मूर्च्छना उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त होते हैं।

दिनकर की कविताओं में पौराणिक, ऐतिहासिक और काव्याश्रित तीनों प्रकार के प्रसंगों का उल्लेख हुआ है। ये प्रसंग, इनके काव्य में, स्वभावतया आये हैं; ये यत्नसाध्य और प्रयासजनित नहीं कहे जा सकते। प्रसंगों की ओर सङ्केत भ्रू-भंगिमा, दृष्टि-निक्षेप, अंगुलि-निर्देश और कहीं केवल एक आह द्वारा ही किया गया है। प्रसंग गर्भत्वकला में कवि अत्यन्त निपुण प्रतीत होते हैं। इस कला के प्रसाद से कहीं सुन्दरता विलसित, भाव मुखरित और गति वेगवती

में युग-युग से आती हुई अनेकानेक भाव प्रतिमाएँ बहुशः भंगिमाओं के साथ, निवास करती हैं। उनके ऊपर नई यांत्रिक सभ्यता की धूल की परतें भी जमती जा रही हैं। आदिम काल का मानव देवी-देवता, भूत-प्रेत, नाग-यक्ष, स्वर्ग-नरक आदि पर जितना विश्वास करता था उतना आधुनिक काल का नहीं। तर्क और चिंतन का विकास होने पर मानव इस देव-युग से ऊपर उठकर अध्यात्म-युग में आया, जहाँ वह उपनिषदों में ब्रह्म और ज्ञान की गम्भीर चर्चा करने लगा। आज का नवीन युग अनुमान, कल्पना और श्रद्धा का नहीं, बल्कि अनुभव, यथार्थ और विज्ञान का है। फ्रेंच दार्शनिक कामते ने इन तीन युगों को क्रमशः Theological, Metaphysical और Positive stage कहा है। वैज्ञानिक युग के मानव का मस्तिष्क अपने आदिम काल की विशेषताओं को किसी न किसी रूप में ढोता चला आ रहा है। प्राचीन काल का जीवन सामुदायिक होने के कारण व्यक्ति का मनोलोक सामुदायिक भाव-धारा से अभिप्रेरित हुआ करता था। देवताओं की जो कहानियाँ एक भू-खंड में प्रचलित थीं, वे ही या उसी प्रकार की कहानियाँ अन्य जगह भी थीं। शकुन-अपशकुन आदि बातों में हमारी मान्यताएँ प्रायः एक-सी हुआ करती हैं। प्राचीन काल की बहुतेरी कथा कहानियाँ हमारे मन में चलती चली आ रही हैं। पुराणों की बहुतेरी कथाएँ इस देश के हर प्रान्त में सामान्य रूप से प्रचलित हैं। 'दुर्गा सप्तशती' और 'सत्य नारायण-कथा' की सत्यता पर हम तर्क-वितर्क नहीं करते, इनमें भाव-गत सत्य वर्तमान है। विश्वामित्र की तपस्या, दुष्यंत-शकुन्तला का प्रेम, अमृत-मंथन आदि कथाओं का अमिट रेख हमारे चित्त पर अंकित है। सुरसा के सोलह योजन के मुँह पर हमारा अविश्वास नहीं है। अगस्त्य का समुद्र पीना, हनुमान का पर्वत उठाकर उड़ना,—ये सब प्रसंग अतिप्राकृत होते हुए भी मन को भाते हैं। पौराणिक युग के बाद ऐतिहासिक युग की घटनाओं में भी 'अतिप्राकृत' का यथेच्छ समावेश किया गया है। हिन्दी के रीतिकाल तक काव्य में अतिप्राकृत घटनाओं का समन्वय मिलता है। 'साकेत' और 'कामायनी' में भी इसकी एकाध झलक है। कहने का आशय यह है कि पौराणिक और ऐतिहासिक कथा-प्रसंगों का स्पष्ट या धूमिल प्रभाव आधुनिक मानव के मन पर भी बना हुआ है। इतिहास के उन्हीं व्यक्तियों का जन-मन पर स्थायी प्रभाव पड़ता है, जिनमें लोक-कल्याण और रंजन की भावना वर्तमान रहती है। लोक-हृदय में शृंगार, वीर और हास्य रस के आलंबन सरलता से अभिव्यंजित हो जाते हैं। संत-महात्मा, कवि-विद्वान आदि भी हमारी दैनिक चर्चा के विषय रहा करते हैं। राजा भोज, चंद बरदाई, प्रताप, शिवाजी, कुँवरसिंह आदि के नाम-गुण हमारे मानस में तैरते रहते हैं। इसी प्रकार सुविख्यात प्रबन्ध काव्य, नाटक और उपन्यासों के पात्र एवं उनकी कथा-वस्तुएँ, ऐतिहासिक घटनाओं की

तरह, हमारे बीच सत्य और सजीव हैं। सच पूछा जाय, तो पुराण और इतिहास के पात्रों को कवि की वाणी ही वाणी प्रदान करती है। ब्रह्मा के राम की तरह कवि के राम नश्वर नहीं हैं। विद्वान् लोग राधारानी का अस्तित्व भले ही न मानें, लेकिन कवियों के हृदय में राधा सदा कृष्ण का अभिसार किया करती है। सीता, शकुन्तला और कादंबरी हमारे भाव-लोक की अक्षुण्ण सम्पत्ति हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हमारे मानस के भाव-चित्र तीन श्रेणियों में विभाजित किए जा सकते हैं--पौराणिक, ऐतिहासिक और काव्याश्रित। इन चित्रों का अंकन हमारे मन में कथा-श्रवण, रंग-मंच और चित्र-दर्शन द्वारा प्रायः हुआ करता है। प्रसंग-गर्भत्व और अतीत-चित्रण में अन्तर है। प्रथम संचार भाव के समान किसी भाव या वर्ण्य वस्तु को कुछ प्रदीत कर अस्तमत हो जाता है, दूसरा स्थायी या प्रमुख भाव के समान काव्य में वर्तमान रहता है। अतीत का चित्रण करते समय कवि तत्-कालीन युग में रमण करता है, उसकी धूप छाँह से पुलकित होता है और देश, काल, पात्र और वृत्त की ओर स्पष्ट संकेत करता है। संकेत में कहीं धूमिलता नहीं रहती। भाव-साहचर्य के कारण तत्संबंधी अन्य दृश्यों का किंचित् अंकन भी किया जा सकता है। कभी-कभी विभिन्न युगों का एक साँस में ही सिंहावलोकन किया जाता है। उन युगों के प्रमुख प्रतिनिधि चित्र एक-एक कर मानस पट पर घूमने लगते हैं। 'पाटलिपुत्र की गंगा', 'हिमालय', 'दिल्ली', 'वैभव की समाधि' आदि कविताओं में, एक उत्स से विभिन्न प्रकार के दृश्य अवतरित हो, ओझल होते जाते हैं। 'बोधिसत्व' में भगवान बुद्ध के ध्यानोपरांत वर्तमान-युग की चर्चा छिड़ती है।

प्रसंग गर्भत्व में घटना, स्थल, पात्र, या वातावरण के किसी एक मार्मिक अंश का उल्लेख किया जाता है। इससे हृदयसरित् में लघु लहरी छहर उठती है और स्रोत को प्रसन्नता या पीड़ा तनिक बढ़ जाती है। प्रसंग-गर्भत्व की भाषा गूढ़, सांकेतिक और अवगुंठित होनी चाहिए। अनुभूति की गहराई में भाषा, प्रायः सरल, स्वच्छ और निर्मल हो उठती है। तब एकाध मार्मिक पद ही हृदय में मूर्च्छना उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त होते हैं।

दिनकर की कविताओं में पौराणिक, ऐतिहासिक और काव्याश्रित तीनों प्रकार के प्रसंगों का उल्लेख हुआ है। ये प्रसंग, इनके काव्य में, स्वभावतया आये हैं; ये यत्नसाध्य और प्रयासजनित नहीं कहे जा सकते। प्रसंगों की ओर सङ्केत भ्रू-भंगिमा, दृष्टि-निक्षेप, अंगुलि-निर्देश और कहीं केवल एक आह द्वारा ही किया गया है। प्रसंग गर्भत्वकला में कवि अत्यन्त निपुण प्रतीत होते हैं। इस कला के प्रसाद से कहीं सुन्दरता विलसित, भाव मुखरित और गति वेगवती

हो जाती है। राष्ट्र के हृदय को छूने के लिये, उसे पुलकायमान करने के लिये, अतीत के सरस मार्मिक प्रसंगों का उल्लेख राष्ट्रीय काव्य में अत्यन्त आवश्यक है।

दिनकर के 'हिमालय' की चमक प्रसंग-गर्भत्व पर बनी हुई है। 'रे, रोक युधिष्ठिर को न यहाँ, जाने दे उनको स्वर्ग धीर' में पाण्डवों का स्वर्गारोहण स्मरण हो आता है। शङ्कर के ताण्डव नृत्य की ओर कई कविताओं में संकेत किया गया है। राम (रामायण) और कृष्ण (महाभारत) भारतवर्ष के दो श्वास हैं। इनके नामोच्चारण से हम प्राणान्वित होते हैं। दिनकर ने इनके जीवन के मार्मिक प्रसंगों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है:—

"शवरी के जूठे बेरों से आज राम को प्रेम नहीं
मेवा छोड़ शाक खाने का आज पुरातन नेम नहीं।"

—रे०,

पहली पंक्ति में राम और दूसरी में कृष्ण के दीन बन्धुत्व की ओर उपालंभ मूलक संकेत किया गया है। शवरी और विदुर के प्रसंग से अनभिज्ञ पाठक यहाँ रस नहीं ले सकते; लेकिन इस प्रसङ्ग को कौन भारतवासी नहीं जानता! कवि ने रामायण और महाभारत के प्रसंगों की ओर कई बार संकेत किया है—

१—"कर्मियों ने देखा जब तुम्हें, टूटने लगे शम्भु के चाप,
वेधने चला लक्ष्य गांडीव, पुरुष के खिलने लगे प्रताप।
एक इंगित पर दौड़े शूर कनक-मृगपर होकर हतज्ञान।"

—रस०, नारी।

२—"सच है, जल उठते महल, बिखेरे जब अंगारे जाते हैं,
और, मचकर रहता कुरुक्षेत्र, जब चीर उतारे जाते हैं।
३—सच है, गिरती जब गाज कठिन भूधर का उर फट जाता है;
जब चक्र घूमता है, मस्तक शिशुपालों का कट जाता है।
४—सम्मुख है राज-सभा, लेकिन प्रस्ताव अभी तक बाकी है;
केशव को लगता, स्यात्, आखिरी घाव अभी तक बाकी है।"

—साम० हे मेरे स्वदेश!

उपर्युक्त चारों प्रसंगों के सामान्य और लोकप्रिय होने के कारण उनकी व्याख्या करना अनावश्यक है।

ऐतिहासिक प्रसंगों का पर्याप्त उल्लेख 'रेणुका' में उपलब्ध है। रेणुका की 'तांडव-गीत में' तो सिकंदर, महमूद गजनवी और नेपोलियन बोनापार्ट तक का

उल्लेख है। दिनकर काव्य में भारतीय वीरों के जीवन-प्रसंग की चर्चा पग-पग पर मिलेगी। दो एक उदाहरण दिये जाते हैं :—

१—"वट के नीचे खड़ी खोजती लिए सुजाता खीर तुम्हें"

—रे०, बोधिसत्त्व।

सुजाता ने खीर खिलाकर भगवान बुद्ध के प्राण बचाए थे, यह ऐतिहासिक तथ्य है।

२—"अब भी कभी लहू में डूबी विजय विहँसती आयेगी
किस अशोक की आँख किन्तु रोकर उसको नहलायेगी?"

—साम०, अतीत के द्वार पर

यहाँ कलिंग-विजय के उपरांत अशोक के करुणा-प्लावित हृदय की ओर सूक्ष्म संकेत है।

३—"वन-वन स्वतंत्रता दीप लिए फिरने वाला बलवान कहाँ!"

—रे०, हिमालय

घास की रोटी सेंक कर खाने वाले महाराणा प्रताप की याद आप ही आ जाती है, उनकी निर्भीक वीरता की ओर सूक्ष्म, भावभरित संकेत है।

काव्याश्रित प्रसंगों में आदि कवि वाल्मीकि और कवि-कुल-गुरु कालिदास की अमर कृतियों के भाव पूर्ण स्थलों की ओर दिनकर ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है। क्रौंच पक्षी का करुण क्रंदन सुनकर वाल्मीकि के हृदय से किस प्रकार कविता फूट पड़ी, यह सर्व विदित है। इस मार्मिक घटना की ओर दिनकर ने कई बार संकेत किया है:—

१—"लाखों क्रौंच कराह रहे हैं, जाग आदि कवि की कल्याणी,
फूट-फूट तू कवि कंठों से बन व्यापक निज युग की वाणी।"

रे०, कस्मैदेवाय।

२—"जिस दिन तमसा-तट पर तुमने दी फूँक बाँसुरी अनजाने,
शैलों की श्रुतियाँ खुलीं, लगे नीडों में खग उठ-उठ गाने।"

—रस०, कवि।

३—"विहगों के आँसू देख फूटते थे मनुजों के छंद नहीं।'

—वही।

'यहाँ पहले में ओज, दूसरे में उद्बोधन और तीसरे में करुण की व्यंजना हुई है। 'रेणुका' की 'कोयल' में किस प्रकार कवि हमें अभिज्ञान शाकुंतलम् के तृतीय अङ्क में पहुँचा देता है—इसकी चर्चा प्रकृति-चित्रण के सिलसिले में हो

चुकी है। रसवन्ती की 'कवि' की 'मृगदृगी वन्य कन्या कर पाई थी मृगियों से प्यार, नहीं' पंक्ति में 'शकुन्तला' की ओर ही इशारा है। इसी में, 'मेघों पर चढ़कर प्रिया-पास प्रेमी की व्याकुल आह चली' पढ़कर 'कश्चित्कान्ता विरह गुरुणा' का स्मरण हो जाता है।*

"एक अलका व्योम के उस ओर,
यक्षिणी कोई विषाद विभोर।"
—रस०, संध्या।

उपर्युक्त पंक्ति 'मेघदूत' की अलकापुरी का दृश्य हमारे सामने उपस्थित करती है। मेघाच्छन्न दिवस की स्थल कमलिनी की तरह, न प्रबुद्धा न सुप्ता, यक्ष की विरहिणी, हमारे नयनों से झाँक जाती है।

शब्द की तीन शक्तियों में लक्षणा का प्रचलन आधुनिक काव्य में कुछ अधिक दीख पड़ता है। छायावादी काव्य में लाक्षणिकता का प्रयोगबाहुल्य खटकने की सीमा पर आ गया है। 'अभिलाषाओं की करवट' देख किसी समालोचक को घबड़ाहट भी हुई थी। छायावाद में अभिव्यंजना पर अधिक बल पड़ने के कारण लक्षणा दूर तक घसीटी गई है। राष्ट्रीय कविता में भावों की प्रधानता होने के कारण लक्षणा की गत नहीं हो पाई है।

लक्षणा में तीन बातें मुख्य हैं—मुख्यार्थ की बाधा, मुख्यार्थ का योग और रूढ़ि अथवा प्रयोजन। रूढ़ि लक्षणा का प्रयोग लोक-प्रसिद्धि या प्रयोग-बाहुल्य के कारण उतना चमत्कारपूर्ण नहीं होता। आधुनिक कविता में प्रयोजनवती लक्षणा का प्रयोग खुलकर किया जा रहा है। इसमें अन्तस्तल के सूक्ष्म भावों का प्रत्यक्षीकरण सुन्दरता के साथ किया जा सकता है। अमूर्त भावों का मूर्त विधान हो जाने से अभिव्यंजना का सौन्दर्य निखर उठता है। भावों के मानवीकरण में यही लक्षणा प्रयुक्त होती है। अँग्रेजी के विशेषण विपर्यय अलंकार में साध्यवसाना लक्षणा काम देती है।

दिनकर की कविता से रूढ़ि लक्षणा के दो एक मार्मिक उदाहरण दिए जाते हैं :—

१—दायें पार्श्व पड़ा सोता मिट्टी में मगध शक्तिशाली
वीर लिच्छवी की विधवा बायें रोती है वैशाली। रे०

२—कह हृदय खोल चित्तौर यहाँ कितने दिन ज्वाल वसंत हुआ। रे०

*किसी ग्रन्थ या सूक्ति के कुछ ख्यात अंश उद्धृत कर उस प्रसंग की ओर ध्यान आकृष्ट किया जाता है, जैसे: —

"यदि न हाय दर्द रिसलाती···भा कुठार कुंठित नृप धावी।—दिल्ली

यहाँ मगध और चित्तौर का अर्थ उनके निवासियों से है। गौणी लक्षणा में सादृश्य सम्बन्ध अर्थात् समान गुण या धर्म के कारण लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त जहाँ अन्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ का बोध होता है वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं :—

१—विद्युत की इस चकाचौंध में देख दीप की लौ रोती है।
अरी, हृदय को थाम महल के लिए झोपड़ी बलि होती है।—रे०

२—बुद्धि बिलखते उर का चाहे जितना करे प्रबोध,
सहज छोड़ती नहीं प्रकृति लेना अपना प्रतिशोध।—कुरु०

३—विस्मय है, जिस पर घोर लौह पुरुषों का कोई वश न चला।
उस गढ़ में कूदा दूध और मिट्टी का बना हुआ पुतला।—बापू०

४—दुनिया भी देखे अन्धकार की कैसी फौज उमड़ती है।
औ, एक अकेली किरण व्यूह में जाकर कैसे लड़ती है।—साम०

"अब की अगस्त्य की बारी है, पापों के पारावार! सजग;
दुनिया के नारो सावधान, दुनिया के पापी जार सजग।"—हुँ०

पहले में 'महल' और 'झोपड़ा' उनमें रहने वाले अमीरों और गरीबों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। आधार-आधेय सम्बन्ध होने के कारण यह शुद्धा है। पुनः, लक्षक शब्द के अर्थ वाच्यार्थ से अन्वित होने के कारण उपादान लक्षणा है। यहाँ, अपने अर्थ की सिद्धि के लिए दूसरे का आक्षेप किया गया है। इसी प्रकार 'कोड़ों की खाकर मार पलीं पीड़ित को दवा कराती मैं' (विपथगा)'— यहाँ कोड़ों की मार से तात्पर्य अनेक प्रकार के जुल्मों और अत्याचारों से है। 'कोड़ा' यहाँ एक उपलक्षण मात्र है। संस्कृत में इसके लिए 'काकेभ्यो दधि रक्षन्ताम्' का उदाहरण अति प्रसिद्ध है। दूसरे के 'बिलखते उर' में अंगागिभाव-सम्बन्ध के कारण शुद्धा है। रोते हुए पुरुषों के लिए 'बिलखते उर' का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार, 'आँसू भरे दृगों में चिनगारियाँ सजा दे' (आग की भीख) में दुखी आदमी के लिए आँसू भरे दृग का प्रयोग हुआ है। तीसरे में नोआखाली के भयानक साम्प्रदायिक दंगों में निर्भीक विचरने वाले महात्मा गाँधी के वीरत्व का वर्णन है। यहाँ गाँधी की कोमल सात्विक काया और दूध-मिट्टी के पुतले में सदृश्य सम्बन्ध होने के कारण गौणी लक्षण है, लेकिन इसमें आरोप-विषय, अर्थात्, व्यक्ति का नाम नहीं है, केवल विषयी, आरोप्यमान का कथन है;—इसलिए यह साध्यवसाना है। दूध-मिट्टी के पुतले का लक्ष्यार्थ सुकुमार, सात्विक और सहनशील व्यक्ति है। यहाँ, दूध और मिट्टी अपने मुख्यार्थ को सर्वथा छोड़कर लक्ष्यार्थ को ही ग्रहण करते हैं, अतः लक्षण लक्षणा है। गाँधी जी को अति कोमल, उदार और दयार्द्र बताना इसका

प्रयोजन है। चौथे में भी आरोप विषय गाँधीजी का कथन नहीं होने के कारण साध्यवसाना है; लेकिन 'किरण' और गाँधी में सादृश्य सम्बन्ध नहीं होने के कारण शुद्धा है। यहाँ, किरण और गाँधी में तात्कर्म्य—सम्बन्ध द्वारा लक्ष्यार्थ की प्राप्ति होती है। एक किरण भी घोर अन्धकार में अकेली पहुँच कर उसे विनष्ट करत है;। गाँधीजी भी अकेले साम्प्रदायिकता के गम्भीर अन्धकार से संघर्ष करते हैं। पाँचवे में शुद्धा-साध्यवसाना, लक्षणमूला, गूढ़ा प्रयोजनवती लक्षणा है। 'नीरो' और 'जार' में क्रूर, नृशंस और अत्याचारी शासकों का अध्यवसान है। तात्कर्म्य-सम्बन्ध होने के कारण यह शुद्धा है। नीरो और जार ने अपना अर्थ छोड़कर अत्याचारी शासकों को दे दिया है, इससे लक्षण-लक्षणा है। शासकों को घोर क्रूर चित्रित करना इसका प्रयोजन है। 'अगस्त्य' के द्वारा यह सूचित किया जा रहा है कि इस बार जनता पूँजीवाद के समुद्र को बिल्कुल सोख लेगी।

काव्य में मूर्त्त का अमूर्त्त और अप्रस्तुत का प्रस्तुत विधान शैली के उत्कर्ष के लिए किया जाता है। यह विधान प्रायः सादृश्य, साधर्म्य और प्रभाव-साम्य के सहारे किया जाता है। सादृश्य में रूप-साम्य पर ध्यान दिया जाता है, साधर्म्य में गुण और क्रिया की तुल्यता पर एवं तीसरे में भाव को तीव्र करने के लिए प्रभाव की अन्विति पर। प्रयोजनवती लक्षणा द्वारा अमूर्त्त भावों के मूर्त्त विधान किए जाने के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं:—

१—"यौवन चलता सदा गर्व से सिर ताने, शर खींचे,
झुकने लगता किन्तु, क्षीण बल वय विवेक के नीचे।
किन्तु वृद्धि नित खड़ी ताक में, रहती घात लगाये,
कब जीवन का ज्वार शिथिल हो, कब वह उसे दबाये।"

—कुरु०

२—"वह सुनो सत्य चिल्लाता है, ले मेरा नाम अँधेरे में।
करुणा पुकारती है मुझको, आबद्ध घृणा के घेरे में।"

—बापू

३—"मन की बँधी उमंगे असहाय जल रही हैं,
अरमान आरजू की लाशें निकल रही हैं।"

—साम०

४—"मानवता का इतिहास विकल, हाँफता हुआ लोहू लुहान
दौड़ा तुझसे माँगता हुआ बापू। दुःखों से सपदि त्राण।"

—बापू

पहले में 'यौवन' और 'बुद्धि' का चित्र उपस्थित किया गया है। शर खींचे हुए, सर तानकर गर्व से चलने वाला यौवन वीर लक्ष्मण की प्रति मूर्ति प्रतीत होता है। बुद्धि का ताक लगाये घात में खड़ा रहना मंथरा का चित्र उपस्थित करता है। दूसरे में सत्य और करुणा को मानवीय क्रिया-व्यापारों से संपृक्त कर गतिशील बनाया गया है। 'वह सुनो' के अंगुलि-निर्देश द्वारा हमारा ध्यान किसी दृश्य पर आकर्षित किया गया है। अंधेरे में सत्य का चिल्लाना सुनाई पड़ रहा है। सत्य पुरुष है; अंधेरे में जोर से चिल्ला रहा है। करुणा नारी है, घेरे में बँधी वह धीमे से पुकार रही है। चौथे में, आशा अभिलाषाओं के बे-मौके विनष्ट होने का वर्णन है। बँधी हुई उमंगों का असहाय जलना, अत्यन्त कारुणिक चित्र है।

मूर्त्त-प्रस्तुत के लिए अमूर्त्त-अप्रस्तुत-विधान करने की भी परिपाटी है। इससे भाव की व्यापकता और जोर बढ़ जाता है। मूर्त्त वस्तु के ओझल हो जाने से पाठक की कल्पना और अनुभूति का प्रसार होने लगता है। छायायुग के रससिद्ध कलाकारों ने अमूर्त्त विधान द्वारा भाषा की व्यंजना शक्ति में चार चाँद लगा दिये हैं। प्रणय-लीला में संकोच करने वाले, चाँद के समान सुन्दर प्रियतम को, प्रसाद की कल्याणी का यह सम्बोधन कितना भाव पूर्ण है :—

"हे लाज भरे सौन्दर्य, बता दो, मौन बने रहते हो क्यों !"

दिनकर ने भी प्रस्तुत की जगह अप्रस्तुत की, आवश्यकतानुसार सुन्दर योजना की है :—

१—"आज दीनता को प्रभु की पूजा का भी अधिकार नहीं।'

—रे०

२—'जागो,विप्लव के वाक ! दंभियों के इन अत्याचारों से '

—रे०

३—'दहक रही मिट्टी स्वदेश की, खौल रहा गंगा का पानी;
प्राचीरों में गरज रही है जंजीरों से कसी जवानी।

—साम०

४—'सुन्दरता जलती मरघट में मिटती यहाँ जवानी।'

—दू०

तीसरे उदाहरण में जेलों में तड़पते वीरों की व्याकुल मूर्त्तियाँ प्रत्यक्ष हो उठी हैं।

जहाँ विशेषण अपने उपयुक्त विशेष्य का साथ छोड़कर किसी और विशेष्य

का गुणाख्यान करता है, वहाँ उसे 'विशेषण विपर्यय' कहा जाता है। कवि भावुकतावश विशेषण के प्रयोग में व्यतिक्रम कर देता है। कुछ उदाहरण:—

१—'रानी, सब दिन गीली रही कथा है।'

—रे०

२—'सिहरता शरमीला चुम्बन, कहाँ वह सोने का संसार।

—रे०

३—'मीठे सपने मँडराते हैं, मादक वेदना गरजती है।'

—साम०

४—'यह पार लगी तो धरती की घायल किस्मत भी लगी पार।

—बापू

५—'पर, तू इन सब से परे, देख तुझको अङ्गार लजाते हैं;
मेरे उद्वेलित ज्वलित गीत सामने नहीं हो पाते हैं।'

—बापू

कथा गीली नहीं, रानी का दिल गीला, अश्रु पूर्ण है। चुम्बन नहीं सिहरते वरन्, प्रेमिका ही प्रथम-मिलन में शरम से सिहरती हुई प्रियतम को चूम रही है। 'मीठे सपने' और 'मादक वेदना' मधुर अभिलाषा वाले टूटे हुए दिल की याद कराते हैं। 'किस्मत' कोई साकार मूर्त्त वस्तु नहीं, जो घायल होगी। 'घायल किस्मत' का अर्थ घायल मानवता समझना चाहिए। इसी प्रकार 'उद्वेलित ज्वलित' गीत की अपेक्षा कवि की चित्त दशा को अधिक व्यक्त कर रहा है। ऐसे स्थलों पर प्रायः साध्यवसान लक्षणा का वैचित्र्य प्रकट होता है।

दिनकर ने प्रस्तुत के स्थान पर तद्बोधक प्रतीक का भी प्रयोग कर अपनी शैली का उत्कर्ष बढ़ाया है। प्रतीक के प्रयोग में कवि को समाज के भाव-लोक और विचार-परंपरा का ध्यान अवश्य रहना चाहिए। मानव-स्वाभाव के मूल में सृजन और विनाश की दो जन्मजात प्रवृत्तियाँ रहने के कारण प्रतीकों को सृजन-मूलक और विनाश-मूलक इन दो प्रकारों में विभाजित कर सकते हैं। सृजन और विनाश एक ही धागे के दो छोर हैं। जीवन में दोनों एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। दीपक, कमल, आलोक, होम-शिखा और सामवेनी सृजन के प्रतीक हैं; तथा अग्नि, रुद्र, तांडव, काल-सर्प, हलाहल आदि विनाश के प्रतीक हैं। प्रेम और सौन्दर्य-भावना सृजन के अन्तर्गत होने के कारण, चंद्र, हंस, तितली, भ्रमर आदि सृजनमूलक प्रतीक माने जायँगे। भय, आतंक, क्रोध, घृणा आदि का विनाश से सम्बन्ध है, इसलिए राक्षस, भूकंप, वज्र, पतझर, अंधकार आदि विनाश मूलक प्रतीक कहलायेंगे। जीवन के प्रमुख भाव-व्यापारों को व्यक्त करने वाली कुछ वस्तुएँ

भी काव्य में प्रतीक बनकर प्रकट होती है। दुलहिन, नैहर, ससुराल, चरखा, चादर, हंस आदि के प्रतीकात्मक प्रयोग कबीर के पदों को अत्यन्त मार्मिक बना देते हैं। नीचे के उदाहरणों में दिनकर ने कुछ प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग किया है:—

१—कितने दीप बुझे झाड़ी झुरमुट में ज्योति पसार।' —रे०

२—तितलियाँ प्रदीप जलाती हैं, शेखर की कविता गाती हैं। —रे०

नीली-पीली साड़ियाँ पहने, प्रसन्नवदना चपला बालाओं के लिए तितलियों का प्रयोग हुआ है।

३—जय हो भारत के नये खड्ग, जय तरुण देश के सेनानी। —साम

पूँजीवाद को विनष्ट कर देश में शांति-स्थापन करने वाले जयप्रकाश को नये खड्ग के नाम से पुकारा गया है। खड्ग, तलवार-शक्ति और शासन का प्रतीक है।

४—हंसों के नीड़ लगे जलने हंसों की गिरने लगी लाश। —बापू

हंस=निर्दोष सुकुमार बच्चे।

५—आगे पहाड़ को पा धारा रुकी हुई है,
बल पुंज केशरी की ग्रीवा झुकी हुई है। —साम०

पहाड़=भारी विपत्ति। धारा=कार्य की गति।
केशरी=बलवान वीर युवक।

लोकोक्ति और मुहाविरे लोकजीवन की गोद में पलते हैं। कृत्रिम नागरिक भाषा से मुहाविरे मुँह छिपाते चलते हैं। गाँवों के बीच इनका जौहर चमकता है। औरतों की बोली में, जो नई रोशनी से काफी दूर हैं, मुहाविरे का अच्छा प्रयोग होता है। दिनकर की भाषा, लोक जीवन से रस पीने के कारण, तगड़ी और मुहाविरेदार हो गई है:—

१—जी भर पी लो आज अधर-रस कल तो आग लगी जीवन में —रे०

२—सोमनाथ मन्दिर का सोना ताक रहा है राह। —रे०

३—मुस्लिमों, तुम चाहते जिसकी जबाँ, उस गरीबिन ने जबाँ खोली कभी।
—हुँ०

४—किन्तु बुद्धि नित खड़ी ताक में रहती घात लगाए —कुरु०

५—तब कौन ग्लानि के साथ हृदय को तोले।
दृग श्रवन मूँदकर अपना हृदय टटोले॥ कुरु०

६—ये हैं वे जिनके जादू पानी में आग लगाते हैं। —हुँ०

एकाध जगह दिनकर ने मुहाविरे का रूप भी बिगाड़ दिया है। 'कभी-कभी हम गिन पाते हैं प्रिये, मीन या मेष नहीं।' (द्व०); —मुहाविरा है, 'मीन मेख निकालना,'

लेकिन, यहाँ के प्रयोग से पता चलता है कि कवि मछली या बकरे को गिनना चाहते हैं।

अन्य कवियों की तरह दिनकर में भी शैली सम्बन्धी कुछ दोष वर्त्तमान हैं। यहाँ, संक्षेप में उनका उल्लेख किया जाता है—

दिनकर की प्रारम्भिक कविताओं में अनुपात पर कुछ कम ध्यान दिया गया है। लम्बी कविताओं के प्रारम्भ में भूमिका - भाग अनावश्यक प्रतीत होता है। अंगी की अपेक्षा अंग का विस्तृत वर्णन कला की दृष्टि से हेय है। रेणुका (कला-तीर्थ), रसवंती (रसवन्ती) और हुँकार (हाहाकार) की कुछ कविताओं में यह दोष वर्त्तमान है। सामधेनी इस दोष से पूर्णतया मुक्त है।

पदावृत्ति द्वारा भाव की सौन्दर्य-वृद्धि में दिनकर की तरह शायद ही किसी कवि को सफलता मिली है। रेणुका से बापू तक इनकी यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। लेकिन, अधिक खींचते रहने से इस कला का इनके द्वारा दुरुपयोग भी कम नहीं हुआ। सामधेनी की 'जवानियाँ' और 'जवानी का झण्डा', में 'अहा' की आवृत्ति हमारे धैर्य को बहा ले जाती है। 'बापू' के प्रारम्भ में 'अंगार-हार' गले से पिंड छोड़ता ही नहीं। हिन्दी के अर्द्धशिक्षित श्रोताओं को उत्तेजित करने का यह आसान तरीका बिल्कुल सस्ता नहीं होना चाहिए।

दिनकर की रचनाओं में सार्वजनिक मंच पर व्याख्यान देने वाले किसी वक्ता का भी स्वर सुनाई पड़ता है। साधारण-सी बात को जोर देकर, तूल देकर, कहने की प्रवृत्ति इनमें पाई जाती है। इनकी भाषा-शैली का गर्जन-तर्जन और हाव-भाव-प्रदर्शन, एकाध जगह खटकता है। भाषा के बम्बास्ट और विस्फोट से अपनी कविता को बेदाग बचा लेना दिनकर के वश के बाहर की बात है। इनकी क्रांति-संबन्धी रचनाएँ इस दोष से बरी नहीं हैं।

रचना में अप्रचलित शब्दों का प्रयोग अर्थबोध में बाधा उत्पन्न करता है। तुक या मात्रा की पूर्त्ति के लिये यदि एकाध ऐसे शब्द आ जायँ, तो वह क्षम्य है, लेकिन जहाँ जान बूझकर ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाय, जिनका व्यवहार हिन्दी-साहित्य में बहुत कम है या है ही नहीं, तो वह निश्चय ही दोष है। यह अप्रयुक्तत्व-दोष राष्ट्रीय कविता में बुरी तरह खटकता है। ध्यान देने की बात है, उक्त दोष मामूली टाइप की कविताओं में ही दीख पड़ता है। भाव-शैथिल्य के बीच में दो-चार अप्रचलित शब्द लुढ़क पड़े हैं। सामधेनी की 'प्रतिकूल' का कुछ ऐसा ही हाल है :—

"इच्छा मैं भी उसकी, जिसका यह शम्य-पात
नर की महिमा का लिखा पृष्ठ नूतन, वलक्ष
चलना होगा कब तक दूरध्व पर हृदय-शाल,
सागर में तप परिणाह . महानभ में विबंध···।"

'कुरुक्षेत्र' की प्रारंभिक पंक्तियों में 'व्याहार' और 'शीर्षवलक्ष' को देखकर मन बैठने लगता है। 'कलिंग-विजय' में 'वेशन्त' (वेसन तो नहीं?) तुक के आग्रह से और 'विहीन' पाद-पूर्ति के लिये आये हैं। 'हुँकार' की 'स्वर्गदहन' में संस्कृत-बहुल भाषा का प्रयोग वातावरण-निर्माण की दृष्टि से भले ही उपयुक्त समझा जाय, लेकिन प्रसाद-गुण का गला दबाना उचित नहीं :—

"मेरी ध्वनि के छा गये दिग्दिव में प्रतिध्वान
सुरवर्त्म स्तब्ध, रुक गया विभाव झुका विमान"

'स्वर्ग दहन' के उपर्युक्त प्रारंभ का पाठक थामना भी नहीं कर पाता है कि उसके ऊपर 'हरियद', 'विरूपाक्ष', 'सुरद्विप', 'मिहिर', 'विवस्वान', आदि शब्दों की बौछार शुरू हो जाती है। सरल पदावली के बीच किसी क्लिष्ट शब्द का आ धमकना मूर्ख की लाठी से बढ़ कर खतरनाक है। लाठी सर फोड़ती है, क्लिष्टता सर खाती है। कुरुक्षेत्र के पंचम सर्ग की ग्यारहवीं पंक्ति में एक ऐसा ही शब्द है:—

"इन पत्रों से आ रहा विस्त्र यह क्या है?
जल रहा कौन? किसका यह विकट धुँआ है?"

रेणुका की 'कस्मै देवाय' में सर्प की फुफकार के लिए गूँजना शब्द ठीक नहीं जँचता:—

गूँज रही संस्कृत मंडप में भीषण फणियों की फुफकारें।"

'फुफकार' को व्यक्त करने के लिये 'फणि' बड़ा माकूल हुआ है। भौंरें गूँजते हैं; सर्प की फुफकार नहीं। इसलिए यहाँ 'गूँज रही' में प्रसिद्धि-हत-दोष आ गया है। रेणुका की 'कवि' में 'विशाल' शब्द का प्रयोग मुझे खटकता है:—

'सरल शिशु-सा सोता है विश्व ओढ़ सपनों के वसन विशाल।'

सरल शिशु को विशाल वसन ओढ़ाने से भारी नहीं लगेगा? या विशाल विश्व के लिए तो विशाल वसन नहीं मँगाया गया है?

निम्नलिखित उदाहरणों में च्युत संस्कृति-दोष देखे जा सकते हैं:—

१—'आँजने जिस क्षण बैठी आँख, पहुँची मधु वेला यह आन'
—रस०

२—'कोयल न कीर तो बोले हैं, कुररी मैना रस घोले हैं'
—रे०

३—'दिल्ली, आह, कलंक देश की, दिल्ली आह ग्लानि की भाषा'

—साम०

पहले में 'पहूँची' में 'ह' में उकार चाहिए। ह्रस्व 'उ' मधु-वेला में शीघ्र पहुँचने की सूचना भी देता। दूसरे में, सकर्मक क्रिया बोलना के आसन्न भूत कालिक रूप में कर्त्ता की 'ने' विभक्ति होनी चाहिए। तीसरे में 'कलंक' का स्त्रीलिंग में प्रयोग चिन्त्य है।

उपर्युक्त समीक्षा के उपरान्त यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि दिनकर को अपनी भाषा-शैली पर पूरा अधिकार है। अपने मनोनुकूल भावों को व्यक्त करने के लिए कवि के पास उपयुक्त शब्दावली सदा तैयार रहती है। इनमें प्रांजल संस्कृतनिष्ठ भाषा की गरिमा के साथ सरल बोलचाल की मुहावरेदार छटा भी वर्तमान है। प्रखर भावों को उद्घोषित करने वाली सामासिकशैली की प्रभा के अतिरिक्त हरी भाव-वीचियों को व्यंजित करने वाली कोमल पद-माधुरी भी इनमें थिरकती है। बालकों की कोमल मति को विकसित करने वाली, 'धूप-छाँह' में इनकी शैली का सरलपन खेल रहा है। नस-नस में तरल आग दौड़ाने वाली शैली 'हुँकार' और 'साम धेनी' में प्रज्वलित हो रही है। धन्वा की टंकार, तलवार की झंकार और वज्र के निर्घोष से दिनकर का काव्य-गगन प्रतिध्वनित होता रहता है। दुर्बलों की आह और धनकुबेरों का अट्टहास, दोनों के चित्रण में कवि को समान रूप से सफलता मिली है। दिनकर की शैली के एक नेत्र में रण-चंडी का प्रकोप और दूसरे में रसवन्ती का प्यार छलक रहा है। रुद्र की शृंगी और रास की मुरली बजाने वाली यह शैली कभी ज्वालामुखियों में दहाड़ती, कभी चाँदनी में अठखेलियाँ करती है। यौवन के अंगार और घनसार, मधु और हलाहल, मुसकान और उच्छ्वास, एवं कंकन और करवाल की मीलित झँकार का अपूर्व आस्वादन दिनकर की दिव्य शैली में सहज सुलभ है।

मिट्टी की ओर

इस पुस्तक में चौदह निबन्ध हैं। इनमें तीन, मैथिलीशरण, सियारामशरण और भारतीय आत्मा पर लिखे गए हैं। सब से अंतिम, 'तुम घर कब आओगे कवि' निबन्ध नहीं होकर गद्य-काव्य हो गया है। शेष दस में भी अधिकांश निबंध सभा-सम्मेलनों में पढ़े गये अभि-भाषण के रूप में लिखे गये हैं। ये सब निबन्ध वर्त्तमान हिन्दी कविता—विशेषतः छायावाद और प्रगतिवाद पर प्रकाश डालते हैं।

प्रथम निबन्ध 'इतिहास के दृष्टिकोण से' पांच उपशीर्षकों में विभाजित है:—कोलाहल, अज्ञात कुलशीलता का भ्रम, वैयक्तिकता का उत्थान, विद्रोह की असंगतियां और अशक्तताएँ एवं मिट्टी की ओर। 'कोलाहल' में छायावाद के उत्थान-काल के छोटे बड़े कवियों का, उसके समर्थकों और विरोधियों का सरसता और सुन्दरता के साथ वर्णन किया गया है। एक छायावादी कवि जी का रेखा-चित्र इस प्रकार है,—"लम्बे केश, निर्लोम आकृति, औसत से अधिक लम्बे कपड़े स्त्रैण प्रसाधनों की ओर आसक्ति, कृत्रिम मुखमुद्रा, बातचीत में बनावट, साधारण बातों में भी साहित्यिक भाषा का प्रयोग, जन साधारण की औसत रुचि एवं विश्वासों की उपेक्षा, दूसरों की मान्यताओं का अनावश्यक विरोध… …… (इससे) औसत लोगों के झुण्ड में ये कवि नहीं खप सकते थे।"—पृ० ७। ऐसे कवियों को चेतावनी दी जाती थी कि 'मत पीछे पड़ो बंगाली कवियों के तुम, कवि सम्राट हो या बाप हो सम्राटो के।' छायावाद कालीन रहस्यवादी कवियों की खिल्ली उड़ाते हुए कठिन आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'पाखंड-परिच्छेद' नामक कविता में पाठकों को संकेत किया था, कि ये नए कवि ढोर हैं, इसलिये इन्हें "हाँक दो, न घूम-घूम खेती काव्य की चरें।" 'पाखंड प्रतिषेध' में पं० मातादीन शुक्ल ने शुक्ल जी को अरूप की ओर जाने की सलाह दी थी। 'सुधा' में निकले हुए छायावादी कवियों के कार्टून का भी जिक्र किया गया है।

'अज्ञात कुल शीलता का भ्रम' में छायावाद सम्बन्धी भिन्न-भिन्न मतों और अफवाहों का जिक्र किया गया है। छायावाद को कोई पलायनवाद, कोई नकली रहस्यवाद और कोई विलायती मुरब्बा कहा करते थे। दिनकर का कथन है कि छायावाद में धर्म, राजनीति, समाज और संस्कृति सभी के नव जागरण का

मिश्रित आलोक था जो साहित्यिक अनुभूति के भीतर से प्रकट होने के कारण ह से भिन्न और सभी के समान मालूम होता था। दुःख है कि इस विशाल सांस्कृतिक जागरण को उचित समय पर उचित आलोचक नहीं मिल सका।

'वैयक्तिकता के उत्थान' में भारतीय चिंतन की विशिष्टता का ऐतिहासिक उल्लेख करते हुए यहाँ के कर्मफलवाद' पुनर्जन्मवाद आदि सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह मत भी उद्धृत किया गया है' कि "जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद के निश्चित रूप से स्वीकृत हो जाने के कारण प्रचलित रूढ़ियों के विरुद्ध तीव्र संदेह एकदम असम्भव था। कवि कठिन से कठिन दुःखों का वर्णन पूरी तटस्थता के साथ करते थे और शायद ही कभी होता था जब कोई कवि विद्रोह के साथ कह उठे कि यह अन्याय है, हम इसका विरोध करते हैं।" दिनकर की दृष्टि में 'छायावाद हिन्दी में उद्दाम वैयक्तिकता का पहला विस्फोट था।' —छायावाद का इतिहास उस युग का इतिहास है जब हिन्दी के मनीषियों ने पहले पहल आपको पहचाना और रूढ़ियों के संकेत पर चलने से इनकार कर दिया।"—(पृ० १९-१२) छायावाद की वैयक्तिकता के उत्थान में वैयक्तिक स्वाधीनता के घोर प्रेमी अङ्गरेजी के रोमांटिक कवियों, रवीन्द्र की ज्वलंत, वैयक्तिकता और दर्शन समाज और राजनीति की अभिनव व्याख्या करने वाली प्रवृत्ति के साथ ही वैज्ञानिक अनुसधानों का भी हाथ था।

'विद्रोह की असंगतियाँ और अशक्तताएँ, में छायावाद सम्बन्धी असंगत और भ्रांत धारणाओं का उल्लेख करते हुए उनके निराकरण का भी प्रयास किया गया है। इसमें पंत, प्रसाद, निराला, महादेवी, द्विज, रामकुमार, भगवती चरण, माखनलाल आदि कवियों की काव्यगत विशेषताओं की चर्चा भी की गई है। छायावाद में निराशावाद, क्रांतिवाद, पलायनवाद, कल्पनावाद की प्रचुरता क्यों हुई—इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी किया गया है। इस प्रसंग में दिनकर ने छायावाद सम्बन्धी अपने विशिष्ट मत का भी प्रतिपादन किया है। उनका एक मत यह है; सबसे बड़ी गलती छायावाद को रहस्यवाद सिद्ध करने में हुई। रहस्यवाद साहित्य से बाहर धर्म का गुण है और साहित्य में आकर भी वह भक्त कवि की अधूरी ईश्वरानुभूति का ही धुँधला उद्गार हुआ करता है।...... साहित्य में एक परम्परा है जो शुद्ध भक्ति के उद्गारों को प्रार्थना कहती है; इस परम्परा के अनुसार रहस्यवाद की रचनाएँ वे ही होती हैं जो ज्ञान और भक्ति के समन्वय से जन्म लेती हैं और जिनमें अध्यात्म की ओर बढ़ते हुए भावुक संत का धुँधला उन्माद होता है। किन्तु यह परम्परा ही है।" —पृ० २१। लेखक ने छायावाद की आंतरिक दुर्बलताओं का स्पष्टता के साथ उल्लेख करते हुए कहा है, "और

सत्य ही काव्यक्षेत्र में ऐसी कुहेलिका छाई हुई थी कि उसके भीतर छिपकर कुछ भी कहा जा सकता था और पीछे उसकी कुछ भी टीका की जा सकती थी। उसमें शारीरिक आसक्ति के गीतों की व्याख्या प्रभु की प्रीति में हो रही थी और वासना का नाम आध्यात्मिक प्रेम दिया जा रहा था। रोजी के अभाव, रुपयों की कमी और बेकारी से जन्मी हुई निराशा संसार से विराग का रूप ले रही थी और दैनिक जीवन की कठिनाइयों से घबड़ाया हुआ कवि 'उस पार' चल देने के लिये और नहीं तो 'भग्न-तरी' ही खोज रहा था। निराशा, वेदना और अस्वस्थ वैराग्य के प्रति ऐसी आसक्ति बढ़ी कि जिन्हें आर्थिक साधन सुलभ थे, वे भी, इसकी ओर झुके और अपनी दैनिक प्रेम-लीलाओं की क्षणिक निराशा और वियोग में परमात्मा से आत्मा के अनन्त विरह का रूपक देखने लगे।"—पृ० २३-२४। ऐसी परिस्थिति में "छायावाद की दुर्दशा अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गई होती, यदि उसमें पन्त जी; निरालाजी, प्रसादजी, माखनलालजी, भगवती चरण जी वर्मा और पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन नहीं हुये होते। इस कुहासे में निरालाजी सदैव दृढ़ और पन्तजी हमेशा प्रसन्न रहे। जैसे छायावाद के विद्रोही स्वभाव का प्रतिनिधित्व निरालाजी कर रहे थे, उसी प्रकार नव जागरण के आनन्द और उल्लास के प्रतिमान पन्तजी थे। प्रसाद जी अपनी समस्त दार्शनिकता, ज्ञानगरिमा और विद्या वैभव को लेकर इस कुहासे में समृद्ध साधक के समान बैठे हुए थे तथा उन्हें वे लोग भी सिर नवाते थे जो इस नई दुनिया के खिलाफ थे।"—पृ० ३०-३१। छायावाद की धूमिलता, अस्पष्टता और एकांत प्रियता से जनता उदासीन होती जा रही थी, लेकिन राष्ट्रीय कविताओं ने हिन्दी कविता की बहुत कुछ प्रतिष्ठा रख ली।

'मिट्टी की ओर में छायावाद के द्वितीय उत्थान के प्रमुख कवियों की काव्यगत विशेषताओं का संक्षिप्तता के साथ उल्लेख करते हुए यह बताया गया है कि छायावाद ही किस प्रकार क्रमशः प्रगतिवाद में परिणत हो गया। छायावादी कवि की "रचनाओं में आकाश और अनिल का अंश घटकर सन्तुलन की ओर आ रहा था तथा शेष तत्व जल, अग्नि और मृत्ति—अपने समुचित भाग की प्राप्ति के लिये आगे बढ़ रहा था।"—पृ० ३२, ३३। दिनकर की जिस लेखनी ने छायावाद की दुर्बलताओं का उल्लेख जिस निर्भीकता और निर्ममता के साथ किया है, उसी ने उसके आंतरिक तेज, उद्दाम पौरुष और प्रसन्न निर्मल प्रवाह का भी काव्यात्मक वर्णन इस प्रकार किया है; "छायावाद की आरम्भिक अवस्था में उसकी संभावनाएं, प्रायः प्रच्छन्न और प्रसुप्त थीं। ऊपर-ऊपर, हम जो कुछ देखते थे, वह धुआँ और उच्छ्वास था। शक्ति के अंगारे अभी आगे चलकर प्रकट होने वाले थे। १९२० से लेकर १९३० तक, कई प्रकार की

लिपिबद्ध करने वाली पद्यात्मक पंक्तियाँ काव्य नहीं कही जा सकतीं। काव्यगत रहस्यवाद साम्प्रदायिक रहस्यवाद से सर्वथा भिन्न है; दोनों में कोई सम्बन्ध है ही नहीं। जिस अज्ञात शक्ति को योगी साधना द्वारा और ज्ञानी चिंतन द्वारा प्रत्यक्ष करना चाहता है उसका कवि भावना द्वारा साक्षात्कार करता है। इस व्यक्त जगत में नाना रूपों और विविध वर्णों का अवलोकन कर यह सहज ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इसका रचयिता कौन है? वह कहाँ छिपा है? कनक से दिन, मोती-सी रात, सुनहली साँझ और गुलाबी प्रात को कौन चित्रकार बारम्बार मिटाता रंगता है? शून्य नभ में तमका एक चुम्बन असंख्य उडुगण को जला देता है, लेकिन, भोर होते ही किस उजियाले की फूक फूक उन्हें बुझाकर चली जाती है! सुहागभरी संध्या रवि का पथ गुलालों से लीप कर, और पश्चिम प्रांत में पहला दीप जलाकर विहँसती चली आ रही है; उसके दृगों से स्वर्णपराग झर रहा है। लेकिन, तमकी एक झंकार उसे किस ओर उड़ाकर ले जाती है! सृष्टि के इन सुन्दर दृश्यों के पीछे निश्चय ही कोई 'चिर-सुन्दर' झाँक रहा है। कवि का इस 'चिर सुन्दर' पर मुग्ध होना भी स्वाभाविक है। उसका यह 'प्रियतम' उपनिषदों का अज, अद्वैत, गोतीत, अकल, अनीह और अनाम ब्रह्म नहीं है, वह कवि के हृदय-मन्दिर में कवि द्वारा स्थापित एक मनोमयी मूर्ति है। यह मूर्त्ति कवि के साथ आँखमिचौनी खेलती है, उसे गुद-गुदाती है, हँसाती है, रुलाती है। इसलिये, जिज्ञासा अभिलाषा या लालसा का होना अस्वाभाविक कदापि नहीं है। कवि उस चिन्मय का रूप प्रकृति के विभिन्न अंगों में देखता है और पुलकित होता है। हृदय की भावना का ज्यों-ज्यों विस्तार होता जाता है त्यों-त्यों किसी एक की सत्ता की अनुभूति तीव्र होती जाती है। व्यक्ति अपने ही हृदय की सौन्दर्य-भावना को किसी वस्तु पर प्रक्षिप्त करता है। जहाँ जहाँ उसे अपने हृदय के अनुरूप मिला, वहाँ-वहाँ उसका चित्त रमने लगा। धीरे-धीरे अपने हृदय के 'सुन्दर' और प्रकृति के 'सुन्दर' में तादात्मय का बोध होने लगता है। जिस प्रकार ज्ञानी प्रगाढ़ चिंतन द्वारा 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' का बोध प्राप्त करता है, उसी प्रकार गम्भीर अनुभूति के उपरांत कवि भी 'बीन भी हूं मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ' गा उठता है। ज्ञानयोग और कर्मयोग के अतिरिक्त एक भाव-योग भी है, जो कवि या भावुक भक्त का एकमात्र क्षेत्र है। महादेवी की साधना शुद्ध भाव-योग की साधना है। यहाँ 'इला-पिंगला'सुसमन' नहीं, मूलाधार और सहस्रार की चर्चा तक नहीं, किसी 'गुरु' से दीक्षित होने की भी आवश्यकता नहीं,—केवल भाव-पक्ष है, अनुभूति की तरलता है। 'रहस्य' के लिये किसी विशेष 'ज्ञान' की जरूरत नहीं, केवल विश्वास चाहिये। जिस प्रकार समदर्शी पंडित सुख-दुख, शीत-उष्ण, मान-अपमान और जन्म-मरण में एक-सा वर्त्तता है, उसी

प्रकार कवि भी हास-रुदन, आँसू-मुस्कान, पतझर-वसन्त, फूल-काँटे—सभी को एक दृष्टि से देखता है। प्रियतम की भावना से सारी वस्तुएँ प्रिय हो जाती हैं।

रहस्यवाद भक्त कवि की ईश्वरानुभूति का धुँधला उद्गार भी नहीं है। रहस्यवादी कवि के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह अमुक प्रकार का तिलक लगाकर अमुक मूर्ति के सामने धूप-दीप जलाकर पूजा करते हुए धुँधले उद्गार व्यक्त करे। रहस्यवादी कवि केवल कवि ही होता है। उसके लिए 'भगत' या दार्शनिक होना अनिवार्य क्या आवश्यक भी नहीं है। वह धर्मवाले ईश्वर का ध्यान नहीं; अपने हृदय के प्रिय सखा की भावना करता है। ऐसे कवि के उद्गार धुँधली दृष्टि को धुँधले प्रतीत होते हैं। कवि तो उसका स्पष्ट अनुभव करता है, उसे देखकर गा उठता है, 'नयन भुलानो पलो।' कवि अपनी गम्भीर अनुभूति को व्यक्त करने के लिये जिन प्रतीकों का प्रयोग करता है, उन्हें भी ठीक-ठीक नहीं समझ सकने के कारण 'उद्गार' धुँधला दिखाई पड़ता है। अंग्रेजी के रहस्यवादी कवि ब्लेक के दुरूह प्रतीक जल्द समझ में नहीं आते। 'शलभ, मैं शापमय वर हूँ' वाले गीत में शलभ सांसारिक वासना का और दीप आत्मा का प्रतीक है। इन प्रतीकों को बिना समझे ही यदि कोई किसी उद्गार को धुँधला कह दे तो बेचारे कवि का क्या दोष! इन प्रतीकों को समझने के लिये पाठक में केवल भावयोग चाहिये। जैसे कच्चे कवियों की कविता का अर्थ अस्पष्ट होता है, उसी प्रकार बने हुए रहस्यवादियों के भावों में भी भूलभुलैया का तमाशा देखा जा सकता है। मंजे हुए कवि की उलटबाँसियाँ सीधीसाँखियाँ होती हैं, और अनाड़ी के हाथ की कोई भी उक्ति बे सिर-पैर की हो सकती है।

यदि रहस्यवाद साहित्य से बाहर धर्म का गुण रहता तो इस परदेशी का इस धरती पर इतना आदर नहीं होता; और जायसी, कबीर, महादेवी आदि का इतिहास 'हिन्दी साहित्य' में न लिखा जाकर कहीं और रहता। रहस्यवाद का संबन्ध हृदय की अमर प्रेम भावना से है। यह बुद्धिमूलक की अपेक्षा भावमूलक है। व्यष्टि और समष्टि का माधुर्यमूलक सम्बन्ध इसी भावना द्वारा व्यक्त किया जाता है। अतएव रहस्य-भावना कवि-हृदय की कोई अस्वाभाविक भावना सिद्ध नहीं होती। छायावाद को रहस्यवाद सिद्ध करने में आलोचक में सबसे बड़ी गलती हो सकती है, लेकिन रहस्यवाद को रहस्यवाद सिद्ध करने की उसकी सबसे बड़ी विजय* सिद्ध होगी। रहस्यवाद कोई अजनबी ऊँट नहीं, इसी धरती की चीज है।

---

*शुक्ल जी और दिनकर जी दोनों ने रहस्यवाद का विरोध किया है। एक कविता को लोकसंग्रही बनाने के फेर में हैं दूसरे उसे मिट्टी की ओर हाँक रहे हैं।

३—प्रगतिवाद कोई नूतन जागरण नहीं, बल्कि छायावाद का ही प्रारंभ है— अपने इस प्रसिद्ध मत के समर्थन में दिनकर ने जितने तर्क प्रस्तुत किए उन्हें तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

क—काव्य में नव जागरण का जन्म तभी जाना जा सकता है जब जन उसकी कलात्मक विलक्षणताओं के प्रति बरबस आकृष्ट हो जाय। भाव और शैली किसी भी दृष्टि से प्रगतिवाद में कोई विलक्षणता नहीं आई है। समासोक्ति, विशेषण विपर्यय, मानवीकरण आदि शैली सम्बन्धी विलक्षणताएँ छायावाद से प्रगतिवाद में आई हैं। जो शैली तितली से खेलती थी वही अब तलवार से खेल रही है इसलिए प्रगतिवाद किसी नवीन जागरण का प्रतीक नहीं है।

ख—छायावाद प्रारम्भ से ही रूढ़ियों के प्रति विद्रोह और राजनीतिक आंदोलन के प्रति सहानुभूति रखता आया है। पहले उसमें भले ही अस्पष्टता, अस्थिरता और कुहेलिका रही हो लेकिन कालक्रमानुसार वह स्पष्ट, मांसल और आलोक पूर्ण हो गया है। 'अन्तर्जगत्','अनुभूति' और 'निहार' को पारकर वह 'कामायनी' 'तुलसीदास' और 'ग्राम्या' तक पहुँच गया है। यह आकाश से उतरकर मिट्टी की ओर आ रहा है। इसलिए छायावाद प्रगतिवाद का विकसित रूप ही है।

ग—प्रगतिवाद के अंदर गिने जाने वाले अधिकांश कवि वे ही हैं जो छायावाद का नमन अथवा अनुगमन करते हुए यहां तक आए हैं। प्रगतिवाद के अग्रणी होने का श्रेय भी उन्ही कवियों को है जो छायावाद के उन्नायक रह चुके हैं इसलिए प्रगतिवाद की विचारधारा छायावाद का ही परिष्कृत संस्करण है। छायावाद के सुधार की प्रक्रिया का परिणाम है और यही काव्य की सच्ची प्रगति है।

दिनकर के उक्त मतों का खंडन नीचे किया जाता है।

क—जिस प्रकार प्रारम्भ में छायावाद की विलक्षणता के भी प्रति जनता आकृष्ट हो गई थी उसी प्रकार प्रगतिवाद की विलक्षणता के प्रति भी जनता आकृष्ट हो है। इसका सबसे प्रबल प्रमाण प्रगतिवाद की आए दिनों जोर-शोर जबर्दस्त चर्चा है। कोई भी ऐसी पत्र-पत्रिका नहीं जहाँ इस नवीनवाद की आलोचना-प्रत्यालोचना नहीं प्रकाशित हुई हो। साहित्य में प्रगतिवाद का स्वतन्त्र अस्तित्व मानकर ही इस कटु से कटु आलोचना की गई है। इसे असांस्कृतिक, अभारतीय, और जड़ कहने वालों की कमी नहीं है। छायावाद की अनेक विलक्षणताओं को प्रगतिवाद का रोग मानता है। ऐसे अलंकार जिनसे भाव धूमिल और अस्पष्ट हो जायं प्रगतिवाद के लिए अग्राह्य हैं। मानवीकरण, समासोक्ति, और लाक्षणिक वैचित्र्य विलक्षणताएँ छायावाद में ही पहले पहल प्रकट हुई हैं; ऐसी बात नहीं।

वैचित्र्य को छायावाद खास अपना आविष्कार न मान ले, शायद, इसीलिए शुक्ल जी ने घनानंद में विविध लाक्षणिक *छटाओं के दर्शन कराए हैं। छायावादी कविता की धूम के पहले ही मुकुटधर पांडेय और मैथिलीशरण अभिव्यंजन-प्रणाली में नवीनता का श्रीगणेश कर चुके थे। यह और बात है कि छायावाद इन विलक्षणताओं को लेकर ही आगे दौड़ पड़ा। सच पूछिए तो छायावाद और प्रगतिवाद विलक्षणता की अपेक्षा तीक्ष्णता पर अधिक ध्यान देता है। यह अनेक प्रतीकों को स्वर्णिम अतीत की अपेक्षा वर्त्तमान जन संघर्ष से ग्रहण कर रहा है।

मशाल, खून, हथौड़ा, चिनगारी, लालतारा आदि प्रतीकों द्वारा नवीन भावों की व्यंजना हो रही है। नन्दनवन, अलका, स्वर्गंगा, कमल, मधु, अप्सरा आदि छुईमुई प्रतीकों से इसका काम नहीं चलने का। प्रगतिवाद अपने काव्य का संगीत लोकगीतों से ग्रहण करने के लिये उत्सुक रहता है। जन-कविसम्मेलनों द्वारा यह लोक-गङ्गा में डुबकियां लगाना चाहता है। जनपदीय भाषाओं के छन्द-सङ्गीत को यह सभी के लिये सुलभ बनाना चाहता है। प्रतीक, उपमा, लय, छन्द और संगीत का आदर्श यह छायावाद से ग्रहण नहीं कर रहा है। दिनकर ने अन्यत्र स्वीकार किया है कि प्रगतिवाद ने कविता के द्रव्य में उत्क्रांति की है। [प्रगतिवाद के द्रव्य की उत्क्रांति की प्रतिक्रिया 'रसवन्ती' की भूमिका में व्यक्त हुई है।] काव्य में द्रव्य और शैली का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। यदि द्रव्य लोक में क्रांति होगी तो शैली स्थावर नहीं बनी रह सकती, वह भी वस्तु के अनुकूल अपना रूप सँवारती है। दिनकर द्रव्य और शैली के इस अटूट सम्बन्ध+ को भली भाँति जानते हैं,—लेकिन शैली को द्रव्य से अलग तोड़कर वह देखना चाहते हैं, शैली

*लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता और प्रयोग वैचित्र्य की जो छटा इनमें (घनानंद) दिखाई पड़ी, खेद है कि वह फिर पौने दो सौ वर्ष पीछे जाकर, आधुनिक काल के उत्तरार्द्ध में, अर्थात् वर्त्तमान काल की नूतन काव्य-धारा में ही 'अभिव्यंजनावाद' के प्रभाव से कुछ विदेशी रंग लिए प्रकट हुई।

हि० सा० का० इति०, पृ० ३३६।

+साहित्य के रसास्वादन के क्रम में उसकी शैली का रस उसके द्रव्य के रस से अलग करके नहीं चखा जा सकता। किसी भी साहित्य के चमत्कार की उत्पत्ति में उसके प्रतिपाद्य द्रव्य का बहुत बड़ा हाथ रहता है। द्रव्य ही स्वानुरूप शैली को जन्म देता है, जन्म लेने के बाद शैली द्रव्य के साथ मिलकर एकाकार हो जाती है तथा उससे अलग तोड़कर देखी नहीं जा सकती। पृ० १३५।

शायद, इसीलिये उनको प्रगतिवाद में कोई 'कलात्मक विलक्षणता' नहीं दीख रही है।

ख—छायावाद प्रारम्भ से ही राजनीतिक आंदोलनों के प्रति सहानुभूति रखता आया है,—ठीक है, लेकिन देखना तो यह है कि यह सहानुभूति निष्क्रिय है या सक्रिय। जहाँ तक राष्ट्रीय कविताओं का सम्पर्क है वहाँ तक तो यह सक्रिय है क्योंकि कई कवि मैथिलीशरण, नवीन, भारतीय आत्मा आदि जेल तक हो आये हैं। लेकिन छायावाद और प्रगतिवाद के अग्रणी सुमित्रानन्दन पंत की सहानुभूति 'ग्राम्या' तक बौद्धिक यानी निष्क्रिय ही बनी रही। प्रगतिवाद 'राजनीतिक आन्दोलन' से नहीं बल्कि जन-क्रांति से सीधा सम्पर्क स्थापित करना चाहता है। छायावाद की सहानुभूति भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन से है, प्रगतिवाद की सहानुभूति अन्तर्राष्ट्रीय क्रांति से। इसलिये जो कवि या कविता अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा-क्रांति के प्रति सक्रिय सहानुभूति* उत्पन्न नहीं करता वह प्रगतिवाद नहीं। प्रगतिवाद का राजनीतिक आन्दोलन छायावाद से बिल्कुल भिन्न है, तभी तो दिनकर दिल्ली और मास्को के बीच बड़ी खाई की कल्पना किये हुए हैं। छायावाद 'अन्तर जगत' 'अनुभूति' और 'नीहार' को पारकर 'कामायनी' और 'ग्राम्या' तक पहुँच चुका है। 'अनुभूति' से 'कामायनी' तक का विकास छायावाद का ही विकास है, प्रगतिवाद का नहीं। प्रगतिवाद भाषा में अध्यात्मवाद का सर्वदा विरोध करता है। 'कामायनी' और 'तुलसीदास' की भाषा सर्व साधारण के लिए तो है ही नहीं साधारण विद्यार्थी के लिये भी दुरूह है। 'प्रभापूर्य', 'अस्तमित', 'तमस्तूर्य' आदि क्लिष्ट शब्दावली से 'तुलसीदास' का प्रारम्भ होता है। 'कामायनी' के कर्मवाद से जीवन-जगत् में संघर्ष करने की कोई प्रेरणा नहीं मिलती इसमें वर्णित आनन्द भी रहस्यलोक की चीज हो गया है। 'ग्राम्या' की बौद्धिक सहानुभूति से गाँव वालों का कहां तक कल्याण हो सकता है. नहीं कहा जा सकता। पंत जी ने ग्राम्या में भले ही गगन को ताकना छोड़ दिया हो लेकिन 'स्वर्णकिरण' और स्वर्णधूलि में वे फिर स्वर्ग को निहारते नजर आते हैं। कामायनी तुलसीदास और 'स्वर्णकिरण' ये तीनों हिन्दी साहित्य के अमर ग्रन्थ हैं भाव और कला की दृष्टि से इनका महत्व अनुपम है; लेकिन इनसे प्रगतिवाद का कोई मसला हल नहीं होता। इसलिए इन पुस्तकों के नाम गिनाकर प्रगतिवाद को छायावाद की परिणति कहना नितांत अयुक्तिसंगत है।

ग—प्रगतिवाद के अग्रणी होने का श्रेय भी उन्हीं कवियों को है जो छायावाद के उन्नायक रह चुके हैं। दिनकर की यह उक्ति शब्दशः सत्य है, लेकिन इससे

*मार्क्सवाद पर आधारित प्रगतिवाद का साम्प्रदायिक रूप।

निकाला हुआ निष्कर्ष अक्षरशः असत्य है। व्यक्ति का अर्थ उसकी अभिव्यक्ति यानी विचार है, साढ़े तीन हाथ का पुतला नहीं। कुछ विचार और भाव तो सभी व्यक्तियों में सामान्य रूप से वर्त्तमान रहते हैं और कुछ व्यक्ति की विशेषता के कारण परिष्कृत, परिवर्द्धित और परिवर्तित हुआ करते हैं विचारों की इसी विशेषता के कारण व्यक्ति का व्यक्तित्व निखर उठता है। कुछ भावों की समानता रहते हुए भी आस्तिकता और अहिंसा का पुजारी संत एवं नास्तिकता और हिंसा का समर्थक असंत कहलाता है। तात्त्विक दृष्टि से एक होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से संत और असंत दोनों दो हैं। निश्चय ही 'पल्लव' और 'ग्राम्या' के पंत और 'गीतिका' और 'कुकुरमुत्ता' के निराला एक होते हुए भी दो हैं। पहले जो प्रगतिवादी आलोचक 'युगवाणी' के पंत को दिन में पच्चीस बार प्रगतिशील कहते नहीं अघाते वही अब 'स्वर्ण किरण' की चकाचौंध से बौखला उठे हैं। 'कवि के प्रति' कविता में पंत को जग के दुरित दैन्य ×का कारण उसने 'काँव काँव' (काम, काम) बतलाया। प्रगतिवाद जग के दुखदैन्य का कारण कौवे के काँव-काँव और 'पत्र-पात' में नहीं खोजकर पूँजीवाद में खोजेगा। जगत् के क्रंदन से दूर पांडिचेरी के एक *कोने में समाधिस्थ श्री अरविन्द पंत के लिए साक्षात् ईश्वर हैं। प्रगतिवाद की दृष्टि में श्री अरविन्द का यह अध्यात्मवाद विशुद्ध पलायनवाद है। इस प्रकार पंत और निराला प्रगतिवाद के उन्नायक होते हुए भी अब उसके विधायक और नायक नहीं हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ छायावाद, सर्वात्मवाद और प्रकृतिवाद का उपासक है वहाँ प्रगतिवाद द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद के दर्शन से प्रेरणा ग्रहण करता है। पहला सुधारवाद और राष्ट्रीयता का पुजारी है, दूसरा क्रांतिवाद और साम्यवाद का नायक। एक का दर्शन चैतन्य से अनुप्राणित है यो दूसरे की जड़ता ही चैतन्य की जननी है। सच तो यह है कि छायावाद की आंतरिक असंगतियों के कारण ही प्रगतिवाद का जन्म हुआ। प्रगतिवाद छायावाद की तरह एक नयावाद है।

× "क्या है जग के दुरित दैन्य कारण ? खग दो उत्तर,
मैंने कहा स्पष्ट भाषी तुमको कहने में क्या डर ?
काँव काँव कर कहा काक ने ग्राम्य भणिति में निश्चय
काम, काम है तापों का कारण, था उसका आशय।"

—स्वर्ण किरण, पृ ६६।

*"ज्योति श्री अरविन्द, चेतना के दिव्योत्पल,
पूर्ण सच्चिदानंद रूप शोभित स्वर्णोज्वल ?
मानव से ईश्वर, ईश्वर से मानव बनकर
आए लौट धरा पर, दे नव जीवन। वर।"

स्वर्ण पृ० १०

'काव्य-समीक्षा का दिशानिर्देश' इस संग्रह का सर्वश्रेष्ठ निबंध कहा जा सकता है। इसमें दिनकर ने काव्यालोचन सम्बन्धी अपने विचारों को काव्यात्मक ढग से व्यक्त किया है। पाठक को अपनी रंगीन विचारधारा के साथ बहा ले जाने की अद्भुत शक्ति दिनकर की गद्य-शैली में वर्तमान है। तर्क का ओज, भावना का आवेश और काव्यत्वका इन्द्रधनुषी आकर्षण इस निबन्ध की प्रमुख विशेषताएँ हैं। पाठक दीक्षित, संभ्रमित और निश्चिन्त होकर लेखक की भाव-रश्मि को पकड़ते हुए चला चलता है और अंत में लेखक के एकाएक ओझल हो जाने से वह गुनगुनाता रहता है, कि "सच्चे समालोचक की आत्मा सुन्दर कवि की आत्मा होती है और वह बहुधा कवि ही हुआ करता है।" व्यक्तिगत दृष्टि से इस निबन्ध को मैं भी बहुत पसन्द करता हूं लेकिन पाठक के नाते अधिकांश स्थलों पर इससे मेरा मत-भेद है। 'साहित्य में प्रतिविम्बित जीवन ने कलाकार के हृदय का रस पिया है।' 'कविता का उद्देश्य आनन्द का सर्जन है।' 'कलाकार के निजी व्यक्तित्व के माध्यम से हम जीवन की व्याख्या—साहित्य - को समझ पाते हैं।' 'कलाकार की मानसिक अवस्था विशेष में जीवन अपने जिस अर्थ में प्रकट होता है उसी के भावमय चित्रण को हम साहित्य कहते हैं।......, आदि स्थलों पर लेखक से मेरी असहमति नहीं है। 'समाज की ज्ञान-राशि के संचित भण्डार' वाली श्याम सुन्दरी परिभाषा से साहित्य के विद्यार्थियों को भी छुट्टी मिल जाती है।

इस निबन्ध में दिनकर ने कविता को एक ऐसा 'अस्पष्ट स्वप्न' माना है जो 'साकार होते ही अपनी आदि छवि की झलक खो बैठती है।' सौन्दर्य के इस धूमिल विश्व में समालोचना का मस्तिष्क जब तक जांच-परख की तैयारी करता है तब तक हृदय हाथ से निकल भागता है। समालोचक को छवि की कल्पना के आलोक से ही इस धुँधले वन में प्रकाश मिल सकता है। इसलिये, दिनकर की सलाह है कि "आप जब एक बार इस कूचे में आ गये तब फिर अपने विचारों के प्रदीप को बुझा दीजिये।" इस निबन्ध में कविता की जो परिभाषा प्रस्तुत की गई है वह वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई सूफी कवि हाल की दशा में कविता की मर्मी व्याख्या बोल रहा हो। कविता को 'अस्पष्ट स्वप्न', 'आनन्द की अस्पष्ट अनुभूति', 'सौन्दर्य का धूमिल विश्व', 'जादू का देश' आदि कहना एक नई कविता रचना है।

समालोचक जब एक बार इस कूचे में आ जाय तो वह अपने विचारों के प्रदीप को बुझा ले, अर्थात वह अपनी दोनों आँखों को फोड़ डाले। समालोचक अपने विवेक को ताक पर रख दे और कवि की कल्पना-छाया के पीछे छाया बन कर चलता रहे। यदि कवि सूर्य के

आलोक में प्रसन्न हो तो वह भी मुस्कुराए और यदि कवि सागर के गर्भ में प्रवेश करे तो वह वहां भी जाय। समालोचक सती साध्वी पत्नी की तरह कवि के पीछे-पीछे दौड़ता रहे और यदि वह कूएँ में गिर पड़े तो उसे भी कूद पड़ना चाहिए, गर्ज यह कि कवि के साथ समालोचक को सती होने के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। दिनकर ने समालोचक को कवि के इशारे पर नाचने वाली कठपुतली के रूप में चित्रित किया है। गोस्वामी जी को अपनी काव्य-प्रतिभा पर पूरा विश्वास था; इसलिए उन्होंने कविता की सारी जिम्मेवारी बुधजन पर छोड़कर समालोचक को कवि से भी ऊँचे आसन पर विराजित कर दिया है। कविता में अज्ञेय, अनिर्वचनीय और अलभ्य कुछ भी नहीं है। कवि केवल कविता करता है, उसका अर्थ तो पंडित जानता है। विचार-प्रदीप बुझ जाने से कविता की आलोचना नहीं लिखी जा सकती। प्रत्येक युग का आलोचक अपने-अपने विचार प्रदीप से समालोच्य कवि का विवेचन करता है। प्रदीप बुझा कर चलने से 'आह' 'वाह' के सिवा कुछ हाथ नहीं लगने का। समालोचना में बुद्धि की खिल्ली उड़ाना कहां की बुद्धिमानी है!

"कवि की आत्मा जब उभार पर आती है, जब काव्यात्मक भावों का सतरंगा समुद्र लहरा उठता है, तब उसके रंग से पर्वत भी रंगा जा सकता है और मरु भी; पर्वत और मरु न तो स्वयं काव्य हैं, न काव्य को जगाने वाले उपकरण।—पृ० १४८। दिनकर के इस कथन से प्रतीत होता है कि काव्य की उत्पत्ति में वाह्य जगत का तनिक भी हाथ नहीं; केवल कवि की आत्मा के उभार पर भावों के सतरंगे समुद्र के लहराने पर ही कविता अनायास फूट पड़ती है। विचारणीय यह है कि भावों का सतरंगा समुद्र अनायास अकारण लहरा उठता है या किसी से उत्प्रेरित और आकर्षित होकर! समुद्र के उद्वेलन और आलोड़न का कारण उसका ही अन्तर्द्वन्द्व है या कोई वाह्य प्रभाव भी? जिस प्रकार समुद्र का हृदय पवन, सूर्य और चन्द्रमा के प्रभाव से पुलकित, प्रताड़ित और हिल्लोलित होता है उसी प्रकार कवि का हृदय भी युग, परिस्थिति और वातावरण से उद्दीपित होता रहता है। अन्तर और वाह्य में अहर्निश द्वन्द्व चलता रहता है। व्यक्ति का अहं वाह्य जगत के साथ सदा क्रिया-प्रतिक्रिया करता रहता है। अहं अपने ही अन्दर सिकुड़कर कदापि नहीं रह सकता। वह अपना संकोच और प्रसारण सतत करता रहता है। आनन्द के अनुसन्धान में अहं का प्रयास ही 'जीवन' की संज्ञा प्राप्त करता है। दिनकर ने 'वाहर' और 'भीतर' को तो बिल्कुल अलग कठघरे में बन्द कर दिया है। लेकिन, बात तो ऐसी है नहीं। वाहर प्रतिक्षण भीतर होता है और भीतर प्रतिक्षण वाहर आता है। दोनों में एक ही रस बह रहा है। वाहर भीतर, भीतर भीतर! साहित्य को 'जीवन की व्याख्या' मानने वाला व्यक्ति काव्य को वाह्य जगत,—प्रकृति, धर्म, समाज, राजनीति आदि—से भिन्न नहीं कर

'काव्य-समीक्षा का दिशानिर्देश' इस संग्रह का सर्वश्रेष्ठ निबंध कहा जा सकता है। इसमें दिनकर ने काव्यालोचन सम्बन्धी अपने विचारों को काव्यात्मक ढंग से व्यक्त किया है। पाठक को अपनी रंगीन विचारधारा के साथ वहा ले जाने की अद्भुत शक्ति दिनकर की गद्य-शैली में वर्त्तमान है। तर्क का ओज, भावना का आवेश और काव्यत्वका इन्द्रधनुषी आकर्षण इस निबन्ध की प्रमुख विशेषताएँ हैं। पाठक दीक्षित, संभ्रमित और निश्चिन्त होकर लेखक की भाव-रश्मि को पकड़ते हुए चला चलता है और अंत में लेखक के एकाएक ओझल हो जाने से वह गुनगुनाता रहता है, कि "सच्चे समालोचक की आत्मा सुन्दर कवि की आत्मा होती है और वह बहुधा कवि ही हुआ करता है।" व्यक्तिगत दृष्टि से इस निबन्ध को मैं भी बहुत पसन्द करता हूं लेकिन पाठक के नाते अधिकांश स्थलों पर इससे मेरा मत-भेद है। 'साहित्य में प्रतिबिम्बित जीवन ने कलाकार के हृदय का रस पिया है।' 'कविता का उद्देश्य आनन्द का सर्जन है।' 'कलाकार के निजी व्यक्तित्व के माध्यम से हम जीवन की व्याख्या—साहित्य - को समझ पाते हैं।' 'कलाकार की मानसिक अवस्था विशेष में जीवन अपने जिस अर्थ में प्रकट होता है उसी के भावमय चित्रण को हम साहित्य कहते हैं।......, आदि स्थलों पर लेखक से मेरी असहमति नहीं है। 'समाज की ज्ञान-राशि के सचित भण्डार' वाली श्याम सुन्दरी परिभाषा से साहित्य के विद्यार्थियों को भी छुट्टी मिल जाती है।

इस निबन्ध में दिनकर ने कविता को एक ऐसा 'अस्पष्ट स्वप्न' माना है जो 'साकार होते ही अपनी आदि छवि की झलक खो बैठती है।' सौन्दर्य के इस धूमिल विश्व में समालोचना का मस्तिष्क जब तक जांच-परख की तैयारी करता है तब तक हृदय हाथ से निकल भागता है। समालोचक को छवि की कल्पना के आलोक से ही इस धुँधले वन में प्रकाश मिल सकता है। इसलिये, दिनकर की सलाह है कि "आप जब एक बार इस कूचे में आ गये तब फिर अपने विचारों के प्रदीप को बुझा दीजिये।" इस निबन्ध में कविता की जो परिभाषा प्रस्तुत की गई है वह वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई सूफी कवि हाल की दशा में कविता की मर्मी व्याख्या बोल रहा हो। कविता को 'अस्पष्ट स्वप्न', 'आनन्द की अस्पष्ट अनुभूति', 'सौन्दर्य का धूमिल विश्व', 'जादू का देश आदि कहना एक नई कविता रचना है।

समालोचक जब एक बार इस कूचे में आ जाय तो वह अपने विचारों के प्रदीप को बुझा ले, अर्थात वह अपनी दोनों आँखों को फोड़ डाले। समालोचक अपने विवेक को ताक पर रख दे और कवि की कल्पना-काया के पीछे छाया बन कर चलता रहे। यदि कवि सूर्य के

आलोक में प्रसन्न हो तो वह भी मुस्कुराए और यदि कवि सागर के गर्भ में प्रवेश करे तो वह वहां भी जाय। समालोचक सती साध्वी पत्नी की तरह कवि के पीछे-पीछे दौड़ता रहे और यदि वह कूएँ में गिर पड़े तो उसे भी कूद पड़ना चाहिए, गर्ज यह कि कवि के साथ समालोचक को सती होने के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। दिनकर ने समालोचक को कवि के इशारे पर नाचने वाली कठपुतली के रूप में चित्रित किया है। गोस्वामी जी को अपनी काव्य-प्रतिभा पर पूरा विश्वास था; इसलिए उन्होंने कविता की सारी जिम्मेवारी बुध जन पर छोड़कर समालोचक को कवि से भी ऊँचे आसन पर विराजित कर दिया है। कविता में अज्ञेय, अनिर्वचनीय और अलभ्य कुछ भी नहीं है। कवि केवल कविता करता है, उसका अर्थ तो पंडित जानता है। विचार-प्रदीप बुझा जाने से कविता की आलोचना नहीं लिखी जा सकती। प्रत्येक युग का आलोचक अपने-अपने विचार प्रदीप से समालोच्य कवि का विवेचन करता है। प्रदीप बुझा कर चलने से 'आह' 'वाह' के सिवा कुछ हाथ नहीं लगने का। समालोचना में बुद्धि की खिल्ली उड़ाना कहां की बुद्धिमानी है !

"कवि की आत्मा जब उभार पर आती है, जब काव्यात्मक भावों का सतरंगा समुद्र लहरा उठता है, तब उसके रंग से पर्वत भी रंगा जा सकता है और मरु भी; पर्वत और मरु न तो स्वयं काव्य हैं, न काव्य को जगाने वाले उपकरण।—पृ० १४८। दिनकर के इस कथन से प्रतीत होता है कि काव्य की उत्पत्ति में बाह्य जगत का तनिक भी हाथ नहीं; केवल कवि की आत्मा के उभार पर भावों के सतरंगे समुद्र के लहराने पर ही कविता अनायास फूट पड़ती है। विचारणीय यह है कि भावों का सतरंगा समुद्र अनायास अकारण लहरा उठता है या किसी से उत्प्रेरित और आकंपित होकर ! समुद्र के उद्वेलन और आलोड़न का कारण उसका ही अन्तर्द्वन्द्व है या कोई वाह्य प्रभाव भी ? जिस प्रकार समुद्र का हृदय पवन, सूर्य और चन्द्रमा के प्रभाव से पुलकित, प्रताड़ित और हिल्लोलित होता है उसी प्रकार कवि का हृदय भी युग, परिस्थिति और वातावरण से उद्दीपित होता रहता है। अन्तर और बाह्य में अहर्निश द्वन्द्व चलता रहता है। व्यक्ति का अहं बाह्य जगत के साथ सदा क्रिया-प्रतिक्रिया करता रहता है। अहं अपने ही अन्दर सिकुड़कर कदापि नहीं रह सकता। वह अपना संकोच और प्रसारण सतत करता रहता है। आनन्द के अनुसन्धान में अहं का प्रयास ही 'जीवन' की संज्ञा प्राप्त करता है। दिनकर ने 'बाहर' और 'भीतर' को तो बिल्कुल अलग कठघरे में बन्द कर दिया है। लेकिन, बात तो ऐसी है नहीं। बाहर प्रतिक्षण भीतर होता है और भीतर प्रतिक्षण बाहर आता है। दोनों में एक ही रस बह रहा है। बाहर भीतर, भीतर भीतर ! साहित्य को 'जीवन की व्याख्या' मानने वाला व्यक्ति काव्य को बाह्य जगत,—प्रकृति, धर्म, समाज, राजनीति आदि—से भिन्न नहीं कर

सकता। पर्वत और मरु स्वयं काव्य भले नहीं हों, काव्य को जगाने वाले उपकरण तो हैं ही। हिमालय और समुद्र कवि के हृदय में सुप्त सौन्दर्य-भावना को जागरित कर सकते हैं। जिस प्रकार सूई रेकार्ड में सोये हुए गान को जगाती है, उसी प्रकार बाह्य जगत भी कवि को गाने के लिए उत्प्रेरित करता है। यदि कोई व्यक्ति अपने समाज से बिल्कुल दूर किसी जंगल में पशुओं के साथ रहे तो उसके सतरंगे समुद्र के बार-बार लहराने से भी कोई कविता नहीं फूट सकती। मानव और मानवेतर प्रकृति कवि को भाव और भाषा से समन्वित करती है। बापू के त्यागमय जीवन ने बहुतों को कवि बना दिया। "जिस प्रकार यह विचित्रतापूर्ण सृष्टि महत् तत्व के अन्तराल से फूटकर निकल पड़ी, बाहर से नहीं आई, उसी प्रकार काव्य भी कवि के हृदय से ही आता है, बाहर से नहीं।" माना कि काव्य कवि के हृदय से ही आता है, लेकिन उसका हृदय कहां से आया? उसके हृदय के निर्माण में, उसके माता-पिता, जाति-संस्कार और अध्ययन का निश्चय ही कुछ-न-कुछ हाथ रहता है। उसके हृदय में सुख दुख के भाव समाज के सम्पर्क से ही उत्पन्न होते हैं। यह सृष्टि यदि महत् तत्व के अन्दर से फूटकर निकली तो महत तत्व किसके अन्दर था? और महत तत्व के बाहर क्या था? सृष्टि फूटकर निकल पड़ी—किस समय निकल पड़ी? किस स्थान पर निकल पड़ी? उस समय और उस स्थान पर पहले क्या था? इन सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर है, 'सर्व खलु इदं ब्रह्म।' ब्रह्म भीतर-बाहर, ऊपर नीचे सब कहीं है। कवि की प्रतिभा भी अन्दर-बाहर स्वर्ग-धरती सर्वत्र घूम-घूमकर रस ग्रहण करती है।

समालोचक और समालोचना को पराजित करने वाले इस निबंध में यह कहा गया है कि "काव्य-रचना के सिलसिले में कवि-मानस की सबसे बड़ी द्विधापूर्ण स्थिति उस समय उत्पन्न होती है, जब वह अपनी कल्पना की अभिव्यक्ति के लिये अनुकूल तथा शक्तिशाली शब्दों के चुनने की चिंता करता है। और इसी कार्य की सफलता से उस महान आश्चर्य का जन्म होता है जिसके सामने समालोचना पराजित हो जाती है।"—पृ० १५१। जिस महान आश्चर्य के सामने बेचारी समालोचना 'सरेन्डर' कर जाती है वह निश्चय ही काव्य का महान अंश होगा। महान काव्य के दर्शन गम्भीर समाधियों के बाद होते हैं, तो गम्भीर समाधि में मानस में द्विधापूर्ण स्थिति उत्पन्न कैसे हुई? द्विधा में तो माया और राम दोनों चले जाते हैं। बात यह है कि यह द्विधापूर्ण स्थिति दूसरे दर्जे के कवियों में पाई जाती है जो कलम लेकर घन्टों किसी शब्द की टोह में बैठे रहते हैं। प्रथम श्रेणी के महान कवि के सामने तो शब्द स्वयं आ-आकर हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। स्मरण करते ही शारदा विधि-भवन को छोड़कर कवियों के पास दौड़ी चली आती है। सूर, तुलसी और मीरा के उच्चकोटि के गीत द्विधापूर्ण स्थिति में कभी

नहीं लिखे गये। मार्मिक अनुभूति स्वयं अपनी सफल अभिव्यक्ति कर लेती है। हां, जहां अनुभूति की कमी रहती है और केवल कल्पना की उड़ानें भरी जाती हैं वहां द्विधा, त्रिधा जो स्थिति हो सभी सम्भव है। काव्य का सर्वश्रेष्ठ अंश लिखा नहीं जाता लिख जाता है। कवि की सफलता के बाद महान आश्चर्य का जन्म नहीं होता, महान आनन्द, ब्रह्मानन्द का जन्म होता है। सफल कवि कोई विराट् रूप धारण नहीं कर लेता जिससे सव्यसाची-समालोचक विस्मयाविष्ट हो यह कहने लगे कि, 'नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।" सफल कविता का विराटीकरण नहीं साधारणीकरण हो जाता है। सफल समालोचक को यदि उस आनन्द की अनुभूति होगी, और होती ही है, तो उसकी अभिव्यक्ति भी अवश्यभावी है; क्योंकि प्रत्येक अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है। जहाँ कविता पूर्ण होगी वहाँ समालोचना और पूर्ण होगी। अधूरी कविता अधूरी आलोचना को जन्म देती है।

दिनकर ने समालोचक में कविता का आनन्दोपभोग और दोष-गुण-विवेचन ये दो प्रवृत्तियां मानी हैं; जिनमें पहली जन्मजात है और दूसरी यत्नसाध्य है। पहली प्रवृत्ति किसी से सीखी नहीं जाती; वह स्वय समालोचक में वर्त्तमान रहती है लेकिन दूसरी अध्यापकों और ग्रन्थों से अर्जित की जाती है; इसलिए पहली सूक्ष्म, आध्यात्मिक और ईश्वरीय है एवं दूसरी स्थूल आधिभौतिक अथच निकृष्ट है। सीखी हुई चीज यदि निकृष्ट है तब तो समालोचक को प्रतिदिन स्वाध्याय-यज्ञ करने की कोई आवश्यकता नहीं, वह जन्मजात प्रवृत्ति से ही काव्यालोचन किया करे; क्यों कि "जो लोग यह समझते हैं कि सामालोचना सीखने की चीज है, वे ग़लती करते हैं। यह भी उसी प्रकार जन्मजात है जैसे कवित्व"–पृ० १५५। तो अनपढ़ समालोचक से दिनकर यह किस प्रकार आशा करते हैं कि वह 'उस पद का निर्धारण कर सके जिसका समालोच्य कवि पूर्ण रूप से अधिकारी है। 'पद-निर्धारण' करने के लिए 'अंशों पर जोर नहीं देकर पूरी कृति को तौलने के लिए' ज्ञान का बटखरा तो चाहिये ही। जिस प्रकार कविता के लिए प्रतिभा; अभ्यास और निपुणता इन तीनों का होना आवश्यक है उसी प्रकार समालोचना के लिए भी ये आवश्यक हैं। दिनकर ने भी अन्यत्र स्वीकार किया है कि कविता के लिए एक प्रतिशत प्रतिभा और ९९ प्रतिशत परिश्रम की आवश्यकता होती है। तीक्ष्णतम प्रतिभा वाला कवि भी अध्ययन और अभ्यास के अभाव में 'कोरा' बन जाता है। केवल जन्मजात प्रतिभा पर झूमने वाला व्यक्ति आलोचना नहीं लिख सकता बैठे-बैठे मौज़ ले सकता है। विद्वान होना कवि के लिए आवश्यक नहीं समालोचक के लिये अनिवार्य है। इस निबन्ध में स्वयं दिनकर ने भी कीट्स, रवीन्द्र, पन्त, तुलसी आदि की काव्य-प्रतिभा का बखान किया है, महत् तत्व के अंतराल से सृष्टि के फूट निकलने की शास्त्रीय

चर्चा की है, आरनोल्ड की साहित्य- परिभाषा का उल्लेख किया है, छंद-अलंक सम्बन्धी और-और बातें भी की हैं। इन सब विषयों के दर्शन समाधि, वरदान ? एक प्रतिशत प्रतिभा से सम्भव नहीं; इनके लिए गम्भीर अध्ययन, मनन औ अभ्यास चाहिए। आधुनिक समालोचक को काव्य शास्त्र, सौन्दर्य शास्त्र, मनो विज्ञान, दर्शन आदि का थोड़ा बहुत ज्ञान आवश्यक है। भावकता में डूबने उतराने वाला आलोचक शब्द - जाल में फँसना अधिक पसन्द करेगा। रसास्वादन और-निरूपण समालोचक के ये दोनों काम हैं। प्रथम जन्मजात प्रमता और द्वितीय अध्ययन एवं अभ्यास पर आधारित है। सच्चा समालोचक यदि बहुधा कवि ही हुआ करता तो वह हमेशा गाता ही रहता; काव्य सौन्दर्य का विवेचन उस बेचारे से नहीं बन पड़ता। सच्चे समालोचक की आत्मा सुन्दर कवि की आत्मा होती है —इससे किसी को कोई एतराज नहीं; लेकिन वह बहुधा कवि नहीं हो कर समालोचक ही हुआ करता है। कवि कर्म से अधिक दुरुह समालोचक का कर्म है। यदि यह नहीं होता तो कवि की सुन्दर आत्मा रखते हुए भी दिनकर "आलोचक बनकर प्रकट होने की न तो मुझे योग्यता है और न हिम्मत — ऐसा डरा-डरा-सा होकर नहीं कहना पड़ता।

हिन्दी कविता और छंद में खड़ी बोली के छंदों का क्रम विकास अत्यन्त प्रामाणिकता के साथ उपस्थित किया गया है। इससे पता चलता है कि दिनकर को छंदों की बारीकी और खूबसूरती का अच्छा ज्ञान है। शेष निबन्धों में कला की सोद्देश्यता, कविता में समकालीनता, रोमांसवाद, कवि की वैयक्तिकता आदि पर पुष्ट विचार व्यक्त किए गए हैं।

मिट्टी की ओर के अधिकांश निबन्ध सभा-सम्मेलनों में पढ़े गए हैं और जो नहीं भी पढ़े गए हैं वे पढ़े गए से लगते हैं। इसलिए इन निबन्धों को निबन्ध न कह कर अभिभाषण कहना अधिक युक्तिसंगत होगा। श्रोताओं का ध्यान आकृ करने के लिए प्रारम्भ में आकर्षण एकरसता दूर करने के लिए बीच-बीच में व्यं विनोद के हल्के छींटे, और उन्हें प्रभान्वित करने के लिये अन्त में भावोत्तेजन — ये गुण सफल अभिभाषण के लिए आवश्यक हैं। दिनकर के निबन्धों में उक्त गुण स्वभावतः वर्त्तमान हैं। दिनकर की भाषण शैली मधुर कोमल-कांत-पदावली द्वारा कानों में सुधा-रस घोलती है, कल्पना की कमनीयता द्वारा नन्दन वन की सैर कराती है, वास्तविकता के यथार्थ चित्रण द्वारा आंखें खोलती है, भव्य भावनाओं की अभिव्यंजना से हृदय का उन्नयन करती है और ओजभरी वाणी द्वारा नसों में विद्युत् द्वारा संचार करती है।

भावों को स्पष्ट और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए दिनकर ने कई स्थलों पर उपमा, रूपक, और समासोक्ति की सहायता ली है। — से वे मूर्त होकर

विविध भंगिमाओं के साथ हमारे सामने प्रकट होते हैं। चित्रोपमता दिनकर की शैली की खास विशेषता है। इनके भाव सांकेतिक होते हुए भी मस्वर हैं। इस कथन की पुष्टि के लिए नीचे तीन-चार उदाहरण दिए जाते हैं:—

क—"प्रत्येक युग अपनी-अपनी आग से परम्परागत इतिहास को खौलाता है और भविष्य की ओर लपटें फेंकता है। उनकी आँच में पड़कर प्राचीन संस्कृतियाँ नया रंग पकड़ती हैं और परम्परागत साहित्यिक प्रकरण भी बहुधा नये अर्थ ग्रहण करते हैं।" —पृ० ८८

ख—"नन्दन कानन में घूमने वाली परी को आदम की बेटी के साथ बैठ कर सुर्खी कूटते देखकर, हर्ष चाहे जितना भी हो, लेकिन यह ग्लानि भी होना स्वाभाविक है कि बाँसुरी को लाठी का काम करना पड़ रहा है और रंगीनियों में उड़ने वाली कल्पना चिमनियों की मैली साँसों में अकुला रही है।"—पृ० ८४

ग—"साहित्य न तो केवल मिट्टी है और न आकाश। वह ऐसा ईश्वर है जो धरती पर छाया रहता है।"— पृ० १०२

घ—"भारत की वह आत्मा यज्ञ की वह शिखा है जो जलते जलते गाती है और गाते-गाते जला करती है।" —पृ० ७८।

ङ—"काव्य की ज्योति सूर्य की सीधी किरण नहीं, बल्कि, दर्पण या ताल में पड़ा हुआ उसका प्रतिफलित प्रकाश है।" —पृ० ६१।

च—"साहित्य कृष्ण के समान स्वयं शस्त्र नहीं उठाकर प्रत्येक शूरमा की तलवार को तेज कर देता है।" —पृ० ८०

दिनकर की गद्यशैली में परुष और कोमल भावों के अनुरूप पदावली का कलात्मक प्रयोग देखर चित्त पुलकित हो जाता है। भावनाओं का मानवीकरण और लाक्षणिक वैचित्र्य देखते ही बनता है; "नये छंदों का जन्म तथा पुराने छंदों का ग्रहण कवि के हृदय में चलने वाले भाव संकटों के अनुसार होता है। भावनाएँ अपनी ऐंठन के अनुरूप यति तथा प्रवाह खोजती हैं। उमड़ते हुए पुष्ट एवं सुस्पष्ट भाव पुष्ट एवं सुस्पष्ट छंदों में व्यक्त होते हैं तथा रुक-रुक कर या सिसक-सिसक कर चलने वाले मनोवेग अभिव्यक्ति के क्रम में अधिक यतियों की अपेक्षा करते हैं। गर्जमान विचारों की सुष्ठु अभिव्यक्ति प्रवाह पूर्ण तथा बलशाली छंदों में एवं करुणा की अभिव्यक्ति पग-पग पर रुकते हुए मन्दगामी छंदों में सुन्दर होती है।" —पृ० १०२।

युग के अनुकूल हिन्दी-गद्य की व्यंजना शक्ति बढ़ाने के लिए दिनकर ने

कई मौलिक और सुन्दर प्रयोग किए हैं; शब्दों के ये नवीन प्रयोग हमें अजनबी-से नहीं लगते, वे हमारे दिल में आसानी से उतर जाते हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

'चौकोर व्यक्तित्व', 'धुँधला उद्गार', 'मुँह में जीभ देना', 'राजनीति साहित्य पर चढ़ी आती है' 'पुस्तकों का ही नहीं', 'जीवन का दूध की पिया है' आदि 'फूल', 'चिनगारी', 'मिट्टी' 'धूल-धूम' 'बाँसुरी-तलवार', 'होम-शिखा', 'ईथर' आदि पदों में कूट-कूट कर व्यंजना भरी हुई है।

दिनकर ने दो-चार पदों वाले हलके फुलके और आठ-दस पंक्ति वाले लंबे लंबे वाक्य भी लिखे हैं, लेकिन; इनकी लेखनी थरथराई नहीं; कभी उखड़ी नहीं, दम तोड़ कर कभी सुस्ताई नहीं। थोड़े शब्दों में अधिकाधिक भाव भरने वाली, दो-एक वाक्यों में नवीन विचार गूँथने वाली, मन में गूढ़ चिंतना उत्पन्न करने वाली संश्लिष्ट वाक्य-योजना का दिनकर में अभाव है। भावों की धारावाहिकता और कल्पना की रंगीनी के कारण पाठक दिनकर के साथ-साथ लगे चलते हैं। अभिव्यंजना की सुन्दरता पाठकों के मनोलोक को संगीतात्मक बना देती है; इससे वे दिनकर के विचारों की ठीक-ठीक छानबीन नहीं कर पाते। 'साहित्या लोचन' की शुष्कता से ऊबे हुए विद्यार्थी 'मिट्टी की ओर' दौड़ते हैं और खुली धूप-हवा में में चहकने लगते हैं। 'मिट्टी की ओर' में भावों का अनावश्यक विस्तार हुआ है; शब्दों का अपव्यय नहीं तो अतिव्यय अवश्य हुआ है। कई निबन्धों में एक ही भाव या उक्ति का पिष्टपेषण हुआ है, विचारों की स्वच्छता की जगह भावुकता थिरकन आलोचनात्मक की शैली के अनुकूल नहीं पड़ती। इतना सब होते हुए भी दिनकर ने इस पुस्तक में अपनी मँजी हुई तगड़ी गद्य शैली का अच्छा परिचय दिया है। काव्यात्मक शैली में लिखी हुइ यह आलोचना आधुनिक हिन्दी कविता के विद्यार्थी के लिए एक सुखकर अध्ययन होगी। छायावाद और प्रगतिवाद पर इतने सुलझे-सजे विचार अन्यत्र नहीं मिलेंगे।

रेणुका

रेणुका दिनकर की प्रथम काव्य-कृति है। इसमें उनके काव्य-जीवन की सारी भावनाएँ अनुस्यूत हो गई हैं। 'भारत-भारती' के शंखनाद से इनका हृदय उद्वेलित हो चुका है। इसने इन्हें देश के स्वर्णिम की ओर आकर्षित किया, खंडहरों में आँसू बहाने के लिए विवश किया। पूर्वजों के शौर्य-पराक्रम ने इनके वक्ष को स्फीत किया, ललाट को गर्वोन्नत किया, वर्तमान के दुख पर सोचने के लिए बाध्य किया और भविष्य की रूप-रेखा प्रस्तुत करने के लिए उत्प्रेरित किया। भारत का अतीत जो गंगा की लहरियों में तरंगित हो रहा था; राज-स्थान की रेणुका में भास्वर हो रहा था, राष्ट्र के वायुमंडल में गर्जमान हो रहा था, इनकी रेणुका के गीतों में पहली बार अपनी सारी गरिमा और ऐश्वर्य के साथ उच्छ्वसित हो उठा। भारतेन्दु की भावना में अतीत कराह रहा था, कभी-कभी जाग भी उठता था, दिनकर में वह पुष्टता और प्रौढ़ता के साथ अभिव्यक्त हुआ। भारतेन्दु ने अतीत की धूमिल रेखाएँ खींची थीं, दिनकर ने रंग, रूप, प्राण और गति से पुलकायमान कर दिया। देश का अतीत अपने को पूरी तरह अभिव्यक्त करने के लिए छटपटा रहा था। वह किसी राष्ट्र-कवि के हृदय में करने के लिए बाट जोह रहा था। दिनकर को पाकर अतीत निहाल हो गया। उसने अपने आँसू, उच्छ्वास, कसक और दीप्ति को दिनकर की वाणी द्वारा अपनाकर अभिव्यक्त किया।

रेणुका की काव्य-धारा के मूल में अतीत की अन्तः सरिता बहती रही है। कवि की कल्पना अतीत का राग गाती रही है, लेकिन उसके अधरों पर वर्तमान की लू-लपट भी लग जाती है। अतीत देश की अपेक्षा काल में अधिक जीता है। अतीत घटनाओं की, भावनाओं की एक शृंखला है जो काल के क्रम में बँधी रहती है।

जर्मन दार्शनिक कांट ने मानव-कल्पना को तीन भागों में विभाजित किया है—*देश मूलक कल्पना, काल मूलक कल्पना और संबन्ध मूलक कल्पना। पहली प्रकार की कल्पना का विशेष सम्बन्ध देश या स्थान से है। यहाँ कवि पर्वत,

---

* Plastic Imagination, Associative Imagination and Imagination connecting ideas according to affinity or kinship.-Kant's Metaphysic of Experience by H.J. Paton.

निर्झर, सागर, लता, वनस्पति आदि को देखकर उनके रूप से प्रभावित होता है और कल्पना के साहाय्य से प्रतिमाओं का सृजन करता है, सौन्दर्य का अंकन करता है। यह कल्पना यदि नियंत्रण के अन्दर रही तो कलाकृति का जन्म होता है, नहीं तो उच्छृंखल होकर इधर-उधर दिवा-स्वप्नों में भटक जाती है। अँग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ ने इस देशमूलक कल्पना का सबसे सुन्दर उपयोग किया है। पंत की प्रारम्भिक रचनाओं में इसकी मधुरता परिलक्षित होती है। दिनकर ने 'हिमालय' और 'पाटलीपुत्र की गंगा' को पाकर भी इसका उपयोग नहीं किया। रूप-वर्णन में वे जल्द प्रवृत्त नहीं हो पाते हैं। रेणुका में कालमूलक कल्पना की सुन्दर छटा विकीर्ण हुई है। यह कल्पना काल के स्रोत पर तैरती हुई, बहती हुई भावनाओं को सम्बन्धित कर देती है। हिमालय को देखकर कवि के हृदय में त्रेता-युग से मुगल काल तक की प्रमुख घटनाएँ साकार हो उठती हैं। प्रत्येक अतीत-व्यक्तित्व एक-एक घटना का, भावना का, प्रतिनिधित्व करता प्रकट होता है। कवि का उन सबों से प्रगाढ़ रागात्मक सम्बन्ध है। इसलिये केवल उनके नाम मात्र से ही हमारी हृदय-विपंची के तार झंकृत हो उठते हैं। 'तू पूछ अवध से राम कहाँ, वृंदा, बोलो घनश्याम कहाँ।' यहाँ राम और घनश्याम के नाम मात्र से हम भाव विभोर हो जाते हैं। कवि की काल मूलक कल्पना अनायास हमें अतीत की सुरभित उच्छ्वसित नगरी में पहुँचा देती है। यही हाल 'पाटली पुत्र की गंगा' का भी है। गङ्गा की लोल लहरियों के दर्शन हमें नहीं होते, वहाँ विजयी समुद्रगुप्त के हम धार में तलवार धोते पाते हैं। रेणुका की कोयल अपनी मधुर काकली सुनाकर हमें वल्कल से कुच का उभार कसने वाली शकुन्तला की झाँकी दिखा देती है। एक भाव किस प्रकार अपने साहचर्य से औरों को जगाता चलता है इसका उल्लेख पीछे के पृष्ठों में किया जा चुका है। तीसरी प्रकार की कल्पना किसी वस्तु विशेष के केन्द्र से उद्भूत होने वाली विचार-धारा से सम्बन्ध रखती है। पंत के 'गुंजन' और 'स्वर्ण-किरण' में इसका प्रयोग प्रचुरता के साथ हुआ है।

'हुँकार' और 'सामधेनी' की पुष्ट क्रांति-भावना का स्पष्ट आभास 'रेणुका' के 'नाचो हे नाचो नटवर' और 'हिमालय' में मिलता है। शंकर के तांडव में विपथगा के पायल की झंकार सुनाई पड़ती है। 'कुरुक्षेत्र' का युधिष्ठिर 'हिमालय' में पहले ही उपेक्षणीय भाव से उपस्थित किया गया है। 'लौटा दे अर्जुन भीम वीर' में 'सामधेनी' के जय प्रकाश की क्षीण प्रकाश-रेखा झलक रही है। 'कुरुक्षेत्र' के छंदों का ओजगुण कुछ कच्चे ढंग से 'तांडव' में मौजूद है। सामधेनी का 'राही और बाँसुरी' में काव्य का जो आदर्श उपस्थित किया गया है उसका मुखर वर्णन 'कलातीर्थ' में दीख पड़ता है। कलातीर्थ का उपयोगितावादी दृष्टिकोण सुदूर 'मिट्टी की ओर' तक झाँकता दीखता है। हाँ, रेणुका के ग्राम जीवन का माधुर्य

आगे चलकर, धीरे धीरे लुप्त होता गया। रसवन्ती की 'मानिनी' का काँटों के वन में खेलने का शौक कोई नया नहीं है। कहने का आशय यह है कि रेणुका के रस भीने कणों में कवि के काव्य जीवन की समस्त भावनाएँ अंकुरित हो चुकी हैं।*

*प्रथम भाग में, सामान्य आलोचन के अन्तर्गत, रेणुका हुँकार, रसवन्ती और सामधेनी की प्रचुर चर्चा होने के कारण यहाँ उनका नाममात्र 'परिचय' दिया गया है।

हुंकार

हुंकार के आमुख से ऐसा विदित होता है कि कवि अब अतीत के सुनहले सपने को छोड़कर वर्त्तमान के संघर्ष में भाग लेना चाहते हैं। 'रण की घड़ी जलन की वेला' देखकर कवि की गाने की इच्छा प्रबल होती है। स्वतंत्र-संग्राम छिड़ा हुआ है, सहस्र-सहस्र वीर बलिदान हो रहे हैं—ऐसे अवसर पर फूल की तरह मूक रहना अनुचित है। लेकिन दुर्भाग्य है कि ब्रिटिश के दमन-चक्र के सामने कोई खुलकर गा नहीं सकता। सत्य बोलने वाले, इन्साफ चाहने वाले, सदा जेलों के सीखचों में बंद रहते हैं। दलित, पराधीन व्यक्ति क्रांति के गीत खुलकर कैसे गाए? 'चौराहे पर बँधी जीभ से मोल करूँ चिनगारी का ?' फिर भी कवि की निर्बंधा मुक्तकेशिनी कविता रानी ने क्रांति के वे गीत गाए जिनसे सम्पूर्ण राष्ट्र प्रकंपित और उद्वेलित हो उठा।

भारतेन्दु काल में ब्रिटिश-शासन के खिलाफ जो दबा हुआ विद्रोह-भाव था, वह दिनकर की हुंकार में गरज उठा है। विनाश, विप्लव, और क्रांति की ऐसी प्रबलतम अभिव्यक्ति हुंकार को छोड़ और किसी कवि की काव्य-कृति में नहीं हो पायी।' 'स्वयं युग धर्म का हुँकार हूँ मैं' कवि का यह कथन हुंकार के लिए अक्षरशः सत्य है।

विप्लव में अंधाधुंध विनाश की भावना रहती है। विप्लवी को अपने लक्ष्य का स्पष्ट ज्ञान नहीं रहता, मार्ग में उसे दिशा-भ्रम की आशंका सदा बनी रहती है। विप्लव भविष्य के उज्ज्वल प्रकाश को पूर्णतया अपनी कल्पना में अंकित नहीं कर पाता। वह अनियमित, अनियंत्रित और संहारप्रिय होता है। क्रांति दलित समाज की एक सम्मिलित आवाज होती है। यह अपनी अद्भुत कल्पनाशक्ति से राष्ट्र के भविष्य का चित्रांकन करती है। यह एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है जो कभी मौका पाकर फूट पड़ती है। क्रांति के लिए संहार एक साधन मात्र है। नूतन सृजन उसकी सिद्धि है। क्रांति निर्मम होती है लेकिन अन्यायी नहीं। सामाजिक रूढ़ियों की बनी बनाई लीक पर चलने वाली वह नहीं है; इसीलिए वह विपथगा है। वह कुछ ही क्षणों में कुश-कंटकों को कुचलती, शिखर पर आरूढ़ हो अट्टहास करने लगती है। अन्यायियों के लहू में तैर-तैर नहानेवाली क्रांतिकुमारिका के मुख-मंडल पर नव ऊषा का अरुण आलोक छिटकता रहता है। क्रांति के सफल कवि में समष्टिगत स्थायी भावों और संवेगों की मार्मिक अनुभूति, विराट कल्पना, एवं ओजपूर्ण अभिव्यंजना का खरतर प्रवाह—ये तीन बातें

आवश्यक होती है। हुंकार और सामधेनी के दिनकर में उक्त विशेषताएँ मौजूद हैं। नव युग के रुद्र और भवानी के रूप वर्णन के लिए जिस प्रदीप्त प्रसाधन की आवश्यकता है कवि ने उसे संकलित कर लिया है। रुद्र देवता के शृंगीनाद और पद-चाप से दिशाएँ मस्त हैं, पर्वत जाग - से रहे हैं, सिंहनी चिंघार उठती है :—

"विषाण के निनाद से दिशा सभीत मौन री।
विशाल पूर्व व्योम में विभा प्रसन्न कौन री!
अखण्ड पाद-चाप ने सचेत शैल को किया
चिंघार सिंहनी जगी, जगी विराट एशिया।"

राष्ट्र की संस्कृति और प्रतिभा के अनुकूल क्रांति का सजीव चित्र खींचने में दिनकर अपना सानी नहीं रखते। क्रोधाग्नि, उद्वेग, उत्साह, आश्चर्य और और शौर्य की अनेकों भाव प्रतिमाएँ दिनकर के काव्य में देदीप्यमान हो रही हैं। 'चाह एक' में कवि के हृदय से यह पुकार उठ रही है कि 'चल उठे किसी दिशि-वह्नि राशि ले देकर मेरी चाह एक।' शांत सभीत धरती पर जड़ता, पराधीनता का साम्राज्य देखकर कवि बेचैन हो उठते हैं। कोई चैतन्य जीव 'अंतर में लेकर आग और आँखों में सिंधु अथाह एक' लेकर कब तक इस जड़ता को सहन कर सकता है! वासना को मंजरित करने वाली मलय वायु बहुत बह चुकी—अब थोड़ी जहर-हवा भी बहे:—

"बह चुकी मलय वह वायु बहुत, बह जाय आज विषवाह एक
चल उठे किसी दिशि वह्नि राशि, ले देकर मेरी चाह एक।"

कवि के दिल में अब एक ही अरमान बचा हुआ है—इस पत्थर की छाती को चीर कर कोई उद्दाम निर्झर बह चले —

"अरमान एक यह शेष, कभी भूधर के प्राण पसीज उठें
पत्थर की छाती फोड़ बहे, व्याकुल उद्दाम प्रवाह एक।"

देश की जड़ता और कायरता के भार से दबी हुई, कराहती हुई विवश आत्मा का उपर्युक्त पंक्तियों में कैसा मर्म भेदी उद्गार व्यक्त हुआ है। 'ले देकर' में दिल की सच्ची आकुलता और कसक छिपी हुई है। चाहे जैसे हो जब कभी हो, जो कुछ भी कुर्बान करना पड़े—आदि भाव 'ले देकर' में व्यंजित हो रहे हैं। आह! यह कायर शेर अब भी नहीं जग रहा है?

"महाश्चर्य! स्वदीप्ति भूलकर अपनी
सिंह भीत हो छिपा घनान्ध गुहा में,

जी करता है, इस कदर्य के मुख पर
मल दूँ लेकर मुट्ठी भर चिनगारी।'

—कल्पना की दिशा

शेर के मुँह पर मुट्ठी भर चिनगारी रगड़ने में कैसी बलवन्ती व्यंजना हुई है। अपना प्यारा देश जल्द नींद से जग जाय—यह बेचैनी कवि को चैन नहीं लेने देती।

धन्य है यह बेचैनी भी!

'आश्वासन' में युवकों को राष्ट्र की बलिवेदी पर प्राणोत्सर्ग करने के लिये प्रलोभन दिया गया है। इस हवन कुंड में अपना साकल चढ़ाने वाले वीरों की अमरता का गान किया गया है। वीर प्रहलाद की तरह ज्वाला में मुस्कुराते रहते हैं। प्रहलाद के द्वारा सच्चे सत्याग्रही की ओर संकेत किया गया है, 'प्रहलादों को जला सके जो जग में ऐसा ताप नहीं।' स्वर्ण शिखा बनकर लंका को भस्मीभूत करने वाले दीवानों के लिए रोना किस बात का :—

"बनकर शिखा चढ़े लंका पर, उनके हित रोना कैसा!
दीवानों के लिये भला जग का जादू टोना कैसा?"

मरण से दूर खड़ा रहनेवालों को मृत्यु अधिक भयभीत करती है। ज्वाला से दूर रहने वाले उसकी लपट में झुलसते हैं, लेकिन जो स्वयं अपने को ज्वलित ज्वालामय—कर लेता है, उसे ताप कहाँ! एक अपूर्व तर्क द्वारा कवि ने यहाँ जलते रहने का सौन्दर्य अंकित किया है :—

"जो अशेष जीवन देता है, उसे मरण से ताप नहीं,
जलकर ज्वाला, हुआ उसे लगता ज्वाला का ताप नहीं।"

ऐसे अनेक वीर सैनिक हैं जो अपनी मातृभूमि के लिये हँसते-हँसते प्राणों का उत्सर्ग कर देते हैं। उनके सुनहले बलिदान से संसार सदा अपरिचित ही रह जाता है। ऐसे सैनिकों को मामूली-सिपाही समझकर लोग भुला देते हैं। लेकिन उनका त्याग किसी भी बड़े नेता के त्याग से बढ़कर है। नेताओं को, कम-से-कम, यश की आकांक्षा,—अखबार में अपने नाम पढ़ने की बेचैनी लगी ही रहती है। सिपाही केवल बलिदान जानते हैं और कुछ नहीं, 'सफलता मिली अथवा नहीं, उन्हें क्या ज्ञात, दे चुके प्राण!' इन अनजान अमर शहीदों की समाधि पर दुनिया एक फूल तक नहीं चढ़ाती, कवि एक पंक्ति तक नहीं गा पाता :—

'न्योछावर में एक फूल'—पर जग की ऐसी रीत कहाँ!
एक पंक्ति मेरी सुधि में भी; सस्ते इतने गीत कहाँ?"

दिनकर ने इन सैनिकों के त्याग और बलिदान के महत्व का अनुभव किया है। सैनिक केवल अपना सेवा-धर्म निभाना जानता है और वह चाहता है कि

'जिसकी है यह देह उसी में इसे मिला, मिट जाना है।' इन्हीं शहीदों का रक्त फिर फूलों में लालिमा बनकर चमकता है, और ऊषा में अरुणिमा बनकर उल्लसित होता है। सिपाही कहता है :—

"वह लाली हर प्रात क्षितिज पर आकर तुम्हें जगायेगी
सायंकाल नमन कर माँ को तिमिर बीच खो जायेगी।"

हर संध्या का मातृभूमि को प्रणाम कर अंधकार में चुपचाप खो जाना, सैनिक के कितने अगाध प्रेम का परिचायक है! स्वर्ग में देवताओं-अप्सराओं के बीच भी उसे रहना पसन्द नहीं। मातृभूमि का पुजारी उससे दूर कैसे रह सकता! वह स्वर्ग से सभी की आँखें बचाकर, चुपके धरती पर कूद पड़ेगा और फूलों के रूप में इधर उधर खिलता नजर आयगा:—

"देव करेंगे विनय; किन्तु क्या स्वर्ग बीच रुक पाऊंगा?
किसी रात चुपके उल्का बन कूद भूमि पर आऊँगा।"

उल्का के ज्वलित प्रकाश में किसी सैनिक को धरती पर उतरते देखना कवि के दिव्य चक्षुओं द्वारा ही सम्भव है। कवि की दृष्टि एक ही झलक में स्वर्ग और धरित्री की छटा देख लेती है। मौन वृंत पर खिला हुआ यह फूल (सैनिक) राष्ट्र सैनिकों की धमनी में तप्तवेग बनकर संग हो लेता है और 'चरण-तल की मिट्टी में छिपकर जय जय बोलता है। इतना ही नहीं:—

"अगले युग की अनी कपिध्वज जिस दिन प्रलय मचायेगी
मैं गरजूँगा ध्वजा शृंग पर, वह पहचान न पायेगी।"

किसी सिपाही के अनजान बलिदान को इतने रूपों में देखना कवि की सच्ची भावुकता का प्रमाण है। 'फूलों के पूर्व जन्म' में कवि की व्यापिनी भावुकता का सुन्दर परिचय मिलता है। वन के किसी कुंज में जूही, चम्पा, छुई-मुई आदि, लता-गुल्मों को देखकर कवि भिन्न भिन्न प्रकार की कल्पना करते हैं;—

"प्रिय की पृथुल जाँघ पर लेटी करती थी जो रँगरलियाँ,
उनकी कब्रों पर खिलती हैं नन्हीं जूही की कलियाँ,
पी न सका कोई जिनके नव अधरों की मधुमय प्याली,
वे भौंरों से रूठ झूमतीं बनकर चम्पा की डाली।
तनिक चूमने से शरमीली सिहर उठी जो सुकुमारी,
सघन तृणों में छिप, उग आई वह वन छुई-मुई प्यारी।"

यहाँ तक तो सुन्दरियों के प्रणय, रभस और मान की चर्चा हुई, लेकिन असल में कवि तो शहीद के शोणित का वर्णन करना चाहते हैं, वह दिखाना चाहते हैं कि शहीद का जीवन सभी जीवन से श्रेष्ठ है:—

"अपने बलिदानों से जग में जिनने ज्योति जगाई है,
उन पगलों के शोणित की लाली गुलाब में छाई है।"

प्रकृति के हरित अंचल में झूलते हुए विभिन्न वर्णों फूलों में राष्ट्रीय भावन का यह प्रसन्न अवगाहन और कहाँ देखने को मिलेगा! राष्ट्रीय भावनाओं व्यापकता से चित्रित करने के लिए, सौभाग्य से, दिनकर को राष्ट्रीय हृदय भी प्रा हैं। यों तो किसान मजदूरों पर आँसू बहाने वाले घड़ियाल-कवियों की कमी ही नहीं।

उपर्युक्त पंक्तियों में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि हुंकार व साधारण समझी जाने वाली कविताओं में भी कैसे अनूठे भाव भरे हुए हैं हिमालय, परिचय, दिल्ली, आलोकधन्वा, हाहाकार, विपथगा आदि कविताएं हिन्दी-जगत् में काफी ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। राष्ट्रीय कविता के क्षेत्र मैथिलीशरण गुप्त के बाद इतना अधिक लोकप्रिय और कोई कवि न हो सका हुंकार के भूमिका-लेखक बेनीपुरी का यह कथन, "दिनकर के आगे का मैदान अभ उसी का है। यह मेरा आज का दावा है। कल की बात मैं नहीं कहता।' अक्षरशः सत्य है। बेनीपुरी की यह पंक्ति आज से बारह वर्ष पहले लिखी ग थी; लेकिन वह अभी भी उसी दावे के साथ दुहरायी जा सकती है,—

"दिनकर के आगे का मैदान अभी उसी का है।"

द्वन्द्व गीत

द्वन्द्वगीत में सचेतन मानव के जागरूक हृदय में उठने वाले अन्तर्द्वन्द्वों का, दार्शनिक पुट के साथ, काव्यात्मक चित्रण है। मानव का अहं सुख की प्राप्ति में सतत प्रयत्नशील रहता है। लेकिन उसके भाव का, अन्तर्जगत का, वस्तु के बाह्य जगत से प्रायः पूरा-पूरा मेल नहीं खाता, पटरी नहीं बैठती। इसलिए व्यक्ति का अहं जगत् के अनहं से अपने को घिरा पाता है। उसे अपने अनुकूल बनाने के लिए, सुखात्मक अनुभूति के लिए संघर्ष करना आवश्यक हो जाता है। यही कारण है कि व्यक्ति को बाह्य जगत दुःखात्मक प्रतीत होता है। व्यक्ति का अहं पहले तो निश्चेष्ट पड़ा रहता है, बाह्य जगत से उत्तेजना प्राप्त करके वह क्रियाशील हो उठता है। इस प्रकार वस्तु जगत की क्रियाओं की प्रतिक्रिया करते समय वह सक्रिय हो जाता है। व्यक्ति का मानस-जीवन जिन संघर्षशील शक्तियों से परिचालित और अनुशासित होता है उन्हें हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—अहं और अनहं का द्वन्द्व, सुख और दुख का द्वन्द्व एवं सक्रियता और निष्क्रियता का द्वन्द्व। प्रथम के अन्तर्गत भाव पक्ष और वस्तु पक्ष अथवा अन्तर्जगत और बाह्य जगत का समावेश है। दूसरे के अन्तर्गत प्रेम-घृणा एवं जीवन-मरण की भावनाएँ समाविष्ट हैं। अंतिम में पुरुषोचित और स्त्रियोचित भावनाओं के संघर्ष की गणना की जा सकती है। मानव के अन्दर के अहं की पूर्णतया संतुष्टि नहीं हो पाती, इसलिए वह इसके कारणों की छानबीन में प्रवृत्त होता है और उसका मानस अन्तर्द्वन्द्व का पालना हो जाता है। उसकी 'दोलाचल चित्तवृत्ति' उसे चैन नहीं लेने देती। कभी वह इन असफलताओं का कारण बाह्य जगत में पाकर क्षुब्ध हो उठता है, कभी उसे अपने ही अन्दर देख कर हतप्रभ हो जाता है।

सुख भोगने की कामना से जीने वाला व्यक्ति जीवन को बेहद ममता के साथ प्यार करता है। अधिक से अधिक लाभ उठाने वाला व्यक्ति हानि की थोड़ी सी आशंका से भी भयभीत हो जाता है। इसलिये जीवन-भावना का ही दूसरा रूप मरण-भावना है। जन्म और मरण प्रेम और घृणा एक ही बीज के दो अङ्कुर हैं। जब तक व्यक्ति का अहं सांसारिक वस्तुओं में सुख-संतोष का अनुभव करता है, तब तक उनके प्रति उसका प्रगाढ़ प्यार बना रहता है, जहाँ उसमें विघ्नबाधा पड़ी कि वह सबों से घृणा करने लगता है। इस प्रकार घृणा भी एक तरह से प्रेम का ही विकृत रूप है। व्यक्ति की वीभत्स घृणा उत्कट सात्विक प्रेम

में परिणत हो सकती है। शरद बाबू के उपन्यासों में ऐसे कई पात्र मिलेंगे जो पहले किसी रमणी से घोर घृणा करते हैं और परिस्थिति वश फिर उसे जोर शोर से प्यार करने लगते हैं। मृत्यु का भय भी कभी-कभी व्यक्ति को काम-सुख की ओर आकृष्ट करता है। युद्ध के समय सैनिकों में प्रेम का ज्वार अधिक उठता है।

द्वन्द्वगीत के भाव तीन श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं।

क—सांत और अनन्त का अर्थात् जीव और ब्रह्म का चिरन्तन सम्बन्ध।

ख—निखिल प्रकृति का शाश्वत सौन्दर्य एवं व्यक्ति का क्षण भङ्गुर रूप-वैभव।

ग—प्रेय और श्रेय अर्थात भोग और वैराग्य का रहस्य।

यह संसार किसने रचा? चाँद, सूरज, सितारे, आसमान ये कब से हैं? क्यों हैं? यदि इस सृष्टि का कोई रचने वाला है तो उसने यहाँ दुखों का जाल क्यों बिछा दिया? पाप.पुण्य, स्वर्ग-नरक कौन-सी बला है? मानव अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति क्यों नहीं कर पाता? तो यह सारी सृष्टि माया है, मिथ्या है, जजाल है? मानव-मन में इस तरह की जिज्ञासाएँ अनादि काल से उठती आ रही हैं। प्रत्येक मनुष्य के मन में छिपा नचिकेता पूछता है, 'अस्तीत्ये के नायमस्तीतिचै के' लेकिन अभी तक संतोषजनक समाधान नहीं हो पाया। द्वन्द्वगीत में कवि हमारी सोई हुई जिज्ञासा को उकसा देता है, उपचेतन में दबी हुई भावना को चेतन स्तर पर लाकर वह ओझल हो जाता है। जल की ऊपरी सतह पर ये भाव कुछ बुनबुनी उत्पन्न करके फिर नीचे विलीन हो जाते हैं। मुझे इस धरती पर किसने भेजा? जीवन का यह भार कब तक ढोना है? जीवन-तरी को भव-सागर के किस घाट पर लगाना है?:—

> "भेजा किसने? क्यों! कहाँ?
> भेद अब तक न क्षुद्र यह जान सका
> युग-युग का मैं यह पथिक श्रांत
> अपने को अब तक पा न सका
> यह अगम सिन्धु की राह और
> दिन ढला, हाय! फिर शाम हुई
> किस कूल लगाऊँ नाव?
> घाट अपना न अभी पहचान सका।"

यदि यह सृष्टि मिथ्या है तो पाप-पुण्य का बन्धन क्यों? यदि यह आत्म निर्लिप्त, निर्विकार और ब्रह्म रूप है तो फिर पूजा और उपासना किसकी?

"जो सृजन असत्, तो पुण्य पाप का श्वेत नील व घन क्यों है ?
स्वप्नों के मिथ्या तंतु बीच आबद्ध सत्य जीवन क्यों है ?
हम स्वयं नित्य, निर्लिप्त अरे, तो क्यों शुभ का उपदेश हमें
किस चिन्त्य रूप का अन्वेषण ? यह आरा धन पूजन क्यों है ?"

धरती पर उतरते ही मानव को व्यथा की जंजीर मिली कुल मिलाकर उसे यही पता चला, 'हम भली भाँति यह जान चुके तेरी दुनिया में स्वाद नहीं।' इस सृष्टि के सुख-दुख के रहस्य को न समझ सकने के कारण कवि खीझ-कर पूछते हैं:

"ओ रचने वाले ! बता हाय ! आखिर क्यों यह जंजाल रचा।"

आदमी कुछ भी करे, लेकिन मौत के सामने वह लाचार हो जाता है। मृत्यु मनुष्य की सब से बड़ी हार है। इसीलिए मनुष्य अपनी कोमल काया को, रूप-यौवन को, क्षण भंगुर समझता है। कमल-दल पर ढुलकने वाले ओस कण की तरह वह कुछ काल झिलमिला कर विलीन हो जाने वाला है:—

"जी करता है मत्त वायु बन फिरूँ कुंज में नृत्य करूँ
पर है विवश हाय, पंकज का हिमकण हूँ डोलूँ कैसे ?"

जीवन और मृत्यु, मृत्यु और जीवन, आखिर यह विचित्र चक्कर है क्या ?

"जीवन ही चल मृत्यु बनेगा और मृत्यु ही नवजीवन
जीवन मृत्यु बीच तब क्यों द्वन्द्वों का यह उत्थान पतन।"

सुखोपभोग के समय यदि नश्वरता का, मृत्यु का भयंकर रूप सामने आ जाय तो व्यक्ति सिहर उठता है। द्वन्द्व उत्पन्न होने से आनंद विलीन हो जाता है। प्रेयसी को चूमते समय यदि उसकी चिता की कल्पना आ जाय तो;—

"जी करता, हृदय लगाऊँ, पल पल चूमूँ, प्यार करूँ।
किन्तु, आह ! यदि हमें जलाती क्रूर चिता की आग नहीं।"

प्रेयसी के चाँद-से सलोने मुखड़े को प्रेमी निहारता है, हृदय से लगाकर सोता है। फिर भी उसे चैन नहीं। यह चाँद राहु से ग्रसा जायगा; मृत्यु के मुख में समा जायगा। यह चिन्ता आते ही आँखें भर आती हैं, हृदय से एक आह निकलती है; काश ! यह चाँद कभी डूबता ही नहीं !

"बचे गहन से चाँद, छिपाऊँ किधर ? सोच चल होता हूँ
मौत साँस गिनती तब भी जब हृदय लगाकर सोता हूँ।

वृथा न होगी हाय, प्रलय को इस सुन्दर मुखड़े पर भी
जिसे चूम हँसती है दुनिया, उसे देख मैं रोता हूं।"

ऐसा होने पर भी कि प्रेयसी का रूप यौवन क्षण भंगुर है; फिर प्रेमी उसे प्यार क्यों करता, वह उस माया-मोह में ही पड़ा हुआ सुख क्यों पाता !

"धूलि रचित प्रति में, तुम भी तो मर्त्यभूमि की एक कली
ढूँढ रहा। फिर यहाँ विरम मेरा मन चकित, विवश क्या है।"

मृत्यु की इस जहरीली वेदना को जीतने का क्या उपाय है ? जीवन का बिरवा यदि अमृत से सिंचा जाय तो उसमें कटुता क्यों आएगी ? यदि मानव अपने जीवन में मधुर प्रेम और विशद् आनन्द का स्रोत बहने दे तो मृत्यु दुखदायी प्रतीत नहीं होगी। हमारा जागरण-काल यदि आलिंगन चुम्बन में व्यतीत हो तो नींद भी मिठास से भींग जायगी। पल-पल हँसती हुई कली मुरझाते समय भी मुस्कुराती रहेगी। जीवन प्रेम और आनन्द से सराबोर हो जाय तो मरण सुन्दर बनकर आयगा:—

अधर सुधा से सींच लता में कटुता कभी न आयेगी
हँसने वाली कली एक दिन हँस कर ही झड़ जायेगी
जाग चुम्बन में तो क्यों नींद न स्वप्न मधुर होगी
मादकता जीवन को पीकर मृत्यु मधुर बन जायेगी।"

जिन्दगी में एक मस्ती चाहिए। कुछ ऐसे भी क्षण हों जब हम विधि-निषेध को भूल कर उन्मुक्त रूप से गा उठें :—

'जीवन का क्या स्वाद अगर खुलकर हम दो पल गा न सकें।'

निखिल प्रकृति का सौन्दर्य स्रोत अनादि काल से बहता चला आ रहा है। ऊषा-संध्या, हेमन्त-वसंत, धूप-चाँदनी आदि सब इस धरती पर अपनी छटा दिखाते रहेंगे। लेकिन इस सुन्दर संसार का सुधा-रस पीने के लिए एक मानव ही नहीं रह पायगा। प्रकृति की यह 'नगन माधुरी' फिर उसे देखने को न मिलेगी। सभी सुन्दर वस्तुएँ रहेंगी, रसधारें बहती रहेंगी; लेकिन, एक कवि नहीं रह पायेगा :—

दूब भरी इस शैलतटी में उषा विहँसती आयेगी।
युग युग कली हँसेगी युग-युग कोयल गीत सुनायेगी।
घुल मिल चंद्रकिरण में बरसेगी भू पर आनंद सुधा।
केवल मैं न रहूँगा, यह मधु धार उमड़ती जायेगी।

मरण और विनाश की कल्पना साधारणतः भावुक चित्त में दो प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। यदि यौवन विनाशशील है तो कुछ ही क्षणों के लिए सही, इसके रूप-रस का भरपूर पान कर आदमी क्यों नहीं अघाले। या नहीं तो

इस क्षण भंगुर काया के पीछे, कनक मृग के पीछे, अपने को व्यर्थ क्यों परेशान किया जाय! इन्द्रधनुष के सतरंगे बादल के मेले से दूर हटकर आदमी अपनी साधना और चिंतना में क्यों न विश्राम करे! दो दिनों के लिये हाय-हाय क्यों! द्वन्द्वगीत में यौवन के रूप-आकर्षण के साथ उसकी अंतिम परिणति—विरूपता—भी चित्रित है। कवि की इच्छा कभी अधर रस पीने की होती है कभी उसकी निःसारता देखकर आँसू बहाने की होती है। जीवन की मुस्कान के पीछे गहरी उदासीनता झाँकती रहती है। जीवन में रूप और यौवन का कितना बड़ा आकर्षण है!

"रूप, रूप, हाँ रूप सुना था जगती है मधु की प्याली
यहाँ सुधा मिलती अधरों में आँखों में मद की लाली
उतराता ही नित रहता यौवन रस धार तरंगों में
बरसाती मधुकण जीवन में यहाँ सुंदरी मनवाली।"

जब पुरुष रमणी को पुण्य भावना से देखता है तब उसके प्रत्येक अंग में, हर प्रसाधन में, अपूर्व सौन्दर्य का अनुभव करता है। सुख प्रदान करने वाली रमणी का शृंगार स्वर्गीय छटा की झाँकी प्रदान करता है। प्रेम क्षेत्र में प्रेमिका का कोपन रूप भी प्रेमी को सुहावना लगता है, बुरी भी हर अदा उसकी भली मालूम होती है :—

"ये नवनीत कपोल गुलाबों की जिनमें लाली खोई,
यह नलिनी सी आँख जहाँ काजल बन लघु अलिनी सोई।
कोंपल से अधरों को रँग कर कब वसंत कर धन्य हुआ
किस विरही ने तनु की यह धवलिमा आँसुओं में धोई।"

प्रेमी की आँखें सम्पूर्ण प्रकृति में चुम्बन का आदान-प्रदान देखती हैं। भागते हुए वसंत को अपने हृदय में सँभालने की बेचैनी निम्न पंक्तियों में कितनी सुन्दर है :—

"प्राणों में उन्माद वर्ष का गीतों में मधुकण भर लें।
जड़ चेतन विंध रहे, हृदय पर हम भी केशर के शर लें।
यह विद्रोही पर्व प्रकृति का फिर न लौट कर आयेगा!
सखि! वसंत को खींच हृदय में आओ आलिंगन कर लें।"

मरण के भय से जहाँ कवि की एक प्रवृत्ति रस पीने की ओर ढुलकती है, वहाँ दूसरी वैराग्य जीवन के सौन्दर्य से भी पुलकित होती है :—

अरे, मरूँगा कल तो फिर क्यों आज नहीं रस धार बहे।,
'वह होगी कैसी छवि जो छिप रही चिता की धूलों में।"

कवि की विरक्ति का एक प्रधान कारण यौवन के रूप सौन्दर्य का वार्धक्य की सिकुड़न में बदल जाना भी है। व्यक्ति जिस कंचन काया को मोह से साजता

सँवारता है वह अकाल ही चिता की लपटों का शिकार होती है।

"मैं रोता था हाय, विश्व हिमकण की करुण कहानी है।
सुंदरता जलती मरघट में मिटती यहाँ जवानी है
....सो देखा चाँदनी एक दिन राज अमा पर छोड़ गई,
खिजाँ रोकता रहा लाख कोयल वन से मुँह मोड़ गई।
और आज क्यारी क्यों सूनी अरे बता, किसने देखा
गलबाँही डाले सुंदरता काल-संग किस ओर गई।"

जगजीवन की नश्वरता की ओर कवि का ध्यान 'रेणुका' की 'परदेशी' में भी गया है :—

"मरते कोमल वत्स यहाँ, बचती न जवानी परदेसी
माया की मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परदेसी!"

जो रमणी अनुरक्ति के कारण सौन्दर्य-सुख की खान मालूम पड़ती है वही विरक्ति की दृष्टि में हड्डियों का कंकाल दीखती है। वास्तव में, वस्तुओं को हम अपनी भावनाओं में रँग कर ही देखते हैं। वस्तु के निजी आंतरिक तत्त्व (Thing in itself) का हम पता नहीं लगा पाते। विरक्त व्यक्ति रमणी में वीभत्स रूप की झाँकी देखता है :—

"दो कोटर को छिपा रहीं मदमाती आँखें लाल सखी।
अस्थि-तन्तु पर ही तो हैं ये खिले कुसुम के गाल सखी।
और कुचों के कमल? झड़ेंगे ये तो जीवन से पहले,
कुछ थोड़ा-सा-मांस प्राण का छिपा रहा कंकाल सखी।"

नारी का यह निर्वेद मूलक रूप वैराग्य-भावना को पुष्ट करता है। मोहक रूप के अंतराल में भयानक कंकाल छिपा है—इस तथ्य की वर्णना उपर्युक्त पंक्तियों में खूब साफ उतरी है। नयन, कपोल और उरोज, इन तीनों की विकृति कालांतर में हो जाती है; तो इस रूप पर गर्व कैसा ?

"सुंदरता पर गर्व न करना ओ सरूप की रानी।
समय रेत पर उतर गया कितने मोती का पानी।"

दिनकर की अन्तर्दर्शिनी भावुकता ने रूप-सौन्दर्य के विभिन्न चित्र बहुरंगी भंगिमाओं द्वारा हमारे सामने प्रस्तुत किया है। रमणी का उक्त रूप देख कर प्राण सिहर उठते हैं। यह कुछ सोचने के लिए हमें बाध्य करता है; मन में द्वन्द्व उत्पन्न करता है।

जग में आत्मा सृष्टि के अणु-परमाणु में वर्तमान है। इस परम सत्य को कवियों ने भिन्न भिन्न ढंग से प्रकाशित किया है। दिनकर की अभिव्यक्ति अपने ढंग की है :—

"किरणों के दिल चीर देख, सब में दिनमणि की लाली रे
चाहे जितने फूल खिलें पर, एक सभी का माली रे।"

विरह के विराट रूप का दर्शन हिन्दी कवियों में सबसे पहले जायसी ने किया। जायसी की निखिल प्रकृति उस परम पुरुष के वियोग में विह्वल हो रही है। उसके चरणों से एक बार बिछुड़ने पर फिर किसी को शांति नहीं। सभी उसके पावन स्पर्श के लिए अहर्निश प्रयास कर रहे हैं। वायु उसका स्पर्श नहीं पाकर आहें भरती। जल वाष्प बनकर ऊपर उठता, आकाश का चक्कर लगाता लेकिन उसको नहीं छू पाने के कारण रो-रो कर फिर बरस पड़ता है; 'पानि उठा, उठि जाइ न छूआ। बहुरा रोइ, आइ भुँइ चुआ।' इस परम विरह की एक झलक द्वन्द्वगीत के प्रारम्भ में ही है:—

"तारे लेकर जलन, मेघ आँसू का पारावार लिये,
सन्ध्या लिये विषाद, पुजारिन उषा विफल उपहार लिये,
हँसे कौन! तुमको तजकर जो चला वही हैरान चला
रोती चली बयार, हृदय में मैं भी हाहाकार लिये।"

कवि के जीवन में भी इस विरह के कुछ कण समा गए हैं। प्रेम के इस पवित्र वरदान को वह खोना नहीं चाहता। दीपक को तब तक जलते रहना है जब तक उसे प्रियतम के दर्शन न हो जायँ:—

"जीवन का यह दर्द मधुर है, तू न व्यर्थ उपचार करे
किसी तरह ऊषा तक टिमटिम जलने दे दीपक मेरा।"

द्वन्द्वगीत की यत् किंचित् सफलता का रहस्य इसकी प्रतीकात्मक अभिव्यंजना में है। रहस्यमय पेचीले भावों को प्रतीकों के सहारे सुबोध बनाने की कला कबीर से सीखनी चाहिए। आधुनिक रहस्यवादी कविता के प्रतीक पाठकों को कुछ अपरिचित से लगते हैं। द्वन्द्वगीत के प्रतीक सरल सुपरिचित और राग-प्रधान हैं। ऊषा, दीपक, पतझड़ और वसंत क्रमशः सौभाग्य-उल्लास, आशा, साधना, उदासीनता, और यौवन-आनन्द की याद दिलाते हैं। इसी प्रकार ओस, तारे, चाँदनी और मस्ती क्रमशः आँसू, करुणा, वेदनाकण, सौन्दर्योल्लास और मस्ती का प्रतिनिधित्व करते हैं। घोर विषाद के लिए अमा और प्राण के लिए कोयल आई है। ये प्रतीक द्वन्द्वगीत के भावों पर रेशमी घूँघट का काम करते हैं। घूँघट हटा दीजिए भाव अपरुप मामूली दीख पड़ेंगे। राष्ट्रीय कविता की बहिर्मुखता के कारण द्वन्द्वगीत की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति दिनकर के स्वभाव के अनुकूल नहीं पड़ती। इस पुस्तिका में द्वन्द्व की तीक्ष्णता और बेचैनी का सम्यक् विकास नहीं हो पाया है। अन्तर्द्वन्द्वों को चित्रित करनेवाली मधुमयी कल्पना का अभाव कुछ खटकता है।

इसके कई गीत उमरखैयामी रंग-ढंग लिए खड़े हुए हैं लेकिन उनके चरण-थरथराते हैं, नशे और मस्ती के कारण नहीं, अपनी रूहानी कमजोरी की वजह से। द्वन्द्वगीत में ऐसी कम पंक्तियाँ मिलेंगी जहाँ भाव वैदग्ध्य के दर्शन हों। अधिकांश पंक्तियों में अनुभूति चौड़ी होकर पसर गई है। ऐसा लगता है कि कवि ने शब्दों को जरूरत से ज्यादा खर्च किया है। भावों की कंजूसी और शब्दों की शाहखर्ची कवि को बदनाम करती है। यों, द्वन्द्वगीत का प्रवाह बड़ा सुन्दर है। कवि अनायास अपने भावों को छंदों में पिरोये चलते हैं। हिन्दी में खपने वाले उर्दू के शब्द भी आसानी से सुर मिलाते दीखते हैं, एकाध 'लाज' भारी पड़ने के कारण गले में अटकते हैं। द्वन्द्वगीत में जब, जहाँ, जैसे, जो भाव मिलते गए वे सभी इसमें धीरे-धीरे दाखिल होते गए। जो कुछ हो, दिनकर की यह कृति प्रसाद, प्रवाह और मूर्च्छना के कारण पाठकों में सदा लोकप्रिय रहेगी।

रसवन्ती

रसवन्ती के नवीन संस्करण में 'नारी', 'कालिदास' 'कान्तिन कागीत' आदि नई कविताएँ तो जोड़ी ही गई हैं साथ ही इसके आवरण-पृष्ठ के चित्र में भी निविड़ोन्नतस्तनी रसवन्ती की जगह सूखे विटप की सारिका चहचहाती चित्रित की गई है, जो पहले की अपेक्षा अधिक भावपूर्ण है। 'आशीर्वचन कहो मंगलमयि', और भूमिका के प्रारम्भ में दिनकर ने रसवन्ती के गीतों के प्रति अपनी बेहद ममता प्रकट की है। ये भोले भाले शिशु-गीत कवि को अत्यन्त प्रिय और मधुर हैं। इन्हें कवि ने 'बड़े नाज से, बड़ी साध से, ममता, मोद, प्रणय से' पाला पोसा है। कठिन भूमि के भय से इन्हें कभी गोद से भी नहीं उतारा, लेकिन आज कवि उन्हें निष्ठुर दुनिया में विचरने के लिये छोड़ रहे हैं। प्रेम और स्नेह का अतिरेक प्रेमी के हृदय को प्रिय वस्तु के प्रति अत्यन्त शंकाशील बना देता है। प्रिय बच्चे के सुख-दुख की थोड़ी-सी आशंका भी उसके चित्त को पल-पल चंचल और उद्विग्न किए रहती है:—

"नन्हें अरुण चरण ये कोमल, छिति की परुष प्रकृति है,
मुझे सोच, पड़ जाय कहीं पाला न कुलिश निर्दय से।"

ये शिशु इतने भोले हैं कि कंचन चलय से मुट्ठी भर मिट्टी बदल लेंगे। इन शिशुओं के दाँत दूध से धुले हैं:—

"रुन-झुन-झुन पैजनी चरण में, केश कुटिल घुँघराले,
नील नयन देखो माँ! इनके दाँत धुले हैं पय से।

भूमिका के पहले की यह कविता मंगलाचरण-सी प्रतीत होती है। इसमें सरस्वती से अपने गीतों की सफलता के लिए आशीर्वाद माँगा गया है। वात्सल्य-रस-परक इस कविता से पाठकों के हृदय में स्नेह उमड़ पड़ता है। वात्सल्य से भींगा हृदय आगे विरह, मिलन और शौर्य के भावों को पाकर पकड़ा जाता है। ये शिशु-दलित देशों का हाहाकार सुन माथा ठोंकते, इनकी शिराओं में अर्द्ध-परिचित सी कोई आग तपती है, कल्पना-सुन्दरी के रूप-सौन्दर्य पर ये फिदा होते दीखते हैं और तो और ये नन्हें अरुण चरण वाले ताल ठोककर कह रहे हैं कि:—

"फोड़ दूँगा माया के दुर्ग तोड़ दूँगा यह वज्र कपाट
व्योम में गाने को जिस रोज बुलायेगा निर्बन्ध, विराट।"

'आशीर्वचन......' का शिशु एक हाथ से सूखे विटप की सारिका की

पाँख नोचता है और दूसरे से रसवन्ती की आँखों में धूल झोंकता है। शृंगार की रसधारा के बीच शिशु प्रायः बाधा ही पहुँचाता आया है।

रसवन्ती की लम्बी भूमिका भूमिका की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर है। कवि के प्रौढ़ विचार, लाक्षणिक व्यंजना और खरतर प्रवाह देखने ही योग्य है। दिनकर को यह आशंका है कि कतिपय प्रगतिपंथी उनकी रसवन्ती को राह चलते छेड़ेंगे। रसवन्ती के दिनकर को अपने और पाठकों के बीच एक खाई-सी दीख रही है जिसे उनने भूमिका से पाटने का प्रयास किया है। यहाँ उनके अपने मन में ही द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ है कि 'हुँकार' के भूखे शिशुओं के लिए दूध की खोज में गया हुआ कवि रसवन्ती के साथ झूमता हुआ धरती पर कैसे उतरे! शिशुओं को दूध की जगह मधु पिलाया नहीं जा सकता। अपने अंदर का छोटा-सा भय कवि को बाहरी दुनिया में अधिक फैला हुआ है दिखाई पड़ता है। भूमिका के जोरदार वाक्यों द्वारा भय को छिपाने का सफल अभिनय किया गया है।

रसवन्ती की भूमिका में कवि ने यह स्वीकार किया है कि "इन गीतों में जीवन के जो प्रतिबिम्ब उग आये हैं, वे सीधे नहीं आ सके। इनका प्रतिफलन तिर्यक अथवा वक्र रहा है। सीधा इसीलिए नहीं कि, चूँकि, चित्र लेते समय मैं तटस्थ नहीं रह सका और दृश्यों के साथ तत्सम्बन्धी अपनी निजी भावनाओं को भी अंकित कर गया। मिट्टी की गंध हवा में भर गई। आदर्श में नम्न उँगलियों के धब्बे लग गये। तृषित जीव के चुम्बन से स्वप्न सिहर उठा।" जो कवि स्वयं युग-धर्म का हुंकार हो उसकी रचनाओं में युग की ज्वाला की लपटों का आना स्वाभाविक है। इसलिए रसवन्ती के रस में युग से आँसू का खारापन भी मिल गया है। रसास्वादन का रङ्ग फीका पड़ गया है। प्रेमालाप करते समय जमा खर्च का खाता खोलना ठीक नहीं। देश दशा का चिंतन अपनी जगह पर ठीक है लेकिन प्रेयसी के लिपटने वाले हाथों में तलवार थमा देना कहाँ की भलमनसाहत है। 'नारी' 'अगुरुधूम', 'सुन्दर प्रिया' 'रास की मुरली' 'कालिदास' और अंत के चार गीत आँसू के खारेपन से बिल्कुल बचे हुये हैं। इसलिए इनकी अनुभूति और सौन्दर्य की व्यंजना करने में सफल हुई हैं। 'मानवती' में प्रथम मिलन का सम्पूर्ण अनुभूति और कवि की दरिद्रता का—रति और दैन्य का—मार्मिक चित्रण हुआ है। इस कविता के पूर्वार्द्ध की मानवती नायिका स्वयं कविता रानी है और उत्तरार्द्ध की कवि-जाया ग्रामवधू। पूर्वार्द्ध में कल्पना, प्रकृति और शृंगार की मधुर भावनाएँ चित्रित हैं, उत्तरार्द्ध में मधुर दुलार के साथ यथार्थ का कटु स्पर्श अंकित है। मानवती कविताबाला कल्पना और प्रणय के चित्रों द्वारा मनाई जा सकी है लेकिन पेट की ज्वाला में कुम्हलाते हुए शिशुओं को देखकर कवि के

दृगों में करुणा के बादल छा जाते हैं। इस कविता में कवि का लक्ष्य जीवन में अर्थ की बेहद महत्ता और उसके अभाव में लाचार प्रतिभा का करुण चित्र अंकित करना है। इसमें कवि के काल्पनिक और यथार्थ जीवन को आमने-सामने रखकर दिखाया गया है :—

"खोज रही आनन्द कल्पना दूब, लता, गिरि माला में,
कल्पक के शिशु झुलश रहे हैं इधर पेट की ज्वाला में।
जिसके मूर्त्त स्वप्न भूखे हों, वह गायक कैसे गाये!
मानवती चुप रही, दृगों में करुणा के बादल छाये।"

ग्रामीण कवि-जाया का जीवन के प्रति दृष्टिकोण और नारियों की तरह इस प्रकार का है :—

"गहनों से शोभा बढ़ती है, उदर पूर्त्ति अन्नों से,
तुम्हें न जाने क्या मिलता लिपटे रहने में पन्नों से।
सुस्थिर हो दो बात करें, यह भी बाकी अरमान मुझे,
पैसा कुछ क्या देखा, चांदी-सोने का खान मुझे।"

[अंतिम पक्ति में भौंहे तिरछी कर, मुँह मोड़कर, रूठने वाली स्त्री की तसवीर दीख रही है।] रूठी प्रिया को कवि आँसू पी बरबस हँस-हँस समझाता है :—

"यना रखूँ पुतली दृग की, निर्धन का यही दुलार सखी,
स्वप्न छोड़ क्या पास, तुम्हारा जिससे करूँ सिंगार सखी।
कहाँ रखूँ ? किस भाँति ? सोच यह तड़पा करता प्यार सखी।
नयन मूँद उर से चिपका लेता आखिर लाचार सखी।"

दीनता और लाचारी को व्यक्त करने वाली कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं :—

१—कोस रही वाणी के सुत को—'टका सत्य है औ' सब माया"
२—'यह अचरज मानिनि, तो देखो, सुधा सौत भोली कविता की।'
३—वाणी भी भिक्षुणी जगत में वह सीधी भोली क्या जाने ?"
४—'जीवन की रस वृष्टि (पंक्ति कविवर की) क्यों चांदी न हुई।
कवि जाया कहती, 'लक्ष्मी क्यों कविता की चांदी न हुई।'

इस अभाव और दैन्य की धधकती ज्वाला में कवि के सुकुमार सपने साकार होने के पूर्व ही झुलस जाते हैं :—

"कलियाँ हृदय चीर टहनी का खिलने को अकुलाती हैं,
सह सकतीं न जलन, बाहर आते-आते जल जाती हैं।"

रसवन्ती में शृंगार-रस का उद्दीपन प्रकृति भी पर्याप्त रूप से चित्रित हुई है। प्रकृति-वर्णन के प्रसंग में इसका उल्लेख किया जा चुका है। 'रास की मुरली' 'पुरुष प्रिया' आदि कविताओं में प्रेम का चित्रण प्रधान होने के कारण प्रकृति पृष्ठाधार या उद्दीपन के रूप में आई है। 'मानवती' के पूर्वार्द्ध की प्रकृति उद्दीपन रूप में होते हुए भी वह अपना आलम्बन मूलक महत्त्व रखती है। एक स्थल पर कवि ने नैश प्रकृति और अपनी मानवती में तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित किया है। वर्षा के बाद शरद् ऋतु के शुभागमन का गत्यात्मक चित्र इस प्रकार अंकित है :—

"वर्षा गई, शरत् आया, जल घटा, पुलिन ऊपर आये।
बसे बबूलों पर खग-दल, फुनगी पर पीत कुसुम छाये।
आज चाँदनी देख न जानें मैंने क्यों ऐसा गाया—
'अब तो हँसो मानिनी मेरी, वर्षा गई शरत् आया।"

वर्षा बीतते ही बबूलों पर चिड़ियों का खोता साजना,—उनकी फुनगियों पर पीले-पीले फूलों का छा जाना, शरत् के अच्छे दृश्य हैं। शरत् वर्णन में दिनकर बबूल और कास को कभी नहीं भूल सकते।

"उलर रही मंजरी कास की, हवा झूमती जाती है,
राशि-राशि अवली फूलों की एक ओर झुक जाती है।"

कासों के घने बन में बहने वाली हवा बहती नहीं, गजगामिनी की तरह झूमती है। कासों की मंजरियाँ कहीं फूल रही हैं, कहीं फैल रही हैं, कहीं बिखर रही हैं, कहीं झर रही हैं, कहीं झूम रही हैं। ये सारी गतिमती छवियाँ उपर्युक्त दो पंक्तियों के झूले पर झूल रही हैं। 'राशि-राशि' में 'रा' के 'आ' से 'शि' की 'इ' पर आने में झोंके के साथ कास-फूलों का नीचे-ऊपर झूलना दिखाया गया है। 'शि'-'शि' में समीर के संस्पर्श से कास की सरसराहट सुनाई देती है। 'अवली फूलों' की ल-ध्वनि फूलों का हलकापन, कोमलपन और फूटकर खिलना दिखाती है। कास के फूलों का एक ओर एक साथ झुक जाना चित्रण की सच्चाई प्रकट कर रहा है। 'उलर रही' पद का व्यंजनात्मक माधुर्य अपूर्व है। गाँव की बोलचाल के क्रिया-पद का प्रयोग कर दिनकर ने हिन्दी-भाषा की व्यंजना-शक्ति की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। 'उलर रही' पद कहीं राजा भोज सुन पाते तो प्रति-अक्षर लक्ष प्रदान करते।

रसवन्ती में नारी चार रूपों में चित्रित मिलती है :—

क—कवि-मानस में चिर निवास करने वाली आदर्श काल्पनिक नारी;—काल्पनिका।

ख—रूप-रस में भीगती हुई लजवन्ती प्रणयिनी;—प्रेमिका।

ग—दूर गाँव में बसने वाली;—ग्राम वधुका।

घ—नगर में तितली-सी थिरकने वाली;—रूपशिखा-आधुनिका।

नारी कोमल कलेवरा के अतिरिक्त एक मादक भावना भी है। पुरुष अनादिकाल से नारी के प्रति एक आदर्श भाव रखता आया है। वह कल्पना के द्वारा उस पुत्तलिका को प्रकृति के अनुपम उपमानों से अलंकृत करता है। मन ही मन उस चिर सुन्दर रूप के प्रति उसका आकर्षण, सम्मोहन और आराधन बढ़ता जाता है। किसी भावना का आदर्शीकरण करना एवं उसका अन्य वस्तु पर प्रक्षेपण करना मानव मन का स्वाभाविक गुण है। वास्तविक प्रणय-सम्बन्ध स्थापित होने के पूर्व पुरुष का प्रेमी मन किसी कल्पना-किशोरी को प्रगाढ़ प्यार करता रहता है। यथार्थ जगत की शरीरधारी सुन्दरी तो उस कल्पना किशोरी की एक झलक भर दिखाती है। दिनकर ने नारी की छवि को कभी अपनी कविता-रानी के रूप में देखा है कभी काल्पनिका किशोरी के रूप में जिसमें अनिन्द्य सौन्दर्य, अपूर्व लावण्य और अगाध प्रणय-माधुर्य है। पुरुष इस सुन्दरी की मोहिनी माया पर चिरकाल से लुब्ध होता आया है। पुरुष की अपूर्णता और नीरसता को सम्पूर्णता एवं संगीतमयता में बदलने वाली नारी की इस अद्भुत शक्ति की कवि मुक्त कंठ से प्रशंसा करता है। इस अनादि शक्ति में मादन और सम्मोहन की मदिरा है, सृजन और पालन का क्षीर है और विनाश एवं संहार का हलाहल भी है। 'नारी', 'पुरुष-प्रिया' आदि कविताओं में इस भावना की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। इस सुन्दरी के रूप के अलौकिक प्रभाव का वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

> "दृष्टि तुमने फेरी जिस ओर, गई खिल कमल पंक्ति अम्लान
> हिंस्र मानव के कर से स्रस्त शिथिल गिर गये धनुष औ बाण
> हो गया मदिर दृगों को देख सिंह विजयी बर्बर लाचार,
> रूप के एक तन्तु में नारि, गया बँध मत्त गयन्द कुमार!"

नारी की यह रस-मूर्ति कवि को सृष्टि के नाभि-पद्म पर मिली है, 'सृष्टि के नाभि पद्म पर नारि, तुम्हारी मिली मधुर रस-मूर्त्ति!' नारी की इस चिरंतन भावना को लेकर प्राचीन काल से आज तक एक से एक अनुपम लीलाएँ घटित हुई हैं। इसी शक्ति के संकेत से शत्रु के चाप टूटने लगे, गांडीव लक्ष्य बेधने चले, फरहाद अपना हृदय चीरने लगे और ऋषिगण अपने जीवन की अर्जित सारी तपस्या को एक मुस्कान पर भेंट करने लगे। पुरुष युग-युग से निहारते रहने पर भी नारी की मोहिनी शक्ति का रहस्य नहीं जान सका है:—

> "पुरुष पँखुरी को रहा निहार, अयुत जन्मों से छवि पर भूल
> आज तक जान न पाया नारि! मोहिनी, इस माया का मूल!"

पुरुष के अंदर का प्रेमी कभी मरता नहीं। रसराज की सुनहरी छाया छोड़ने का किसका जी चाहता। शैशव की प्रसुप्त काम भावना किशोरावस्था में नव-नव छंदों में अभिव्यक्त होने के लिए मचल पड़ती है। सृष्टि के क्रम को संरक्षित और संवर्द्धित करने के लिए सृजन व्यापार का जारी रहना अनिवार्य है। 'एक' से 'बहु' होने की कामना आदि पुरुष की अनादि भावना है। संसृति में सृजन-व्यापार का कार्य संचालित रखने के लिए ही जीव-जीव में आकर्षण और सम्मिलन की प्रवृत्ति वर्त्तमान है। पुरुष और नारी के परस्पर आकर्षण के मूल में यही सृजन - प्रजनन और सम्वर्द्धन की भावना काम करती है। जिस युवती में प्रजनन की जितनी निधि शक्ति निहित रहेगी वह उतनी आकर्षक समझी जायगी। इसलिए 'पुरुष' की दृष्टि में प्रमत्त यौवन ही मादक सौन्दर्य है। जहाँ अपनी काम-भावना, सृजन-प्रवेग को सन्तुष्टि मिलती है वहाँ आकर्षित होना स्वाभाविक है। इस आकर्षण को सौन्दर्य और इस क्रिया व्यापार को प्रायः हम प्रेम कहते हैं। युवक युवती का परस्पर आकर्षण सृजन–प्रवेग काम को उभारता है। जिस दिन यह आकर्षण विनष्ट हो जायगा, सृष्टि का व्यापार भी उसी दिन समाप्त हुआ समझिये।

पुरुष नारी के इस प्रेमिका रूप के पीछे पागल हो जाता है। यह प्रेम–भावना इतनी शक्तिमती तीव्रतम होती है कि यह प्रेमियों को यथार्थ जगत से तुरन्त ऊपर उठाकर कल्पना लोक में पहुँचा देती है। कल्पना और सौन्दर्य के कारण भाषा में काव्यात्मक छटा उत्पन्न होती है। इसलिए अधिकांश प्रेमी कवि हुआ करते हैं और अधिकांश कवि प्रेमी-काम भावना बाल्यावस्था में अपना शारीरिक प्रदर्शन नहीं करती लेकिन मनो लोक को वह काफी तरंगित करती रहती है। यही कारण है कि बालक और किशोर कल्पनाजगत् में, दिवा स्वप्न में, तैरते रहते हैं। 'कवि' 'पुरुष-प्रिया' 'नारी' आदि कविताओं में कल्पना, सौन्दर्य और प्रणय-भावना का मधुर सम्मिश्रण है। 'पुरुष-प्रिया' में पुरुष और नारी के प्रथम दर्शन, आकर्षण संभाषण और सम्मोहन का सुंदर वर्णन है।

"तुम नई किरण-सी लगीं, मुझे सहसा अभाव का ध्यान हुआ
जिस दिन देखा यह हरित स्रोत अपने ऊसर का ज्ञान हुआ।'

नारी के सम्पर्क से ही पुरुष के उपचेतन में मँडराने वाली भावना सचेतन होकर ऊपरी सतह पर आती है। हरियाली को देखते ही अपने ऊसर का उदासीपन काटने दौड़ता है। 'प्रियतम' मात्र सुनते ही धनुष-बाण गिर पड़ते हैं; यौवन का अंग-अंग सिहर उठता है। 'प्रिया' शब्द प्रियतम के कानों में रस घोल देता है :—

"दो वर्ण, प्रिये, यह मधुर नाम रसना की प्रथम ऋचा निर्मल
कल्पित हृदय की प्रथम वीचि, सुरसरि का बिन्दु प्रथम उज्जवल"

'अगरुधूम' में ऐन्द्रिक वासनाविहीन प्रेम का वर्णन है। नारी के निर्मल हृदय में उठने वाले सात्विक प्रेम की स्निग्ध, शुचि सुरभि ही अगरु-अंधकार का प्रतीक है। भोली प्रेमिका प्रेम के इस झिलमिल आलोक में सकपका जाती है। हृदय में उठने वाली प्रणय भावनाओं के धूमोपम उच्छ्वास की रहस्यमयता को वह एकाएक नहीं समझ पाती। उससे गुनगुनी अनुभूति होती है लेकिन वह गुनगुना कर उसे अभिव्यक्त नहीं कर पाती। प्रेम भगवान बुद्ध के समान निर्मल, भव्य और प्रशांत है। प्रेम आकाश के समान व्यापक होकर व्यक्ति के कण-कण में समाया हुआ है :—

"नभ सदृश चतुर्दिक तुम्हें घेर, छा रहे प्रेम प्रभु निराकार
मैं समझ न पाई गूढ़ भेद, भर गया अगरु का अंधकार"

नारी के कर कमल में कवि ने 'माँ की ममता' 'तरुणी का व्रत' और भगिनी के मधुर प्यार की त्रिवर्तिक आरती सजा दी है। प्रेम के स्पर्श से नारी के अंतर का कंचन चमक उठा, 'जल गया मैल झर गई धूल।' 'अगरु धूम' की नारी आरती की तरह स्वयं जल जल कर औरों को स्निग्ध प्रकाश पहुँचाती रहती है।

'मानवती' के प्रणय के प्रसंग में प्रथम मिलन और मान मनौवल का चित्र अच्छा उतरा है। शृंगार के उद्दीपन विभाग का संश्लिष्ट चित्र खड़ा करके कवि ने अपना प्रणय-निवेदन इस प्रकार किया है :—

"रानी, आधी रात गई है, घर है बंद, दीप जलता है;
ऐसे समय रूठना प्यारी का प्रिय के मन को खलता है।
......जीवन के दिन चार, अवधि उसमें भी अल्प जवानी की
उस पर भी कितनी छोटी निशि होती प्रणय कहानी की
हम दोनों की प्रथम रात यह, आज करो मत मान प्रिये!
मिट न सकेगी कसक कभी, यदि यों ही हुआ विहान प्रिये!"

आधी रात,घर की किवाड़ें बंद, दीप का मंद-मंद जलना और ऐसे समय प्यारी का रूठना किस प्रेमी के मन को नहीं खलेगा। इसके बाद कवि ने जवानी की अल्पतम अवधि की ओर बड़े कौशल से, एक क्रम से, ध्यान आकृष्ट किया है। जवानी के धूम-धड़ाके के बीच प्रणय-कहानी की मीठी रात और कितनी कम होती है! ऐसे 'अनमोल क्षणों' को व्यर्थ क्यों बिताएँ? सचमुच, यदि यों ही हुआ विहान, तो यह कसक कभी न मिट सकेगी।

दिनकर ने प्रेमी-हृदय की कसक और बेचैनी को खूब समझा है।

अपने प्रेमी की बाँह पर प्रेमिका सिर धर कर सोई हुई है, प्रेमी हौले-हौले बिजन डुला रहा है और अपने 'चाँद' को एकटक निहार रहा है;—प्रणय जीवन की यह मनोरम झाँकी कवि के नयनों में झूलती रहती है। पिय की बाँह मिल गई, प्रेमिका सब कुछ पा गई।

"जलती हुई धूप है तो आँगन में वट की छाँह सखी!
व्यजन करूँ, सोओ सिर के नीचे ले मेरी बाँह सखी!
जरा पैठ मेरे अंतर में सुनो प्रणय-गुञ्जार सखी!
देखो, मनमें रचा तुम्हारे हित कैसा संसार सखी!"

अन्यत्र भी कवि ने इस झाँकी [पावस हो पिय की बाँह रहे] की याद दिलाई है। निर्धन कवि अपनी सखी को सिवा प्यार के और क्या दे सकता है।

"नयन मूंद उर से चिपका लेता, आखिर लाचार सखी!"

मानवती नायिका प्राचीन काल से ही कवियों को बड़ी आकर्षक लगती आई है। रूठी हुई प्रेमिका को मना लेने में प्रेमी को ब्रह्मानन्द-सहोदर की प्राप्ति होती है। इस नए जमाने में देवियों की बन आई है। मान करना आत्महीनता का सबूत है,—ऐसा समझकर अगर कहीं वे इस पुराने ढंग को छोड़ बैठीं तो माननीय पतिदेवों को ही शायद मानिनी पार्ट भी......!!

'बालिका से वधू' दिनकर की प्रसिद्ध कविताओं में से एक है। इसके काव्य-सौन्दर्य की चर्चा अन्यत्र हो चुकी है। इस कविता के एक पद पर यह आक्षेप किया जाता है कि कवि को भारतीय रमणी-हृदय का तनिक भी ज्ञान नहीं। वह पद है:—

"भींग रहा मीठी उमंग से दिल का कोना-कोना
भीतर-भीतर हँसी देख लो बाहर-बाहर रोना।"

ग्रामबाला ससुराल जाते समय जो रोती-धोती है वह बिलकुल बाहरी है, दिखाऊ है। वास्तव में उसका हृदय प्राणपति के मधुर मिलन की कल्पना से इतराता रहता है। तो क्या ग्राम कन्याएँ ससुराल जाते समय अपने माँ-बाप और सखी सहेली के वियोग में तनिक भी भीतर मन से नहीं रोतीं? यदि यह सच है, तब तो, स्वजनों से बिछुड़ते समय 'बाहर-बाहर' रोने वाली ग्राम कन्याएँ हृदयहीना हैं, स्वार्थिनी हैं। यदि यह मिथ्या है, तब कवि ने ग्रामबालाओं की कोमल भावनाओं के साथ घोर अन्याय किया है। मेरे मत से सचाई इन दोनों के बीच है। मानस की स्थिर दशा सदा एक-सी नहीं बनी रहती। विरहिणी जिस क्षण

प्रियतम के वियोग में आँसू बहाती है, दूसरे ही क्षण वह उसके संयोग-सुख की याद में आनन्द विह्वल भी हो सकती है। शकुन्तला के हृदय में सखियों से बिछुड़ने का दुख है तो दुष्यंत से मिलने की उमङ्ग भी होगी। वधू के कोमल मन में प्रिय समागम-सुख की कल्पना जब तब उठती ही रहती है। दिनकर ने उक्त पंक्तियों में वधू के उपचेतन मन की दबी हुई मीठी उमंग का वर्णन किया है। एक बात और हो सकती है। ससुराल जाते समय कन्याओं का हर आँगन में जाकर गले-गले मिलकर रोना गाँव की पुरानी परिपाटी-सी हो गई है। रोने की इच्छा नहीं रहने पर भी यदि सामने कोई सखी-सहेली मिल गई तो बेचारी को रोना ही पड़ता है। नहीं रोने से शिकायत है। परम्परा-पालन के लिए आँसू बहाना तो निश्चय ही *'बाहर बाहर' रोना है। पढ़ी-लिखी लड़कियाँ विदा होते समय अपने 'कोटा' से अधिक रोने की प्रथा को छोड़ रही हैं। हाँ, जो स्वाभाविक आँसू हैं, वे बरबस ढुलक ही पड़ते हैं। [यहाँ, तर्क द्वारा उक्त आक्षेप के खंडन का प्रयास भर किया गया है; हृदय से मैं उस आक्षेप का समर्थन करता हूँ।]

'नारी' में लज्जाशीला ग्राम कुलवधू का चित्र है। उसकी अंतःकली शीतल तम की छाया में खिली है। वह दिन की खुली धूप को भी सुख से नहीं देख सकती। वह युगों से प्रकाश वंचिता है। वह गाड़ी के एक कोने में गठरी-सी सिमटी हुई बैठी है। कोई अंग कोई नहीं देख ले, इसलिए वह बड़ी सावधानी से अपने हाथ पैरों की उँगली को भी छिपाए हुए है :—

"लज्जाशील, सजीव धर्म की एक मूर्त्ति सकुचाती,
बैठी है गाड़ी के कोने में सिमटी गठरी-सी।
बड़ी सावधानी से अपने को हर तरह छिपाये,
तन को, मन को और हाथ-पैरों की उँगली को भी।
उसकी अंतःकली खिली शीतल तम की छाया में,
नहीं देख सकती वह दिन की खुली धूप को सुख से।"

इस शंकिता मृगी को, सिकुड़ी-सिमटी कुल वधू को देखकर कवि का मन उबल पड़ता है :—

---

* इस सिलसिले में अपने प्रांत के भिन्न भिन्न भागों में फैली हुई ग्रामीण लोकोक्तियों पर भी ध्यान देना चाहिये :—

१—धिया सुनलक सासुरक नाँव, धूम ऐलीधिया सौं से गाँव।
२—धिया सासुर जाली, मने मने गाजेली।
३—जों जों धिया हकरलजाय, तों तों जमैया विहसल जाय।

"पहन नील किर्मीर वसन, तितली से पंख लगाये
उर-गृह से बाहर आकर तुम किसको ढूँढ रही हो !
भ्रू की रेखा सजा, राग से रँग कपोल अधरों को,
मुकुर देख खिलखिला रही हो किस आसन्न विजय से ?
निरावरण उद्दाम किरण-सी खिलती और मचलती,
आज दीखती नहीं समाती हुई आप अपने में।"

पंत ने 'मानसी' में आधुनिका का यह चित्र उपस्थित किया है :—

"रूप-शिखा आधुनिका !
फूलों की तन-सुवास, लहरों का चरण-लास,
शशि का मधु सुधा हास, विद्युत् का भ्रू-विलास

रूप शिखा !

भाल पर न बेंदि सुघर, माँग में न सेंदुर वर,
रँगतीं हम मधुर अधर, भ्रू धनु में कज्जल भर !

रूप शिखा !

छूटी पट की संस्कृति, हृदय रहित मधुराकृति,
दे रहीं प्रगति को गति, हम नव युग की भारति,

रूप शिखा !

यह तो पन्त की रूप शिखा आधुनिका हुई अब उनकी प्रीति शिखा की भी एक झाँकी लीजिए :—

"हम प्रीति शिखा अति आधुनिका !
हम रे गोरी भोरी परियाँ, हम अस्ताचल की अप्सरियाँ
मधु मुखर प्रणय की निर्झरियाँ, हम नवयुग-ज्योति उजागरियाँ,

हम प्रीति शिखा !

हम पढ़ी लिखी नव नागरियाँ, गोरस न, सुरा की गागरियाँ,
हम नहीं गृहों की चाकरियाँ, हम नृत्य-निपुण गुण आगरियाँ,

हम प्रीति शिखा !

अंगों पर देतीं विरल वसन, जिससे विमुक्त निखरे यौवन,
हम तोड़ प्रणय के कटु बंधन, मोहित करतीं जन-जन के मन,

हम प्रीति शिखा !

तन पर न हमारे अवगुंठन, धर हाथ पकड़ लेतीं हम मन
मिलतीं सबसे खुल के गोपन क्या हम आदर्श नहीं जीवन ?

हम प्रीति शिखा !"

पंत ने रूप-भंगिमा पर और दिनकर ने आधुनिका की भाव-भंगिमा पर अधिक ध्यान दिया है :—

"दाँतों तले अधर को दावे, कसे उबलते मन को,
चलती हो ऐसी कि, देखतीं ही ज्यों नहीं किसी को।
लेकिन सबको बचा काम करने वाले वे लोचन
कहते हैं, तुम विन देखे देखा करती वहुतों को।"

उपर्युक्त पद की प्रथम पंक्ति में प्रमद यौवनोद्दाम रमणी की कामोन्मत्त छवि का अंकन किया गया है। 'कसे उबलते' का व्यंग्य बड़ा गूढ़ हुआ है। अंतिम पंक्ति में—कारण की अनुपस्थिति में कार्य का घटित होना—विशेषोक्ति अलंकार का सुंदर उदाहरण ‿ाप ही उतर आया है। बिहारी सदियों पहले तिय की इस कमनैती पर मुग्ध हो चुके हैं।

"तुम्हें ध्यान रहता कि पीठ सहलातीं कितनी आँखें,
बँधे चले आते कितने मन छलकी हुई लटों से।
मनः स्पर्श करती वहुतों का बल खाती चलती हो,
गिनती हो मन-ही-मन, लोहू काँप गया कितने का?"

चार नहीं होने के कारण आँखें आधुनिका नायिका की पीठ सहलाती हैं। पीठ सहलाने में प्रत्यक्ष कार्य व्यापार के साथ मुहावरे की बंदिश भी खूब फवी है! जूड़े बाँधने वाली नायिका प्रेमियों के मन भी बाँध लेती है—यह संभव है; क्योंकि बाँधने का कार्य कुछ तो चल रहा है। लेकिन, यहाँ तो, छलकी हुई लटें—जो स्वयं बिखरी हुई, तितर-बितर हैं—कितने मनों को बाँधती चलती हैं। बलखाती चलती आधुनिका को देखकर कितने का लोहू काँप गया! लालसा-लहर-सी जब वह बगल से गुजरती है तो 'मन मेरा रंग गया, गंध से मंद पवन भी महँका।' आधुनिका के मादक रूप का वर्णन करने के बाद कवि उसके अंदर बसने वाली दिव्य नारी का मुरझाया रूप देख कर आहें भरते हैं। पुरुष अपने हृदय पर नारी के नयन से वज्र लेख लिखाना चाहता है; क्षणिक वासनात्मक चल जल-रेखा नहीं :—

"वज्र लेख यह नहीं सुंदरी जिस पर गर्व करो तुम,
आती और चली जाती हो जल पर की रेखा-सी।
...पुरुष वज्र लेखन का भूखा, सो वह लिखने वाली
सात पत्थरों के नीचे है दबी अभी तक तुम में।
मृषा रभस के कोलाहल से प्राण विकल हैं उसके;
सार हीन चुम्बन से उसका दम घुटता जाता है।

कौतुक हास-विलास-रभस की अयि सजीव प्रतिमाओ !
देखो निज में झाँक कभी उस म्लान मुखी नारी को ।"

'आधुनिका' का वर्णन भी यदि 'निरुद्देश्य प्रसन्नता' से किया जाता और इसमें 'किसी निश्चित संदेश का अभाव सा' रहता तो कितना अच्छा होता ।

'कालिदास' रसवन्ती की सुंदर कविताओं में से एक है । समय-सिन्धु में, विक्रमादित्य के हर्म्य, मुकुट, राजवैभव सभी डूब गए लेकिन कालिदास के गीत युग-युग गुंजरित होते रहेंगे । विक्रम के शिलालेख पुराने पड़ गए, लोग पढ़ नहीं पाते; लेकिन शकुन्तला के कमल पर लिखे हुए पद आज भी अपने मालूम होते हैं । कवि के ये गीत काल की प्रखर धारा पर आरती की तरह बहते चले आरहे हैं :—

"काल-स्रोत पर नीराजन-सम ये चलते आये हैं ।
दिनमणि बुझे बुझे विधु, पर ये दीप न बुझ पाये हैं ।
कवे ! तुम्हारे चित्रालय के रंग अभी हैं गीले,
कली कली है, फूल फूल, फल ताजे और रसीले ।"

ब्रह्मा की रची हुई सुन्दरियाँ मुरझा जाती हैं, मर जाती हैं; लेकिन कवि की सिरजी हुई रूप-किशोरियाँ शाश्वत सौन्दर्य से पुलकित हैं । ये कुमारियाँ प्रियतम के स्पर्श-मात्र से 'नारीत्व' प्राप्त कर लेती हैं :—

"प्रथम स्पर्श से झंकृत होतीं वेपृथुमती कुमारी,
एक मधुर चुम्बन से ही खिल कर हो जाती नारी ।'

कालिदास की सुंदरियों के रणित नूपुर से किसका रुधिर नहीं काँप उठता:—

"कम्पित रुधिर।थिरकता किसका नहीं रणित नूपुर में ?
मिलन कल्पना से न दौड़ जाती विद्युत किस उर में ?
गीत लिखे होंगे कवि गुरु ! तुमने तो अपने मन के,
झंकृत क्यों होते हैं स्वर इनमें त्रिकाल, त्रिभुवन के ?'

——:——

धूप-छाँह

धूप-छाँह की कुल सोलह कविताओं में छः मौलिक, दो अभिप्रेरित और शेष अनूदित हैं। 'शक्ति या सौन्दर्य', 'बल या विवेक', 'कैंची और तलवार', भारतेन्दु स्मृति' 'पुस्तकालय' एवं 'कलम और तलवार' मौलिक हैं। 'कवि का मित्र' और 'पानी की चाल' अभिप्रेरित हैं। अनूदित कविताओं में चार बँगला और चार अंग्रेजी से आई हैं।

"धूप-छाँह में धूप कम और छाया अधिक है।"

धूप में दिनकर और छाया में अन्यान्य कवि दीखते हैं। दिनकर की छः मौलिक रचनाओं में तीन तलवार के जौहर दिखाती हैं और शेष शूरता एवं देश-भक्ति के पाठ पढ़ाती हैं। राष्ट्रीयता की तीखी-मीठी धूप छहो कविताओं में चमक रही है। 'नींद' 'पर-भिक्षा', 'बच्चे का तकिया' 'तन्तुवाय' आदि कविताओं में छाया की शीतलता है।

सुकुमारमति बालक शौर्य और स्नेह की धूप-छाँह में खेलना पसन्द करते हैं। दिनकर की कला छाँह छूने से डरती है। इनका कड़ा व्यक्तित्व मुलायम होना नहीं जानता। रवीन्द्रनाथ और हरिऔध की लेखनी बच्चों की कविता लिखते समय भोली बच्ची बन जाती है। कला की इस नमनीयता का दिनकर में अभाव-सा है।

'शक्ति या सौन्दर्य' में नये फैशन की तड़क-भड़क का फीकापन दिखलाकर स्वस्थ शरीर के सौन्दर्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। क्रीम, स्नो, पाउडर, आदि से चेहरे को खूबसूरत बनाना नकली रूप है। धँसी आँखें, पिचके गाल, निस्तेज मुख-मण्डल को सजाकर क्या होगा ? दो में से आप क्या चाहते ?

"पुष्ट देह, बलवान भुजाएँ, रूखा चेहरा, लाल मगर,
यह लोगे ? या लोगे पिचके गाल, सँवारी माँग सुघर।"

जिन्दगी की फुलवारी में कागज के फूल नहीं बलवान बबूल चाहियेः—

"जीवन का वन नहीं सजा जाता कागज के फूलों से,
अच्छा है, दो पाट इसे जीवित बलवान बबूलों से।"

अन्त में शक्ति और सौन्दर्य का अन्तर बताते हुए यह निष्कर्ष निकाला गया हैः—

"है सौन्दर्य शक्ति का अनुचर, जो है बली वही, सुन्दर
सुन्दरता निःसार वस्तु है, हो न साथ में शक्ति अगर।"

'बल या विवेक' में दो राजपूत सैनिकों की कहानी द्वारा विवेक को कायरों की चीज और बल को वीरों का शृंगार कहा गया है। दो बहादुर घुड़सवार किसी बादशाह के यह पूछने पर कि तुम्हारी मर्दानगी का क्या प्रमाण है—आपस में तलवार खींच कर भिड़ जाते हैं, एक दूसरे की गर्दन पर वार करते हैं और वहीं कटकर ढेर हो जाते हैं :—

"दोनों कट कर ढेर हो गये, अश्व गये रह खाली।
बादशाह ने चीख मार कर अपनी आँख छिपा ली।"

इस प्रकार की कुर्बानी को आजकल के बुद्धिमान पागलपन कहना चाहें तो कह लें लेकिन;—

"मैं कहता हूँ बुद्धि भीरु है, बलि से घबराती है,
मगर वीरता में गरदन ऐसे ही दी जाती है।
सिर का मोल किया करते हैं, जहाँ चतुर नर ज्ञानी,
वहाँ नहीं गरदन चढ़ती है, वहाँ नहीं कुर्बानी।"

'कलम और तलवार' में दोनों की विशेषताएँ दिखाते हुए कवि ने हृदय की चिनगारी का मोल बताया है। कलम देश की बड़ी शक्ति है; वह दिल ही नहीं दिमाग में भी आग लगाने वाली है। लेकिन, हिंस्र जीव से बचने के लिए हाथों में तलवार चाहिये। फिर भी कलम और तलवार में एक भेद है :—

"एक भेद है और जहाँ निर्भय होते नर-नारी
कलम उगलती आग, जहाँ अक्षर बनते चिनगारी।
जहाँ मनुष्यों के भीतर हरदम जलते हैं शोले,
बादों में बिजली होती, होते दिमाग में गोले।
जहाँ लोग पालते लहू में हालाहल की धार,
क्या चिन्ता यदि वहाँ हाथ में हुई नहीं तलवार ?"

'भारतेन्दु-स्मृति' में कवि ने बच्चों को भारतेन्दु के समान देशभक्त होने का उपदेश किया है। 'पुस्तकालय' में सृष्टि के क्रमिक विकास का जिक्र करते हुए छापे की कल की चर्चा की गई है। पुस्तकालय में कबीर, सूर, तुलसी आदि अब भी गा रहे हैं :—

"ओ देखो अब तक कबीर जी कपड़े बुनते जाते हैं,
करघे पर है हाथ, मगर मन में हरि का गुण गाते हैं।
सूरदास जी की आँखों से अश्रु अभी तक जारी हैं,
गोपीगण से पूछ रहे हैं, मेरा कहाँ मुरारी है।"

इस कविता में महाकवियों की झाँकी बड़ी सुन्दर उतरी है। बच्चों के अनुकूल छोटे छंद, भोले भाव और मुलायम पद खूब फबते हैं। ऐसा लगता है, कवि बच्चों के साथ झूम-झूम कर पोथी पढ़ रहे हैं। राष्ट्रीयता का उपदेश दिए बिना कविता का अन्त हो जाय, यह दिनकर के वश के बाहर की बात है;-- 'मुकुटों से भी कभी मान बढ़ जाता है जंजीरों का।' 'पुस्तकाकय' से बाहर निकलते कवि जयचन्दों को थूकते गए हैं। इस थू थू के कुहरे में कबीर, सूर, तुलसी सबके सब ओझल हो जाते हैं। कविता समाप्त करते समय बालक के कोमल मुख पर घृणा की सिकुड़न दिखाई देती है। जहाँ-तहाँ राष्ट्रीयता के टाँग अड़ाने से बच्चे लुढ़क जाते हैं।

'कैंची और तलवार' के अतिरिक्त शेष मौलिक कविताओं में स्कूल-शिक्षक की तरह उपदेश किया गया है। उपदेश के सिलसिले में विधि और निषेध की चर्चा होती है। निषेध की ओर बालकों का ध्यान अधिक दौड़ता है। 'अमुक बक्से को मत खोलना; बस, इस आज्ञा के बाद ही उधर झाँकने और उलट-पुलट करने की प्रवृत्ति जोर पकड़ती है। अनजान के प्रति उत्सुकता स्वाभाविक ही है। एक मनुष्य अपने जीवन की जानकारी अपने ही अनुभव से प्राप्त करना चाहता है, औरों के सिखाने-पढ़ाने से उसका मन नहीं भरता। यह बालक भी किसी चीज की बुराई या खोटेपन का स्वयं अनुभव करना चाहता है। 'प्रवेश-निषिद्ध वाले कमरे में प्रवेश करने की किसकी इच्छा नहीं होती। उपदेश के निषेधात्मक वाक्य निषिद्ध वस्तुओं के प्रति आकर्षण उत्पन्न करते हैं। बालकों में शौर्य और पराक्रम के भाव भरने के लिए उन्हें उपदेश की जगह उदाहरण सुनाना अधिक हितकर होगा। 'रौशनबेग की बहादुरी' उदाहरण द्वारा वीरता के भाव भरती है।

'कैंची और तलवार' धूप छाँह की मौलिक कविताओं में सर्वश्रेष्ठ है। इसमें विदेशी फैशन की नकल को गुलामी का चिह्न एवं स्वदेशी लिबास के अनुराग को आत्मगौरव और स्वातन्त्र्य का प्रतीक बताया गया है। अम्बर (जयपुर) के महाराज जयसिंह अपनी नव विवाहिता रानी (कोटा राज्य की राजकुमारी) हरावती के पुराने भद्दे लिबास को देखकर उदास रहा करते थे। उनकी इच्छा थी कि रानी हरावती भी और रानियों की तरह पुरानी भद्दी घँघरी-चोली को छोड़ कर दिल्ली के मुगल हरम के चटकीले फैशन को अपना लें। इसी उद्देश्य से एक दिन वे हरावती को प्रसन्न देखकर उसके निकट आए और अपनी जेब से कैंची निकाल कर बोले :—

> "अगर हुक्म हो, काट गिराऊँ यह कोटा का झूल,
> अम्बर का परिधान आज रानी जी करें कबूल।"

इतना सुनते ही रानी सिंहनी की तरह फुफकार उठी और अपनी कबरी से तेज कटार निकाल कर बोली:—

"सावधान हों महाराज, बोलें सम्हाल कर बोली,
कोटा की बेटी सह सकती ऐसी नहीं ठिठोली।
दिल्ली में बिकतीं जो पोशाकें इज्जत के मोल,
पहना करें उन्हें अम्बर के महाराज जी खोल।
नहीं चाहिये मुझे आपका यह अमूल्य परिधान,
कोटा की बेटियाँ पहनतीं हैं इज्जत सम्मान।
वह सम्मान गुँथा है इसके तार-तार के साथ,
खबरदार जो कभी लगाया फिर चादर पर हाथ!"

अन्त में राजा को वह व्यंग्य भरी चेतावनी देती हुई कहती है;

"याद रहे, रखते हैं जैसी कैंची राजकुमार,
उससे कहीं तेज चलती है कोटा की तलवार।"

इस कविता में स्वदेशी वेष-भूषा का उत्कट प्रेम अत्यन्त ओजस्विता के साथ चित्रित हुआ है। प्रवाह पूर्ण संवाद, नाटकीय भंगिमा, ओजस्वी शैली, चुभता हुआ व्यंग्य और चित्रोपम वर्णना इस कविता की प्रमुख विशेषताएँ है। केवल दो चित्र यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं।

"कोटा की सिंहनी बनी थीं नहीं, अभी तक मैना,
थी रखती नख तेज, न रँगने अभी लगी थी डैना।"
"अम्बर, जिसके राज महल में भरी हुई थी परियाँ
हाव-भाव में चटक-मटक में मँजी हुई सुन्दरियाँ।
सुघर वेश-विन्यास, अंग में छोटे-छोटे गहने।
नये रंग के कपड़े-लत्ते नये ढंग से पहने।
साड़ी ऐसी नपी तुली जो नहीं कहीं से ढीली,
केशों में न कटार, न तन पर चादर बनी फबीली।"

'कवि का मित्र' हमारे हृदय पर हास की एक रजत-रेखा हमेशा के लिए छोड़ जाता है है। इस मित्र में एक ऐसे चरित्र की उद्‌घाटना हुई है जिससे हम सब पूर्व परिचित है। कवि की तरह हम भी इस समय शोषक मित्र की व्यर्थ की बातचीत से घबराते हैं, झुँझलाते हैं, मन ही मन मनाते हैं कि मित्र महाराज कब यहां से अपनी तशरीफ ले जायँ। इस कविता में आंतरिक शील और वाह्य शिष्टाचार के मोटे द्वन्द्व का अच्छा चित्रण हुआ है।

कवि और मित्र दोनों पाठक के सामने हास्य के आलम्बन के रूप में

उपस्थित होते हैं। पढ़ने लिखने में बराबर बाधा पहुँचाने वाले मित्र से संत्रस्त कवि की 'दयनीय दशा' हमारे हृदय में सहानुभूति की जगह हास्य उत्पन्न करती है। हास्य के मूल में सहानुभूति की इस चित्त-दशा को हम सहसा पहचान नहीं पाते। बौने, कुबड़े, काने, आदि अनगढ़ व्यक्तियों को देखकर स्वभावतः हमारे हृदय में सहानुभूति उत्पन्न होती है। पहुँचे हुए महात्मा के हृदय में वह सहानुभूति करुणा के रूप में अवतरित होती है और साधारण जन के मन में हास्य के रूप में। दूसरे को विपन्नावस्था में देख कर यदि हम सर्वदा आँसू बहाते रहें तो हृदय करुणा की एकरसता से बोझिल हो जाय। सहानुभूति के व्यथा-भार से हृदय को उन्मुक्त करने के लिए प्रकृति ने हास्य का आविष्कार किया है। जायसी की कुरूपता पर किसी सुल्तान का हँसना अनैतिक भले हो अप्राकृतिक नहीं है। नारद मुनि की 'कपि-आकृति' पर शंभु-गणों को हँसने का अधिकार है। मुनि की 'दयनीय परिस्थिति' हास्य उत्पन्न करने में समर्थ होती है। कवि के अनमोल समय की हत्या होते देख हममें सहानुभूति की जगह यहाँ हास्य की उद्भूति होती है। बेढब कवि की इस दशा पर हँसी आती है :—

> "मेरी कुर्सी खींच, बैठकर पहुत पूछता हाल,
>
> (कह दूँ ? आहट सुनी तुम्हारी और हुआ बेहाल)"

अपने प्राकृतिक जगत् में हम क्रम या शृंखला देखने के आदी हो गए हैं। प्राकृतिक क्रम में जहाँ त्रुटि या विपर्यय दीख पड़ता है, वहाँ अस्वाभाविकता या असंगति के कारण हास्य की उत्पत्ति होती है। पूँछ में लगाम लगाए हुए उल्टे घुड़सवार को देखकर हमें हँसी आती है। यदि किसी आदमी की नाक उसकी असली जगह से हटाकर दो इंच ऊपर कपाल में फिट कर दी जाय तो वह सूरत हास्य पैदा करेगी ही। गणनायक गणेश जी की लोकप्रियता का एक कारण 'करिवर-वदन' भी है। क्रम में विशृंखलता देखकर व्यक्ति का मन हठात् कोई तर्क संगत व्याख्या करने में असमर्थ हो जाता है। यही असमर्थ मन हास्य के रूप में प्रकट होता है। यदि कोई उसे हास्य की परिस्थिति और कारणों से अवगत करा दे तो तत्काल हास्य की निवृत्ति हो जायगी। कवि के मित्र में मैत्री की परम्परा-गत भावना का क्रम विपरीत रूप में प्रकट होता है। कवि के इस उदार मित्र में कवि का विरोधी धर्म वर्त्तमान है। कवि एकांत प्रिय, काल्पनिक और भावना प्रधान व्यक्ति होता है, इसके विपरीत यह मित्र बकवास-प्रिय; समय शोषक और चंचल है। कवि का चित्त कोमल, संवेदनशील और क्षुब्ध है, इसके विपरीत मित्र का चित्त भोथा, गाढ़ा और पत्थर है। कवि के लाख छटपटाने पर भी यह उसे छोड़नेवाला नहीं। यहाँ हमें मैत्री की परम्परित भावना का विकलांग रूप देखकर

हँसी आती है। मित्र वही है जो अपने मित्र की सुविधा का ख्याल करे, यहाँ कवि का मित्र उसकी असुविधा का विशेष ख्याल करता है। परम्परा का प्रतिलोभ हास्य भावना को परिपुष्टता प्रदान करता है। सिपाही की वर्दी पहने यदि कोई चुहिया से डरता हुआ दिखाया जाय तो बरबस हँसी फूट पड़ेगी। बर्नार्ड शॉ ने 'आर्म्स एंड दि मैन' में सैनिक की परम्परागत भावना का नकाब उठाकर उसका सामान्य भीरु रूप दिखाते हुए हास को तरंगित किया है। मित्र के पैरों की आहट सुनकर कवि को आनन्द की जगह संत्रस्तता का भाव घेर लेता है :—

आहट हुई, हुई फिर कोई है, की वही पुकार
कुशल करें भगवान कि आया फिर वह मित्र उदार
चरणों की आहट तक मैं हूँ खूब गया पहचान,
सुनकर जिसे काँपने लगते थर-थर मेरे प्राण।"

हास्य की उत्पत्ति के लिए कवि ने अतिरंजना का सफल प्रयोग किया है। पाला पड़ने पर यमदूतों से भी मोर्चा लेनेवाला कवि अपने मित्र की पग-ध्वनि सुनकर कंपित हो जाता है :—

"मैं न डरूँगा पड़े अगर यमदूतों से भी काम,
मगर, दूर से ही करता हूँ श्रद्धा सहित प्रणाम
उन्हें, नहीं आकर जो फिर लेते जाने का नाम।"

कवि का मित्र एक स्थल पर स्वयं अपने कथन के विपरीत आचरण द्वारा हास्य का स्फुरण करता है। मित्र का यह कथन यदि किसी दूसरे पात्र के मुख में रख दिया जाय तो हास का सारा मजा फीका पड़ जायगा। गुरुजनों के मुख से उपदेश सुनने में कोई वैचित्र्य नहीं, लेकिन जहाँ उपदेशकर्त्ता स्वयं अपने सिद्धान्तों का संहर्त्ता हो जाय वहाँ कार्य वैपरित्य के कारण हास्य की उद्भावना होगी। कवि का मित्र स्वयं कवि के अनमोल समय को नष्ट कर रहा है लेकिन उपदेश करने से बाज नहीं आता :—

"यही नहीं, अनमोल समय की मुझे दिलाकर याद
कहता, 'तुम गप्पों में करते बहुत वक्त बर्बाद।
जब देखो तब मित्र पड़े हैं डटकर आठों याम।
इस प्रकार कब तक चल सकता है लेखक का काम!
आशा कितनी बड़ी लगा तुमसे बैठा है देश,
और इधर तुम बकवासों में समय रहे कर शेष।"

कभी-कभी सामान्य वस्तु में उसके विपरीत गुण की संस्थापना करने से हास का प्रादुर्भाव होता है। चूहे को वीर सिकन्दर के रूप में चित्रित करने से इसी प्रकार का हास उत्पन्न होगा। वीरता का नकाब पहने हुए नकली वीर हास

का सुन्दर आलम्बन बन जाता है। उसके नकाब की जालियाँ इतनी झीनी होती हैं कि उसके अन्दर से असलियत झाँकती रहती है। इस प्रकार के हास की व्यंजना 'कृत्रिम-शूर-शैली' द्वारा की जाती है। कवि का मित्र कवि की विभिन्न मुख-मुद्रा को देखकर कभी अधीर नहीं होता। गप्प के अखाड़े में वह प्रशांत सागर की धीरता और हिमालय की दृढ़ता के साथ अडिग रहता है :—

"चाहे जितना सिर खुजलाऊँ, मुद्रा करूँ मलीन,
कलम पकड़, सिर थाम, कल्पना में हो जाऊँ लीन।
चाहे जितने करूँ नाट्य, पर कभी न डिगता वीर,
किसी तरह की मुद्रा से होता है नहीं अधीर।"

'कभी न डिगता वीर' और 'होता है नहीं अधीर' में 'कृत्रिम शूर शैली' का प्रयोग किया गया है। गप्प से ऊबे हुए व्यक्ति का उपर्युक्त अनुभावों में सुन्दर चित्र खींचा गया है।

कवि ने अपने मित्र पर एकाध बार व्यंग्य भी किया है। व्यंग्य की उक्ति तीखी, कटु और चुभती हुई होती है। व्यंग्य अपने अपने अनियारे बाण से शिकार को पल भर घायल कर निकल जाता है। वह एक मन्द मुस्कान के साथ मर्माहत शिकार की बेचैनी को निहारता है! 'आया फिर वह मित्र उदार' और 'श्रद्धा सहित प्रणाम' में विपरीत लक्षण द्वारा व्यंग्योक्ति की गई है।

इस कविता में दिनकर ने हास की उत्पत्ति के लिए एक विशेष प्रकार का कौशल अपनाया है। इसमें प्रारम्भ से अन्तिम क्षण के पूर्व तक मधुवेष्ठित बातें की जाती हैं; लेकिन बात समाप्त होते-होते अंत में एक डंक मार दी जाती है जिससे ऊपर की सारी मधु-मिश्री हलाहल हो जाती है। मानो, कमल का फूल फन फैलाकर फुफकार उठा हो। आखिरी बात ऊपर कही हुई सारी बातों पर पानी फेर देती है। इस प्रकार शैली द्वारा जिस हास की उत्पत्ति होती है उसे हम वृश्चिक-दंश-हास या गोमुख-व्याघ्र-हास की संज्ञा से अभिहित कर सकते हैं। बिच्छू की पूँछ में डंक होती है मुँह में नहीं, इसी प्रकार इस हास के अंतिम पद में दंशन है, शेष में नहीं :—

क—देता है उपदेश बहुत, देता है नूतन ज्ञान,
मेरी गन्दी रहन-सहन पर भी देता है ध्यान।
सब कुछ देना, एक नहीं देता अपने से त्राण।

ख—सब सिगरेट खत्म कर कहता एक और दो यार,
बक्से खोल, दराज खोलता रह-रह त्रिविध प्रकार।
एक नहीं खोलता कभी, बाहर जाने का द्वार।"

ग—"डिब्बा खोल, पान खा-खाकर करता है आराम,
तरह-तरह की बातें कहता ही रहता अविराम,
लेकिन कभी नहीं कहता, 'अच्छा; अब चला, प्रणाम।"

यह मित्र कवि को इतना प्यार करता है कि उसे छोड़कर बाहर जाना नहीं चाहता :—

"कहता, हाँ, तुम लिखो, इधर मैं बैठा हूँ चुपचाप,
मैं कहता मन-ही-मन, बाकी अभी बहुत हैं पाप,
लिखूँ खाक जब तक दिमाग पर चढ़े हुए हैं आप।"

अँग्रेजी कवि राबर्ट सदे की The Cataract of Lodore' के अनुकरण पर महाकवि अकबर ने 'रवानिए दरिया' की रचना की। 'पानी की चाल' 'रवानिए दरिया' के अनुकरण पर लिखी गई है। अकबर ने अपनी कविता के प्रारम्भ में सदे की इस प्रकार चर्चा की है :—

"व' सौदी सुखन गोय शीरीं मोकाल,
जो अंग्रेजी शायर था एक वा कमाल
लिखी उसने है नज्म एक लाजवाब,
दिखाई है शक्ले रवानिए आब।
जो बहता है पानी मेआने-लेडोर,
उसी का दिखाया है शायर ने जोर।"

'पानी की चाल' का भी प्रारम्भ इसी प्रकार होता है :—

'सदी नाम के अंग्रेजी कवि ने यह यश पाया है,
पानी का बहना कविता में जिन्दा दिखलाया है।"

अकबर ने प्रारम्भ में अपनी दिक्कतें दिखलाई हैं :—

"अजब है' नहीं उनकी इस पर नजर,
कुजा मैं कुजा सौदिए नामवर
...मेरे पास सरमाया काफी नहीं,
वह मसदर नहीं वह कवाफी नहीं
...अगर तर्जुमा हो तो मतलब हो खब्त,
मआनी में पैदा न हो रब्त-व-जब्त।"

दिनकर की भी कठिनाइयाँ हैं:—

"और आज है मुझे फिक्र यह' मैं भी कलम उठाऊँ,
हिन्दी की चोटी घाटी में दरिया एक बहाऊँ।
लेकिन कहाँ सदी औ, अकबर और कहाँ मैं पोला।
उस पर गजब, कला का अब तक चुस्त नहीं है चोला।"

...टेढ़ी-मेढ़ी चाल नदी की और राह में रोड़े,
विगड़ गयी तस्वीर कहीं तो पीठ गिनेगी कोड़े।"

अकबर की दरिया की रवानी इस पंक्ति से शुरू होती है :—

"जो थीं दिक्कतें कह चुका बरमला,गरज़ देखिये यह कि पानी चला।"

दिनकर ने भी कुछ इसी प्रकार का कहा है :—

"अच्छा, मेरी कठिनाई की पूरी हुई कहानी,
अब देखिये, चला चोटी से उछल-कूद कर पानी।"

सदे अकबर और दिनकर तीनों ने पानी की चाल का वर्णन किया है; लेकिन-मेरी दृष्टि में सबसे अधिक सफलता अकबर को मिली है। सदे ने अंग्रेजी शब्द कोप के सभी क्रियापदों को * ला भिड़ाया है। क्रियापदों की भीड़ में पाठक खो-सा जाता है। 'दि कैटरेक्ट आँव लोडोर' में शब्दों की टंकार सुनाई पड़ती है, अर्थों की झंकार नहीं। 'रवानिए दरिया' में टंकार और झंकार सम्मिलित रूप से सुनाई पड़ती है।

'पानी की चाल' में टंकार दबी-सी और झंकार उभरी-सी है। अकबर ने उर्दू में जिन क्रियापदों का प्रयोग किया है, वे आसानी से, विना किसी हिचकिचाहट के, हिन्दी में भी प्रयुक्त हो सकते हैं। ये क्रियाएं मूलतः संस्कृत की हैं जो बनती-बिगड़ती देशी भापाओं में चल फिर रही हैं 'पानी की चाल' में बहुत-सी सशक्त क्रियाओं का प्रयोग नहीं हो सका है। अकबर ने हिन्दी के क्रिया पदों का किस सुंदरता के साथ उर्दू-छंदों में प्रयोग किया है :—

"उछलता हुआ औ, उबलता हुआ, अकड़ता हुआ औ, मचलता हुआ
रवानी में एक शोर करता हुआ, रुकावट में एक जोर करता हुआ
पहाड़ों प' सर को पटकता हुआ, चटानों प' दामन झटकता हुआ
व' पहलू-ए-साहिल दबाता हुआ, यह सब्जे प' चादर बिछाता हुआ।"

---

*And shining and turning
And rattling and battling
And shaking and quaking
And pouring and roaring
...And glittering and frittering
And whitening and brightening
And quivering and shivering
And hurrying and skurrying
And thundering and floundering

दिनकर ने उपर्युक्त पंक्तियों के कुछ भावों को इस प्रकार अपनाया है :—

"उठता, गिरता, शोर मचाता पत्थर पर सिर धुनता
अपने ही गर्जन की चारों ओर प्रतिध्वनि सुनता।"

जहाँ अकबर ने 'पहाड़ों' 'चटानों' 'पटकता' 'फटकता' आदि में 'ट-ड' की आवृत्ति से पानी की चोट कानों तक पहुंचा दी है, वहाँ दिनकर ने 'पत्थर पर सिर धुनता में 'र' की आवृत्ति द्वारा पानी की चाल को लाचार कर दिया है। जल-धारा की विभिन्न भंगिमाओं का अकबर ने इस प्रकार चित्र खींचा है :—

"लिपटता हुआ और चिमटता हुआ, य' फटता हुआ व' सिमटता हुआ
य' घटता हुआ और व' बढ़ता हुआ, उतरता हुआ और चढ़ता हुआ
य' हटता हुआ और बचता हुआ, दबाता हुआ और लचकता हुआ।"

दिनकर के पानी का जोश सचमुच कुछ दबा हुआ-सा है—

"इस घाटी से अंग बचाता, उस घाटी से सटता,
फटता यहाँ, वहाँ सकुचाता, डरता, सिकुड़ सिमटता।

अकबर और दिनकर के भाव-साम्य के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

१. य' फूलों के गजरे बहाता हुआ, व' चक्कर में बजरे फँसाता हुआ
लपकता हुआ दनदनाता हुआ, उमड़ता हुआ सनसनाता हुआ।

—अक०

महाकाय जलयानों को भँवरों में घेर नचाता
बड़े-बड़े गजराजों को पत्ते कि तरह बहाता

दिन०

२. बिफरता हुआ जोश खाता हुआ,
बिगड़ कर व' क़फ मुँह प' लाता हुआ
व' ऊँचे सुरों में तमव्वुज का राग,
व' खुद जोश में आके लाना यह झाग

अक०—

हा हा करता, धूम मचाता, बल से अकड़ उबलता,
गर्जमान पागल-सा मुँह से रह-रह झाग उगलता

दिन०—

३. य' रूए ज़मीं को छिपाता हुआ,
व' खाकी को सीमीं बनाता हुआ।

अक०—

गली हुई चाँदी को दिन की आभा में चमकाता।

'पानी की चाल' में कुछ नई उपमाएँ भी प्रयुक्त हुई हैं जिनका श्रेय केवल दिनकर को है :—

"औढर दानी-सा नालों का घर बिन माँगे भरता,
और लुटेरे-सा किसान के हरे खजाने हरता।
टीलों पर चढ़ने को हठयोगी-सा धुनी रमाता,
और नीच-सा खाईं में गिर जाने को अकुलाता।"

अकबर ने 'जाता हुआ' 'उभरता हुआ' आदि ध्वनियों द्वारा सिमटते हुए पानी का जोर से फैलने का चित्र अंकित किया है। 'आकार' में पानी का लंबा फैलाव है। 'हुआ' के उकार में वह सिमटता है और आकार में बढ़कर फैलता है। राबर्ट सदे ने 'इंग' ध्वनियों द्वारा पानी का चमकता हुआ चित्र खींचा है। दिनकर ने पानी की विभिन्न ध्वनियों के लिए विभिन्न स्वरों का प्रयोग किया है। इनका ध्यान जल-धारा के भाव-सौन्दर्य पर अधिक टिकता नजर आता है, इसलिए ये जल के ध्वनि-सौन्दर्य को पूर्णतया बाँधने में असमर्थ रहे हैं।

मौलिक और अनुकरणमूलक कविताओं पर यत् किंचित प्रकाश डालने के बाद 'धूपछाँह' की अनूदित रचनाओं की थोड़ी बहुत चर्चा आवश्यक है। अनूदित कविताओं के भाव-सौन्दर्य तो मूल लेखक के होते हैं, हाँ, अनुवादकार उन्हें अपनी भाषा में किस प्रकार कितने अंशों में समाविष्ट कर सका यह द्रष्टव्य होता है। मैंने अधिकांश मूल रचनाओं को अनुवाद के साथ आमने-सामने रखकर पढ़ा है। दिनकर ने प्रायः मूल के प्रत्येक पद का भाव स्पष्टता और सरलता के साथ हिंदी में रूपांतरित किया है। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि कवि को अपनी मूल-भाषा की प्रतिभा का पूर्ण ज्ञान है; भाषा की व्यंजना-शक्ति की उन्हें अच्छी परख है। हिन्दीवाले अपने यहाँ इसे किस ढंग से प्रकाशित करते हैं — इस बात का ख्याल दिनकर ने अनुवाद करते समय बराबर रखा। मूल का शब्दशः अनुवाद करना असंभव ही नहीं पागलपन भी है। दिनकर के अनुवाद में स्वच्छन्दता से काम लिया है। स्वच्छंदता कभी उच्छृंखलता में न बदले—इस बात पर अनुवादक का सदा ध्यान रहा है।

'पुरातन भृत्य' और 'दो बिघा जमीन' रवीन्द्रनाथ की 'कथा व काहिनी' नामक पुस्तक से अनूदित हुई हैं। 'पुरातन भृत्य' में किस्टो नामक एक ऐसे नौकर का वर्णन है जो बेंत लगने पर, वेतन कटने पर भी अपने मालिक का साथ नहीं छोड़ता। मना करने पर भी वह अपने मालिक के साथ तीर्थयात्रा के लिए वृंदावन चला जाता है। मालिक को शीतला की गोदी निकल आती है; उसके सभी संगी साथी उसे छोड़ कर चले जाते हैं। लेकिन किस्टो दिन-रात मालिक के सिर-

बैठा सेवा करता है। मालिक के आराम होने पर स्वयं किस्टो उसी रोग से आक्रांत होता है और इस दुनिया से चल बसता है। मूल के साथ अनुवाद की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं।

—मूल—भूतेर मत चेहरा येमन, निर्बोध अति घोर,
या किछु हाराय, गिन्नि बोलेन' 'केस्टो वेटार चोर।'
अनु० भूतों-सा चेहरा काला है, वज्र मूर्ख अति घोर,
कुछ खोता तो गृहिणी कहती किसुना ही है चोर।

बंगाल का केष्टो विहार में किसुना हो गया है। निर्बोध का 'वज्रमूर्ख' अनुवाद सुन्दर और शक्तिशाली है।

२—घरेर कर्त्री रुक्ष मूर्ति बले आर पारि ना को,
रहिल तोमार ए घर दुआर केष्टारे लये था को।"
अनु० गृहिणी रूखी होकर कहती, 'और सहूँगी मैं न;
लो अपना घर द्वार, करो किसुना को लेकर चैन।"

'करो किसुना को लेकर चैन' हिन्दी के अपने मुहाविरे में बड़ा फिट हुआ है।

३- रेलगाड़ि धाय हेरि लाम हाय नामिया वर्धमाने
कृष्णकांत अति प्रशांत तामाक साजिया आने।
अनु०—लेकिन पहुँचा वर्दमान ज्यों गाड़ी-हित त्यों वाह!
देखा हुक्का लिये किसुन जी देख रहे हैं राह!

कृष्णकान्त से किसुनजी अधिक अच्छे लगते हैं। 'वाह' और 'देख रहे हैं राह' से परिस्थिति खिल उठी है।

४—कोथा व्रजबाला कोथा वनमाला, कोथा वनमाली हरि!
कोथा हा हन्त, चिर वसन्त, आमि वसन्ते मरि!
अनु०—पर कैसी व्रजबाला! माला कहाँ! कहाँ हरि हन्त!
चिर वसन्त वह कहाँ, हुआ मुझको ही यहाँ वसन्त!

अनुवाद में 'कैसी व्रजबाला' का कैसी-पन खटकता है। 'वन' के बिना माला निराधार झूलती है। इसकी जगह 'कहँ व्रजबाला, कहँ वनमाला, कहँ वनमाली हन्त' कहना मुझे अधिक अच्छा लगता है। 'निमेषे प्रानटा करिलो कंठ गत' का 'माथा झुका दिया उन सब ने किया कण्ठगत प्राण' अच्छा मुहावरेदार अनुवाद है।

'दो बिघा जमीन' में उपेन नामक एक भोले भाले किसान की दो बीघा जमीन एक जमींदार द्वारा फुलवारी बनाने के लिए झूठे मुकदमे में नीलाम कर छीन ली जाती है। गृह-विहीन उपेन वर्षों साधुवेश में तीर्थाटन करने के बाद एक दिन अपनी पुरानी कुटी में किसी दुपहरी को पदार्पण करता है। उस फुलवारी

में उसका लगाया हुआ एक पुराना आम का गाछ बच रहा था। वह उस वृक्ष के नीचे आँखों में आँसू भरे धरती माता का ध्यान कर रहा था कि ऊपर से दो आम के फल उसकी गोद में आ गिरे। वह इसे माता का प्रसाद समझकर प्रसन्नता से पाही रहा था कि रखवाला कहीं से यमदूत की तरह उस पर टूट पड़ा और गाली-मार देते हुए उसे मालिक के पास घसीट लाया। मालिक मित्रों के साथ बन्सी खेल रहे थे। वह इस साधु को चोर का काम करते देख बहुत बिगड़े।

१–मूल–शुधु विघे दुइ छिलो मोर भुइँ आर सवि गेछे ऋणे
वाबू वलिलेन, 'वुझे छो उपेन, ए जमि लइवे किने।
अनु०—ऋण में संपद गई, सिर्फ *दो विघा भूमि थी साथ,
बाबू बोले "इस बेच दो मँगरू मेरे हाथ।"

यहां भी उपेन को मँगरू का रूप धारण करना पड़ा है।

२ मूल—ये जगते हाय, सेइ वेशियाय, आछे यार भूरि-भूरि,
राजार हस्त कर समस्त काँगा लेर धन-चुरि।
अनु०—जग में जिसे बहुत है, उसको ही न कभी सन्तोष,
राजा का कर सदा चुराता कंगालों का कोष।

यहाँ अनुवाद में 'हाय' के अभाव से अनुभूति शिथिल पड़ गई है। 'कर' की जगह हाथ अच्छा रहता, क्योंकि इससे टैक्स को भ्रांति होती है। 'भूरि-भूरि' का 'बहुत' दुर्बल अनुवाद है।

३ मूल—सेइ मन पड़े ज्येष्ठेर झड़े रात्रे नाहिं को घूम
अति भोरे उठि, ताड़ाताड़ि छूटि, आम कुड़ावार धूम
अनु०—जेठ मास का झड़ो सुहावन, मैं निशि भर निर्धूम,
बड़े भोर दौड़ना बाग में आम चयन की धूम।

यहाँ 'निर्धूम' शुद्ध बंगला है जिसे हिन्दी में बरजोरी खपाने का प्रयास किया गया है। 'ताड़ाताड़ि छूटि' और 'आमकुड़ावार' का सौन्दर्य अनुवाद में नहीं आ सका है।

४ मूल—बाबू कहे हँसे, "बेटा साधु वेपे पाकाचोर अतिशय
अनु० बाबू बोले साधु बना फिरता है साला चोर

---

* 'यहाँ विघा' की जगह बीघा शुद्ध होगा। बीघा शब्द संस्कृत विग्रह से आया है जिसके हिन्दी में दो रूप बिगहा या बीघा मिलते हैं। 'विघा' का हिन्दी में कहीं प्रयोग नहीं होता है।

'साला चोर' अच्छा अनुवाद हुआ है। 'घरिते छिलेन माछे' 'का वंशी खेल रहे थे' मुहाविरेदार अनुवाद है। 'दो बिघा जमीन' में दिनकर ने अपनी ओर से बीच में आठ पंक्तियाँ घुसेड़ दी हैं। इन पंक्तियों में तीर्थाटन से लौटा हुआ मँगरू अपनी दो बीघा जमीन में फुलवारी देखकर धरती माता को गाली देता हुआ चित्रित किया है :—

धिक् धिक्! शत धिक्कार! अरी कुलटे धरती बेशर्म
...किसकी रति में आज मुग्ध हो बना लिया यह वेश?
...काट रही दिन अरी राक्षसी तू विलास में लीन "

रवीन्द्र का उपेन अपने घर से निकलते समय भी भगवान को यह कह कर धन्यवाद देता है :—

"मने भाविलाम, मोर भगवान राखिबे न मोह गर्त्ते
ताइ लिखि दिलो विश्व निखिलो दू बिघा परिवर्त्ते"

ऐसा आत्म-संतोषी सन्यासी तीर्थ से लौटकर अपनी जननी को बेशर्म, कुलटा, राक्षसी क्यों कहने लगा! दिनकर की कल्पना झोंक में आकर कभी-कभी सनक जाती है। पाठक को इससे चौंकना नहीं चाहिये क्योंकि यह कवीन्द्र का उपेन नहीं बाबू रामधारी सिंह का कोई मँगरू है।

'रौशन बेग की बहादुरी' का प्लाट लांगफेलो की 'दि लीप ऑव रौशनबेग' नामक कविता से लिया गया है। दिनकर ने लाँगफेलो से प्लाट के अतिरिक्त कुछ स्थलों पर उसके भावों को भी उसी रूप में ग्रहण किया है। डाकुओं का सरदार रौशनबेग अपने कैरत नामक घोड़े पर सवार होकर पहाड़ों-पहाड़ भागा जा रहा था। आगे पीछे अरबों की सेना उसे खदेड़ती आ रही थी। रौशनबेग के मार्ग में एक गहरी चौड़ी खाई मिल गई। खाई के नीचे इर्द-गिर्द दुश्मन की सेना खुशियाँ मनाने लगी कि अब रौशनबेग इस दरी को कैसे कूद सकेगा। इतने में रौशन कैरत की पीठ से नीचे उतरा, उसको गले लगाया, गाना सुनाया, प्यार किया, फिर सवार हुआ और वह देखो कैरत चारों पैर उठाकर तीस फीट की दरी को बेलाग फाँद गया। इस कविता के मूल और अनुवाद की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं।

१—मूल— More than, maiden more than wife
More than gold and next to life
Roushan the Robber loved his horse

अनु०—सब घोड़ों से ऊपर दुलारा, डाकू की आँखों का तारा,
रमणी, कनक, प्रिया से भी प्रिय, रौशन को प्राणों से प्यारा!

२— Gently Roshan Beg caressed
Kayrat's forhead, neck and breast
Kissed him upon both his eyes,
Sang to him in his wild way,

अनु०-"रौशन उतर पीठ से, कैरत को पोंछा, रोयाँ सहलाया,
चूम-चूम उसकी आँखों को गले मिला, गाना कुछ गाया।
"यहाँ रौशन में कर्त्ता का ने चिन्ह छूट गया है।"

दो-एक स्थलों को छोड़ कर यह कविता पूरा का पूरा स्वच्छंदानुवाद है। अनुवाद सरल और सुंदर है।

'तंतुवाय' सरोजिनी नायडू की 'Indian Weaver' का अनुवाद है। नायडू की कविताओं का एक संग्रह Champak Blossoms के नाम से हाल में प्रकाशित हुआ। तंतुवाय कविता का भाव गंभीर है, यह पाठक को वैराग्योन्मुख बना देती है। इसमें मानवजीवन के तीन चित्र हैं; शैशव यौवन और जरा। तंतुवाय शिशु के लिए रंगीन कपड़ा बुनता है, यौवन के लिए सुहाग की साड़ी तैयार करता है और जरा के लिए कफन भी वही बुनता है। कफन मनुष्य का अंतिम परिधान है। उदाहरण स्वरूप यहाँ एक पद उद्धृत किया जाता है

"Weavers weaving at fall of night
Why do you weave a garment so bright?
Like the plumes of a peacock, purple and green
We weave the marriage veils of a Queen

अनु०—चाँद गया चढ़ मध्य व्योम में निशा हुई गंभीर;
तब भी किसके लिए रहे बुन तंतुवाय यह चीर?
सतरंगा पट? या बुनते हो पाँख मोर की प्यारी?
"हम बुनते हैं नव विवाहिता के सुहाग की साड़ी।"

यहां 'Veils of a queen की जगह 'नवविवाहिता के सुहाग की साड़ी' में अधिक व्यंजनात्मकता है। इसी प्रकार 'We weave a deadman's funeral shroud' का अनुवाद 'हम बुनते हैं कफन मनुष्यों का अंतिम परिधान' मूल से अधिक द्रवणशील हुआ है। 'नींद', 'तीन दर्द' और 'वर भिक्षा' के मूल रूप से परिचय न होने के कारण अभी इन पर कुछ विचार नहीं प्रकट किया जा सकता। 'धूप छाँह' दिनकर की 'हल्की-फुल्की रचनाओं' का सुंदर संग्रह है' यह 'छोटी-सी पोथी' 'अपेक्षाकृत अल्पवयस्क' के हाथ में पड़ने से वे सहज ही प्रसन्न हो जायँगे,—इसमें कोई संदेह नहीं।

———

सप्तम सर्ग में युद्ध के कारण और उसके क्रमिक विकास का वर्णन किया गया है। दूसरे को कष्ट पहुँचाकर अपने को अधिक सुखी बनाने का नाम स्वार्थ है। मनुष्य के मन में पहले यही स्वार्थ घुसा, पीछे अधिकाधिक संचय करने की प्रवृत्ति (लोभ का जहर) बढ़ती गई। कभी अकाल पड़ने पर बहुत आदमी मर गए होंगे। यह देखकर जीवितों ने भविष्य के लिए अधिकाधिक संग्रह करने का विचार किया होगा। फिर एक दूसरे की देखादेखी लोग धन-संचय में लग गए। इसके परिणाम स्वरूप चोरी, लूट मार, प्रहार और शोषण शुरू हो गया। मानव-समाज की सारी शृंखला छिन्न-भिन्न हो गई। तब मनुष्य की इस नई लोभ-नागिन को बाँधने के लिए किसी शक्तिशाली की तलवार उठ खड़ी हुई। और एक राजा की सत्ता इस धरती पर अवतरित हुई ४ लेकिन यह राजा और राज-तंत्र मनुष्य की मलिन प्रकृति का प्रतीक है। यह मानवता का कलंक है। राजतंत्र के बंधन में जनता मनसा, वाचा-कर्मणा पराधीन बनी रहती है। इस राजतंत्र को तोड़ कर लोकतंत्र की स्थापना करना मनुष्य का कर्त्तव्य है।

अन्याय से युद्ध करना मनुष्य का पुनीत कर्त्तव्य है। साम्राज्यवाद और पूँजीवाद की कृत्रिम शांतिव्यवस्था से जनता का वास्तविक कल्याण असम्भव है। अन्याय पर स्थित शांति कभी टिक नहीं सकती। आधुनिक युग की पूँजीवादी शांति ५ मजदूरों का रक्त पीकर जी रही है। यदि मजदूर तनिक भी हिले डुले तो वे देश-द्रोही करार दिए जाते हैं। शांति और सुव्यवस्थता के नाम पर ही जनता का यह भीषण शोषण किया जाता है। लेकिन उचित न्याय ६ के अभाव में सच्ची शांति कभी हो नहीं सकती। किसानों और मजदूरों के शोषण पर टिकी हुई इस शांति के पूँजी शाही ठेकेदार बड़े ऊँचे आदर्शों का बखान करते, सत्य अहिंसा का

४—राजतंत्र द्योतक है नर की मलिन निहीन प्रकृति का
मानवता की ग्लानि और कुत्सित कलंक संस्कृति का।—११७

५—हिलो डुलो मत, हृदय-रक्त अपना मुझको पीने दो,
अचल रहे साम्राज्य शांति का जियो और जीने दो—२२

६—न्याय शांति का प्रथम न्यास है, जब तक न्याय न आता
जैसा भी हो महल शान्ति का सुदृढ़ नहीं रह जाता—२५
...शान्ति नहीं तब तक जब तक सुख-भाग न नर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो, नहीं किसी को कम हो—२५

कर और क्या अनर्थ होगा ! उस बढ़ते हुए हाथ को काट देना ११ ही यथार्थ है। घर में घुसते हुए डाकुओं पर आक्रमण करना अनुचित कैसे हो सकता है ? हाँ, सत्य-अहिंसा के उपदेश द्वारा उनका हृदय परिवर्त्तन करना परले सिरे की बेवकूफी होगी। आधुनिक युग में एक ओर तो पूँजीपतियों की तोंद मोटी होती जा रही हैं, महल पर महल उठते जा रहे हैं और दूसरी ओर रोग-जर्जर किसान-मजदूर बे-घरबार डोल रहे हैं। इस भयानक वैषम्य के युग में शोषित समुदाय का संघटित होकर अंतिम संग्राम के लिये तैयार हो जाना कुरुक्षेत्र का महान संदेश है।

चतुर्थ सर्ग में शूर शिरोमणि भीष्म ने धर्मराज युधिष्ठिर को शूर-धर्म का उपदेश किया है। स्वार्थरत, स्त्री-प्रिय नव शिक्षित महानुभावों के मन से अन्याय के विरुद्ध युद्ध करने की भावना मिटती जा रही है। दिनकर ने भीष्म के मुख से शूर-धर्म की व्याख्या करते हुए आधुनिक युवकों के सामने वीरता का आदर्श उपस्थित किया है। दहकते अंगारे पर, तेज तलवार-धार पर निर्भय होकर १२ मचलना ही शूर धर्म है। शूर धर्म की सम्यक् वर्णना के बाद भीष्म ने बुद्धि की अत्यन्त कटु भर्त्सना की है। बुद्धि व्यक्ति को विचार-विमर्श में बुरी तरह डालकर उसकी अग्नि की शिखा ही बुझा देती है। वीरता ज्योंही बुद्धि विवेक के पास सलाह लेने के लिए पहुँचती है, १३ उसका सारा तेज नष्ट हो जाता है।

११—छीनता हो स्वत्व कोई, और तू त्याग तप से काम ले, यह पाप है,
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे, बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ हो
—१७

१२—शूर-धर्म है अभय दहकते अंगारों पर चलना,
शूर-धर्म है शाणित असि पर धरकर पाँव मचलना।
शूर-धर्म कहते हैं छाती तान तीर खाने को,
शूर-धर्म कहते हँसकर हालाहल पी जाने को।
आग हथेली पर सुलगाकर सिर का हविष् चढ़ाना,
शूर धर्म है जग को अनुपम बलि का पाठ पढ़ाना
सब से बड़ा धर्म है नर का सदा प्रज्वलित रहना,
दाहक शक्ति समेट स्पर्श भी नहीं किसी का सहना,
बुझा बुद्धि का दीप, वीरवर आँख मूँद चलते हैं;
उछल वेदिका पर चढ़ जाते और स्वयं बलते हैं।
—५३

१३—राह पूछने को विवेक से जभी वीरता जाती,
पी जाती अपमान पतित हो, अपना तेज गँवाती।—५२

बुद्धि सदा यौवन को पथभ्रष्ट करने के लिए सोचती रहती है। लेकिन वह उसके उच्छृंखल प्रवाह में बह जाने के भय से किनारे पर सहमी हुई खड़ी रहती है। ज्यों ही वीर के रुधिर का वेग कम होता है, वह तुरन्त उसे अपने मोहक जाल में फँसा लेती है, उसके सामने नई-नई उलझनें प्रस्तुत १४ कर उसे शौर्य से विमुख कर देती है।

बुद्धिवाद के इस युग में दिनकर के हाथों बुद्धि की यह अधोगति देखकर बहुतों को दुःख होगा। विज्ञान, समाज-शास्त्र, कूटनीति, राजनीति आदि विद्यायें बुद्धि के चमत्कार से ही फल-फूल रही हैं। आधुनिक काल का सबसे बड़ा युद्ध बुद्धि के बल पर ही जीता जा सकता है। जापान में शौर्य, त्याग और यौवन-बल का अभाव नहीं था, फिर भी उसे बुद्धि के सामने घुटना टेकना पड़ा। राजनीति तथा परिवार-नीति में भी बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। बुद्धि के बिना बल अन्धा है और बल के बिना बुद्धि पंगु। राजनीति के प्रकांड पंडित होते हुए भी भीष्म पितामह ने बुद्धि का दाँव बुझाकर, आँख मूँदकर चलने के लिए क्यों कहा? जहाँ और नेता युवकों को आँख खोलकर चलने की सलाह देते हैं, वहाँ दिनकर उन्हें आँख फोड़ने की राय क्यों देते? हमारे शास्त्रों में बुद्धि और ज्ञान की महिमा गाई गई है, फिर 'कुरुक्षेत्र' में इनका अपमान क्यों? दिनकर अक्ल के दुश्मन तो नहीं हैं? इस गुत्थी को सुलझाने का प्रयास कुरुक्षेत्र की पंक्तियों से ही करना चाहिये। जिस स्थल पर बुद्धि को पतिता और हेय घोषित किया गया है ठीक वहीं ये पंक्तियाँ लिखी गई हैः—

> "सच है, बुद्धि-कलश में जल है, शीतल सुधा तरल है,
> पर भूलो मत कुसमय में हो जाता वही गरल है।" —५३

इससे यह स्पष्ट है कि दिनकर सुधोपम सात्विक शीतल बुद्धि की उपयोगिता कबूल करते हैं, लेकिन गरलमयी तामसी बुद्धि का तिरस्कार करते हैं। श्री मद्भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय में बुद्धि का विवेचन किया गया है। सात्विकी बुद्धि, प्रवृत्ति-निवृत्ति, कर्त्तव्याकर्त्तव्य, भय-अभय तथा बन्धन-मोक्ष को तत्व से जानती है। जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्माधर्म तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य को भी यथार्थ से

> १४—किन्तु बुद्धि नित खड़ी ताक में रहती घात लगाये,
> कब जीवन का ज्वार शिथिल हो कब वह उसे दबाये।
> और सत्य ही जभी रुधिर का वेग तनिक कम होता,
> सुस्ताने को कहीं ठहर जाता जीवन का सोता।
> बुद्धि फेंकती तुरत जाल निज, मानव फँस जाता है,
> नई-नई उलझनें लिए जीवन सम्मुख आता है।—५१

नहीं जानता वह बुद्धि राजसी है। सम्पूर्ण अर्थों को विपरीत मानने वाली, अधर्म को १५ धर्म मनाने वाली बुद्धि तामसी है। कुरुक्षेत्र में उस सात्विकी बुद्धि का उल्लेख हुआ है जो मनुष्य को १६ अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाती है। भीष्म पितामह अपनी उस राजसी बुद्धि का वर्णन कर रहे हैं जिसने उन्हें अन्यायी कौरवों का साथ देने के लिए प्रेरित किया था। भरी सभा में द्रौपदी के निर्वस्त्र किए जाने पर भी तामसी बुद्धि ने उन्हें विद्रोह करने से रोक लिया। धर्म की इस नई रीत को मानने वाले बुद्धिमान १७ वीरों पर भारत की भावी संतानें अवश्य थूकेंगी। भीष्म स्वयं कहते हैं कि इस तमोगुणी वृत्ति के कारण 'पराधीन सेवक बन बैठा मैं अपने ही घर में, और 'बुद्धि ने मुझे भ्रमित कर दिया नहीं कुछ करने।' इन उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि शूरधर्म में सात्विकी बुद्धि और ज्ञान का तिरस्कार दिनकर को मान्य नहीं है। दिनकर ने उस ज्ञान-विज्ञान का विरोध किया है जिसके दाहक आविष्कार से जनता जलती जा रही है। मानवता का कल्याण

१५—प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथाव प्रजानाति बुद्धि : सापार्थ राजसी॥
अधर्मं धर्ममिति या मान्यते तमसावृता
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।

गीता; १८; ३०—३२।

१६—वीरता तमकी, सँभाले बुद्धि की पतवार
आ गया है ज्योति की नव भूमि में संसार।—५०

१७—निर्दोषा कुलवधू, एक वस्त्रा को खींच महल से
दासी बना सभा में लाये दुष्ट द्यूत के छल से।
और सभी के सम्मुख लज्जा-वसन अभय हो खोलें,
बुद्धि-विपण्ण वीर भारत के किन्तु, नहीं कुछ बोलें।
समझ सकेगा कौन धर्म की यह नवरीति निराली?

करने वाली शंकरी बुद्धि का कवि ने हृदय से १८ से स्वागत किया है। सप्तम सर्ग में भीष्म ने वीर युधिष्ठर को ज्ञान-दीप जलाकर ही आगे बढ़ने का १९ आदेश किया है। भीष्म स्वयं नीति-ज्ञान से वंचित नहीं थे; 'कर में चाप, पीठ पर तरकस, नीति ज्ञान था मन में।' कुरुक्षेत्र में केवल पूँजीवादी युग की वेश्या बुद्धि का तिरस्कार किया गया है। जो शिक्षितों को धन के लोभ में जहाँ तहाँ भटका कर उनसे अनेकों कुकर्म कराती है। जीवन में निष्क्रियता का धूम भरने वाली इस बुद्धि को भीष्म ने ज्ञान का छल; अमित, पराजित, विजित बुद्धि; निष्कर्म चिंतन आदि कहा है। कुरुक्षेत्र में केवल कायरता भरने वाली जहरीली बुद्धि का ही तिरस्कार किया गया है। 'आलोक धन्वा, में बुद्धि की परवशता से बल को स्वतंत्र करने का यही रहस्य है। प्रतिशोध को जन्म सिद्ध अधिकार एवं त्याग तपस्या को कायरों का अस्त्र कहने में भी यही भाव है। यों स्वयं भीष्म पितामह भी यही चाहते हैं कि सारे संसार में किस प्रकार प्रेम और २० अहिंसा का साम्राज्य छा जाय। त्याग-तपस्या को कायर का धर्म बताने वाले भीष्म प्रेम- अहिंसा की कामना क्यो करते हैं ? प्रतिशोध और प्रेम की एक ही साँस में चर्चा परस्पर विरोधी है ? प्रतिशोध शब्द का सबसे प्रथम प्रयोग प्रथम सर्ग में द्रौपदी के प्रसंग में किया गया है। द्रौपदी की पाशविक प्रतिशोध भावना से कवि की घृणा प्रतीत २१ होती है। मानवी नहीं कह कर उसे प्रतिशोध की ज्वलित जाग्रत शिखा कहने में यही व्यंग्य है। सातवें सर्ग

१८—श्रेय वह नर-बुद्धि का शिव रूप आविष्कार,
ढो सके जिससे प्रकृति सबके सुखों का भार।
...श्रेय होगा मनुज का समता विधायक ज्ञान,
स्नेह सिंचित-न्याय पर नव विश्व का निर्माण।—९४

१९—खोजना इसे हो तो जलाओ शुभ्र ज्ञान-दीप
आगे बढ़ो वीर, कुरुक्षेत्र के श्मशान से।—१०१

२०—मैं भी हूँ सोचता जगत से कैसे उठें जिघिंसा।
किस प्रकार फैले पृथ्वी पर करुणा प्रेम अहिंसा।
जियें मनुज किस भाँति परस्पर होकर भाई-भाई
कैसे रुके प्रदाह क्रोध का कैसे रुके लड़ाई।—३२

२१—और जब व्रत मुक्त-केशी द्रोपदी,
मानवी अथवा ज्वलित, जाग्रत शिखा प्रतिशोध की,
दाँत अपने पीस अंतिम क्रोध से,
आदमी के गर्म लोहू से चुपड़
रक्त वेणी कर चुकी थी केश की,
केश जो तेरह बरस से थे खुले।—३

द्रौपदी और भीम की प्रतिशोध-भावना अपनी वैयक्तिक ईर्ष्या और अहंकार पर टिकी रहने के कारण वह हेय है; परन्तु श्रीकृष्ण का प्रतिशोध-भाव न्याय और धर्म की भित्ति पर अवलम्बित होने से वरेण्य है। द्रौपदी की आँखें दुर्योधन का लाल खून देखना चाहती हैं, श्रीकृष्ण की शुभ्र शांति के दर्शन करना चाहती हैं। एक के लिए दुर्योधन का खून साध्य है, दूसरे के लिए साधन मात्र। महाभारत के मूल में राजाओं की २९ वैयक्तिक ईर्ष्या और प्रतिशोध-भावना काम कर रही थी। समुदाय-भावना पर आश्रित प्रतिशोध श्रेयस्कर है।

भीष्म का विश्वास है कि जब तक भिन्न स्वार्थों की चिनगारियाँ उठ रही तब तक विश्व में हिंसात्मक युद्ध का होना अनिवार्य है। देह (हिंसा) ३० की लड़ाई देह (हिंसा) से ही जीती जा सकती है। जो व्यक्ति जीवन और युद्ध की विभीषिका से घबड़ाकर संसार से पलायन करना चाहता है; तप, त्याग और अहिंसा की आड़ में अपने प्राण को बचाना चाहता है, उसकी करुणा और अहिंसा निश्चय ही पाखंड है। कर्ममय जीवन से उदासीन होकर निष्क्रिय ज्ञान का जीवन व्यतीत करना महापाप है। युद्ध की विभीषिका से ग्रस्त, जीवन-विरक्त युधिष्ठिर के मुख से त्याग और ३१ धर्म की बातें सुनते ही भीष्म क्रुद्ध हो जाते हैं। सप्तम सर्ग में जीवन-संघर्ष से उदासीन निष्क्रिय व्यक्ति के पलायन कुंज का चित्रमय वर्णन किया गया ३२ है। एकांत में तपस्या द्वारा केवल अपनी

२९—कहीं था जल रहा कोई किसी की शूरता से,
कहीं था क्षोभ में कोई किसी की क्रूरता से;
कहीं उत्कर्ष ही नृप का नृपों को सालता था,
कहीं प्रतिशोध का कोई भुजंगम पालता था।—४०

३०—कौन केवल आत्म-बल से जूझ कर
जीत सकता देह का संग्राम है?
पाशविकता खंग जब लेती उठा
आत्म-बल का एक वश चलता नहीं।—२०

३१—कायरों-सी बात कर मुझको जला मत;—१६

३२—यह सपनों का देश, कुसुम ही कुसुम जहाँ खिलते हैं।
बरसी कहीं न धूल, न पथ में कंटक ही मिलते हैं।
द्वन्द्व की नहीं, मात्र सत्ता है जहाँ मधुर कोमल की,
कोई विपक्ष कर कर जहाँ रश्मि बन जाता विधु-मंडल की
—१२५

मुक्ति ३३ का उपाय सोचना स्वार्थपरता है। सच्ची तपस्या तो दग्ध संसार को शान्ति पहुँचाने में है। यती या संन्यासी गेह या वन से नहीं भागता, वह एकमात्र सदा अपने जीवन से ही भागता फिरता है। सच्चा संन्यासी तो वह है जो अपने सांसारिक संघर्षों का हँसते हुए सामना करता है। षष्ठ सर्ग में कवि ने इसी कल्याण कारी ३४ ज्ञान और तपस्या को मानवता का श्रेय कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि योग में भोग को छिपाकर रखनेवाले राजा जनक ही कवि की दृष्टि में आदर्श योगी ३५ और तपस्वी हैं। कुरुक्षेत्र के विरोधाभासी पाठकों के भ्रम निवारणार्थ इतना उद्धरण पर्याप्त है। भीष्म की उक्तियों में असंगति और विरोध का भ्रम फैलाने वाले आलोचकों में डा० रामविलास शर्मा का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। द्वन्द्वात्मक भौतिक-वाद का भूत जब सर पर सवार होता है तो हर चीज असंगत नजर आती है।

सप्तम सर्ग में भाग्यवाद की खिल्ली उड़ाते हुए कवि ने हमें कर्मयोग का अमर संदेश दिया है। यों समुद्र खारे जल से परिपूर्ण है लेकिन मंदराचल ३६, से मथने वाले कर्मवीर पुरुष को वह अमृत प्रदान करता है। निर्भयता से जूझने वाला सूरमा जीवन का असली स्वाद चखता है। दैव-भरोसे बैठने वाले आलसी ३७ महानुभावों के लिए कुरुक्षेत्र जागरण-मंत्र है। इसी सर्ग में कवि ने वर्ग-हीन

३३—निज तप रखो सुरा निज हित, बोलो क्या न्याय यही है ?
क्या समष्टि-हित, मोक्ष-दान का उचित उपाय यही है ?
निज को ही देखो न युधिष्ठिर, देखो निखिल भुवन को,
स्ववत् शान्ति-सुख की ईहा में निरत, व्यग्र जन-जनको।—१२०

३४—यजन, अर्पण आत्म सुख का त्याग,
श्रेय मानव का, तपस्या की दहकती आग।
बुद्धि-मंथन से विनिर्गत श्रेय वह नवनीत—
जो करे नर के हृदय को स्निग्ध, सौम्य, पुनीत।—६५

३५—राग में विरागी राजदण्डधर योगी बनो,
नर को दिखाओ पन्थ त्याग बलिदान से।—१०१

३६—जीवन उनका नहीं युधिष्ठिर जो उससे डरते हैं,
वह उनका, जो चरण रोप निर्भय होकर लड़ते हैं।
यह पयोधि सबका विरत लवण कटु जल से,
देता सुधा उन्हें जो मथते इसे मन्दराचल से।—१२३

३७—ब्रह्म का अभिलेख पढ़ा करते निरुद्यमी प्राणी।
धोते वीर कुअंक भाल का बहा भ्रुवों से पानी।—१०६
...ब्रह्मा से कुछ लिखा भाग्य में मनुज नहीं लाया है,
अपना सुख उसने भुजबल से ही पाया है।—१७१

साम्यवादी समाज का सरल और स्पष्ट वर्णन किया है। इस समाज में सैनिक, राजा और ऊपरी कानून की कोई आवश्यकता नहीं। प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से फूलने फलने का अधिकार प्राप्त है। आज के युग में किसी व्यक्ति की प्रतिष्ठा उसकी अर्जित सम्पति, उच्चपदस्थता और चलतापुर्जापन के कारण होती है। साम्यवादी समाज में केवल व्यक्ति के श्रम की महत्ता होगी। उसके व्यक्तिगत गुण के कारण उसकी प्रतिष्ठा होगी। धरती का प्रत्येक निवासी एक समान है, धरती के प्रत्येक कण पर सबों का एक ३८ समान अधिकार है।

दिनकर के साम्यवाद में मानव-जीवन का चरम उद्देश्य अर्थवाद या भोगवाद कदापि नहीं हो सकता। प्रवृत्ति मूलक भोगप्रधान जीवन से मनुष्य की अंतरात्मा को शांति नहीं मिल सकती। विषयसुख की बहुलता से मन सदा चंचल इन्द्रियों का दास बना रहेगा और फिर जगत् में काम-क्रोध-लोभ का नग्न तांडव प्रारम्भ हो जायगा। इसलिए मिट्टी और कंचन मानव-जीवन के लिए साधन मात्र हैं, साध्य कदापि नहीं। पूँजीपतियों ने पूँजी को ही साध्य मान लिया है; आत्मानन्द का उनके जीवन में कहीं स्थान नहीं। साधन को साध्य ३९ मान लेना विकृत मनोवृत्ति का परिणाम है। सूक्ष्म स्थूल के ऊपर विजय प्राप्त करे—यही दिनकर की कामना है। अन्नमय कोष के स्थूल जगत (मिट्टी) से हमें मनोमय कोष में चलना है। मनुष्य का मन ही इतना सुदृढ़ हो ४० जाय कि वह उसके तनपर शासन करने

३८—धर्मराज, यह भूमि किसी की नहीं क्रीत है दासी,
हैं जन्मना समान परस्पर इसके सभी निवासी।—१०२
× × जो कुछ न्यस्त प्रकृति में है वह मनुज मात्र का धन है,
धर्मराज, उसके कण-कण का अधिकारी जन-जन है।
......श्रम होता सबसे अमूल्य धन, सब जन खूब कमाते,
सब अशंक रहते अभाव से सब इच्छित फल पाते,
राजा प्रजा नहीं कुछ होता, होते मात्र मनुज ही,
भाग्य-लेख होता न मनुज को, होता कर्मठ भुज ही।—१०६

३९—कंचन को नर साध्य नहीं साधन जिस दिन जानेगा
जिस दिन सम्यक् रूप मनुज का मानव पहचानेगा—।१४३

४०—भोगो तुम इस भाँति वृत्ति को दाग नहीं लग पाये,
मिट्टी में तुम नहीं, वही तुम में विलीन हो जाये।
और निराशा भोगवाद की यही रीति जन-जनको,
करे विलीन देह को मन में, नहीं देह में मन को।—

लगे। दिनकर ने मन का प्रयोग यहाँ व्यापक अर्थ में किया है; वह मन जो बुद्धि विवेक से परिपूर्ण हो। दिनकर ने गीता के अनासक्ति योग को ही आज के आदमी को आज की भाषा में समझाया है। युधिष्ठिर को ४१ कर्मठ सन्यासी बनने का आदेश दिया गया है। ज्ञान-कर्म, योग-भोग और अश्रु-स्मिति का सुखद समन्वय—'युक्ताहार विहार'—मानव-जीवन का सच्चा स्वरूप है।

कुरुक्षेत्र का कवि दुर्बलताओं से घिरे हुए दीन मानव का गर्वोन्नत गायक है। त्याग; सत्य और प्रेम से संयुक्त मानव का देवोपम आदर्श चित्रित कर कवि साधारण आदमी को लजाना नहीं चाहते। मानव ने भूलें की हैं, पाप किए हैं; यह सही है--लेकिन वही पापों से फिर जूझ भी तो रहा है। धरती पर ऐसे कुछ ही इने-गिने पुण्यात्मा होंगे जिनने कभी कोई पाप नहीं ४२ किया। अधिकांश तो भूलें करते हुए आगे बढ़ने वाले प्राणी हैं।

यदि आदमी झूठ बोलता है, हत्या करता है, तो फिर सत्य और परोपकार के लिए प्राणों की बाजी भी वही लगाता है। सत्य है, मनुष्य पापों में दिनरात तल्लीन रहता है; लेकिन बुरे कर्मों के बाद वही कितना पश्चाताप करता है! अपने पापों के बाद आँसू ४३ बहाने वाला यह मानव मानवता की आशा है, प्राण है। पश्चात्ताप के पश्चात् यह कल्याणपथ की ओर अग्रसर होता है। इस प्रकार भूलें करता हुआ, ठोकरें खाता हुआ, पश्चात्ताप करता हुआ मानव सदा आगे बढ़ता चला आ रहा है। इसलिए केवल पुण्यात्मा को संसार का एक मात्र अवलम्ब मानना गलत होगा। घोर अंधकार से लड़ने वाली यह ४४ किरण धरती के लिए कम आशाजनक नहीं है। तिमिर-व्यूह से लड़ने वाले मानव के

४१--मिट्टी का यह भार सँभालो बन कर्मठ सन्यासी।

४२—सच है मनुज बड़ा पापी है, नर का वध करता है,
पर, भूलो मत मानव के हित मानव ही मरता है।—१४४

४३—मत सोचो, दिन रात, पाप में मनुज निरत होता है,
हाय, पाप के बाद वही तो, पछताता रोता है।
यह क्रन्दन, यह अश्रु मनुज की आशा बहुत बड़ी है,
बतलाता है यह मनुष्यता अब तक नहीं मरी है।—१४५

४४—नहीं एक अवलम्ब जगत् का आभा पुण्यव्रती की
तिमिर-व्यूह में फँसी किरण भी आशा है धरती की।—१४५

प्रति दिनकर की अपार श्रद्धा है, अगाध प्रेम है। पाप और अन्याय से संघर्ष करने वाले मनुष्य को देखकर दिनकर का कवि शत-शत छंदों में फूट पड़ता है। जो तटस्थ है, वह नगण्य ४५ है, त्याज्य है, जो बहती धारा में ऊब-डूब कर रहा है, वह स्तुत्य है, वरेण्य है! सप्तम सर्ग के प्रारम्भ में ही कवि ने अपने पापों से जूझने वाले मानव का स्नेहार्द्र कंठ से जय-गान किया है। जीवन से हार नहीं मानने वाले इस एक कर्मठ पुरुष पर करोड़ों सन्यासी न्योछावर हैं! धन्य है वह पुरुष जो वासना की आग के बीच कंचन-सा दमक रहा है! अंधकार-सागर में डूब कर भी फिर किरण बन कर फूट पड़ता है। कीचड़ में फँसा हुआ भी वह कमल के समान ऊपर उठता जा रहा है और बादलों के बीच चंद्रमा के सामन ऊब-डूब करता प्रकाश छिटका रहा है। गहन गर्त में डूबे हुए मनु के इस सरल अबोध पुत्र—मानव—की जय हो! निराशा के घनांधकार में घिरी हुई दुखी मानवता के लिए कुरुक्षेत्र एक प्रकाश-स्तंभ है।

प्रतिदिन की पेचीली समस्याओं के समाधान में असमर्थ, पाप-ग्रस्त मानव को दिनकर ने आशावाद का ज्वलंत संदेश देकर राष्ट्र का परम कल्याण किया है। आशा की सुकुमार किरण की सुनहली डोर पकड़ कर मानव अश्रु-स्वेद रक्त से लथपथ जमीन पर पाँव आगे बढ़ाता है। आज नहीं तो कल जरूर दुख दूर होंगे, इसी एक आशा पर दग्ध मानव जी रहा है। आशा में अविश्वास होते ही वह छिन्नभिन्न हो जाता है। कुरुक्षेत्र के कवि ने इस आशा का दर्शन मानव के पश्चात्ताप में, युधिष्ठिर के आँसुओं में किया। अपने किए पर आँसू बहाना मनुष्य के आगे बढ़ने का सबसे बड़ा सबूत है। आशा चित्त की एक स्वस्थ मनोवृत्ति है जो अपने आंतरिक बल पर विश्वास और भविष्य की सुख-कामना के कारण उत्पन्न होती है। आशा चित्तको कर्म की ओर प्रेरित करती है। आशा में अपूर्ण वर्त्तमान का प्रसन्न भविष्य से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह एक परोक्ष भावना है जिसकी अनुभूति में कल्पना का सुनहलापन वर्त्तमान रहता है।

४५—रागानल के बीच पुरुष कंचन-सा जलने वाला,
तिमिर-सिन्धु में डूब रश्मि की ओर निकलने वाला,
ऊपर उठने को कर्दम से लड़ता हुआ कमल-सा,
ऊब-डूब करता, उतराता नभ में विधु-मंडल सा।
जय हो, अघ के गहन गर्त में गिरे हुए मानव की,
मनु के सरल अबोध पुत्र, की पुरुष ज्योति संभव की।
हार मान हो गई न जिसकी किरण तिमिर की दासी,
न्योछावर उस एक पुरुष पर कोटि-कोटि सन्यासी—६७

सनत् कुमार ने नारद को आशा-ब्रह्म का उपदेश करते हुए कहा है, "आशा ही स्मरण की अपेक्षा उत्कृष्ट है। आशा से दीप्त हुआ स्मरण ही मन्त्रों का पाठ करता है, कर्म करता है, पुत्र और पशुओं की इच्छा करता है तथा इस लोक और परलोक की कामना करता है। वह जो कि आशा की –'यह ब्रह्म है'— इस प्रकार उपासना करता है, उसकी सब कामनाएँ ४६ आशा से समृद्ध होती हैं, उसकी प्रार्थनाएँ सफल होती हैं।"

४७ वीरों के शव से पटी हुई कुरुक्षेत्र की रक्तस्नाता रणभूमि को देखकर युधिष्ठिर के मानस में जिस पश्चाताप और ग्लानि का उदय हुआ है उसका कुरुक्षेत्र में मार्मिक अंकन हुआ है। प्रथम सर्ग का उत्तरार्द्ध, द्वितीय सर्ग का पूर्वार्द्ध और पंचम सर्ग का सम्पूर्ण युधिष्ठिर के मनोभावों के चित्रण में लगाए गए हैं। ४८ रण-समुद्र को तैरकर उस पार खड़ा दुर्योधन जीवन के सुख-दुख से परे हो गया है। और युधिष्ठिर की लोहू सनी अशुद्ध जीत पर व्यंग्य कस रहा है। युधिष्ठिर सन्तानहीन माता-पिता के आर्त्तनाद को सतत सुन रहे हैं। जहाँ कहीं नजर जाती है विधवाएँ ही ४९ दीख पड़ती हैं। आत्मग्लानि से व्यथित उदास व्यक्ति को संसार की चहल-पहल अच्छी नहीं लगती। वह एकांत ५० चाहता और

४६—आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते,
कर्माणि कुरुते, पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छत, इमं च
लोकममुं चेच्छत आशामुपास्वेति। सय आशा
ब्रह्मेत्युपास्त आशयास्य सर्वकामाः समृद्ध्यन्त्यमोघा
ह्यस्याशिषो भवन्ति। छान्दोग्य उपनिषत्; ७।१४

४७—रक्त से सिंच कर समर की मेदिनी, हो गई है लाल नीचे को समर,
और ऊपर रक्त की खर धार में, तैरते हैं अंग, रथ, गज-वाजि के।—९

४८—ओ युधिष्ठिर सिन्धु के हम पार हैं, तुम चिढ़ाने के लिए जो कुछ कहो
किन्तु, कोई बात हम सुनते नहीं···
आ गये हम पार, तुम उस पार हो--
यह पराजय या कि जय किसकी हुई? ५

४९—आँख पड़ती है जहाँ, हाय, वहीं देखता हूँ,
सेंदुर पुछा हुआ सुहागिनी के भाल का।—११

५०—जानता हूँ, पाप न धुलेगा वनवास से भी,
छिपा तो रहूँगा, दुख कुछ तो भुलाऊँगा।
व्यंग्य से बिंधेगा वहाँ जर्जर हृदय तो नहीं,
वन में कहीं तो धर्मराज न कहाऊँगा।—१२

प्रति दिनकर की अपार श्रद्धा है, अगाध प्रेम है। पाप और अन्याय से संघर्ष करने वाले मनुष्य को देखकर दिनकर का कवि शत-शत छंदों में फूट पड़ता है। जो तटस्थ है, वह नगण्य ४५ है, त्याज्य है, जो बहती धारा में ऊब-डूब कर रहा है, वह स्तुत्य है, वरेण्य है! सप्तम सर्ग के प्रारम्भ में ही कवि ने अपने पापों से जूझने वाले मानव का स्नेहार्द्र कंठ से जय-गान किया है। जीवन से हार नहीं मानने वाले इस एक कर्मठ पुरुष पर करोड़ों सन्यासी न्योछावर हैं! धन्य है वह पुरुष जो वासना की आग के बीच कंचन-सा दमक रहा है! अंधकार-सागर में डूब कर भी फिर किरण बन कर फूट पड़ता है। कीचड़ में फँसा हुआ भी वह कमल के समान ऊपर उठता जा रहा है और बादलों के बीच चंद्रमा के सामन ऊब-डूब करता प्रकाश छिटका रहा है। गहन गर्त्त में डूबे हुए मनु के इस सरल अबोध पुत्र—मानव—की जय हो! निराशा के घनांधकार में घिरी हुई दुखी मानवता के लिए कुरुक्षेत्र एक प्रकाश-स्तंभ है।

प्रतिदिन की पेचीली समस्याओं के समाधान में असमर्थ, पाप-ग्रस्त मानव को दिनकर ने आशावाद का ज्वलंत संदेश देकर राष्ट्र का परम कल्याण किया है। आशा की सुकुमार किरण की सुनहली डोर पकड़ कर मानव अश्रु-स्वेद रक्त से लथपथ जमीन पर पाँव आगे बढ़ाता है। आज नहीं तो कल जरूर दुख दूर होंगे, इसी एक आशा पर दग्ध मानव जी रहा है। आशा में अविश्वास होते ही वह छिन्नभिन्न हो जाता है। कुरुक्षेत्र के कवि ने इस आशा का दर्शन मानव के पश्चात्ताप में, युधिष्ठिर के आँसुओं में किया। अपने किए पर आँसू बहाना मनुष्य के आगे बढ़ने का सबसे बड़ा सबूत है। आशा चित्त की एक स्वस्थ मनोवृत्ति है जो अपने आंतरिक बल पर विश्वास और भविष्य की सुख-कामना के कारण उत्पन्न होती है। आशा चित्तको कर्म की ओर प्रेरित करती है। आशा में अपूर्ण वर्त्तमान का प्रशस्त भविष्य से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह एक परोक्ष भावना है जिसकी अनुभूति में कल्पना का सुनहलापन वर्त्तमान रहता है।

४५—वासनानल के बीच पुरुष कंचन-सा जलने वाला,
तिमिर-सिन्धु में डूब रश्मि की ओर निकलने वाला,
ऊपर उठने को कर्दम से लड़ता हुआ कमल-सा,
ऊब-डूब करता, उतराता नभ में विधु-मंडल सा।
जय हो, अघ के गहन गर्त्त में गिरे हुए मानव की,
मनु के सरल अबोध पुत्र, की कुरूप ज्योति सभय की।
हार मान हो गई न जिसकी किरण तिमिर की दासी,
न्योछावर उस एक पुरुष पर कोटि-कोटि सन्यासी—६७

सनत् कुमार ने नारद को आशा-ब्रह्म का उपदेश करते हुए कहा है, "आशा ही स्मरण की अपेक्षा उत्कृष्ट है। आशा से दीप्त हुआ स्मरण ही मन्त्रों का पाठ करता है, कर्म करता है, पुत्र और पशुओं की इच्छा करता है तथा इस लोक और परलोक की कामना करता है। वह जो कि आशा की —'यह ब्रह्म है'— इस प्रकार उपासना करता है, उसकी सब कामनाएँ ४६ आशा से समृद्ध होती हैं, उसकी प्रार्थनाएँ सफल होती हैं।"

४७ वीरों के शव से पटी हुई कुरुक्षेत्र की रक्तस्नाता रणभूमि को देखकर युधिष्ठिर के मानस में जिस पश्चाताप और ग्लानि का उदय हुआ है उसका कुरुक्षेत्र में मार्मिक अंकन हुआ है। प्रथम सर्ग का उत्तरार्द्ध, द्वितीय सर्ग का पूर्वार्द्ध और पंचम सर्ग का सम्पूर्ण युधिष्ठिर के मनोभावों के चित्रण में लगाए गए हैं। ४८ रण-समुद्र को तैरकर उस पार खड़ा दुर्योधन जीवन के सुख-दुख से परे हो गया है। और युधिष्ठिर की लोहू सनी अशुद्ध जीत पर व्यंग्य कस रहा है। युधिष्ठिर सन्तानहीन माता-पिता के आर्त्तनाद को सतत सुन रहे हैं। जहाँ कहीं नजर जाती है विधवाएँ ही ४९ दीख पड़ती हैं। आत्मग्लानि से व्यथित उदास व्यक्ति को संसार की चहल-पहल अच्छी नहीं लगती। वह एकांत ५० चाहता और

४६—आशा वाव स्मराद् भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते,
कर्माणि कुरुते, पुत्रांश्च पशूँश्चेच्छत, इमं च
लोकममुं चेच्छत आशामुपास्वेति। सय आशा
ब्रह्मेत्युपास्त आशयास्य सर्वेकामाः समृद्धय न्त्यमोघा
हास्याशिषो भवन्ति। छान्दोग्य उपनिषत्; ७।१४

४७—रक्त से सिंच कर समर की मेदिनी, हो गई है लाल नीचे को समर,
और ऊपर रक्त की खर धार में, तैरते हैं अंग, रथ, गज-वाजिके।—६

४८—ओ युधिष्ठिर सिन्धु के हम पार हैं, तुम चिढ़ाने के लिए जो कुछ कहो
किन्तु, कोई बात हम सुनते नहीं...
आ गये हम पार, तुम उस पार हो--
यह पराजय या कि जय किसकी हुई? ५

४९—आँख पड़ती है जहाँ, हाय, वहीं देखता हूँ,
सेंदुर पुछा हुआ सुहागिनी के भाल का।—११

५०—जानता हूँ, पाप न धुलेगा वनवास से भी,
छिपा तो रहूँगा, दुख कुछ तो भुलाऊँगा।
व्यंग्य से बिंधेगा वहाँ जर्जर हृदय तो नहीं,
वन में कहीं तो धर्मराज न कहाऊँगा।—१२

अपने मन के ही अन्दर सिकुड़ कर विश्राम करना चाहता है। युद्ध के अवसर युधिष्ठिर की वृत्तियाँ बहिर्मुखी थीं अब वे अन्तर्मुखी हो गई हैं। 'धर्मराज' सम्बोधन युधिष्ठिर को काटने दौड़ता है। इतने घोर युद्ध के बाद युधिष्ठिर के ह क्या ५१ लगा ? मनु का पुत्र पशु-भोजन बने—क्या यही मानव का सुन्दर अं है ? 'कौरव का कोप' या 'द्रौपदी का केश' दोनों में कौन युद्ध का कारण है सुख भोगने के लालच—लोभ—को ही युधिष्ठिर युद्ध का कारण मानते हैं। मनुष् प्रतिशोध का ५२ झूठा बहाना करके बराबर लड़ा करता है, लेकिन हर युद्ध के मूल में लोभ ही छिपा रहता है। अपने तुच्छ लोभ के लिए इतना बड़ा युद्ध क्यों !

तृतीय, चतुर्थ और सप्तम इन तीन सर्गों में केवल भीष्म के भाव और विचार वर्णित हैं। भीष्म ने शान्ति, धर्म, तंत्रहीन राज, साम्यवाद, आशावाद आदि पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। केवल विचारों पर विचार करने वाला ग्रंथ राजनीति, दर्शन या समाज-शास्त्र के अन्तर्गत आ सकता है, काव्य की श्रेणी में कदापि नहीं। लेकिन कुरुक्षेत्र विचारों के विवेचन के साथ भावों का अभिव्यंजन भी करता चलता है। विचारों की लड़ी में व्यथा को गूँथता जाता है।

भीष्म के अतुल पराक्रम और विराट व्यक्तित्व से कौन नहीं प्रभावित होगा ? इस परम विरागी पुरुष को 'पाकर भी पा न सका संसार।' शरों ५३ की नोक पर लेटे हुए इस गजराज की सजीव मूर्ति का वर्णन चतुर्थ सर्ग के प्रारम्भ में आया है। जाति-मन्दिर में शूरता की आरती जलाकर युद्ध के ही यान पर चढ़कर विश्व से विदा लेने वाले महापुरुष का वर्णन दिनकर ने भीष्मोचित ओज और गरिमा के साथ किया ५४ है। भीष्म की 'अंगार-जैसी-वीरता' पर कवि विस्मय-

---

५१—मनु का पुत्र बने पशु-भोजन।
मानव का यह अंत !—४४ ३२०

५२—लड़ता वह लोभ से, किन्तु किया करता प्रतिशोध का झूठा बहाना—८२
......यह राज सिंहासन ही जड़ था इस युद्ध की मैं अब जानता हूँ;
द्रुपदा कच में थी जो लोभ की नागिन, आज उसे पहचानता हूँ। - ८४

५३—शरों की नोक पर लेटे हुए गजराज-जैसे,
थके, टूटे गरुड़-से, स्रस्त पन्नगराज-जैसे,
मरण पर वीर-जीवन का अगम बल-भार डाले,
दबाये काल को; सापास संज्ञा को सँभाले,—३८

५४—जिया प्रज्वलित अंगारे-सा मैं आजीवन जग में,
रुधिर नहीं था, आग पिघल कर बहती थी रग-रग में।—५१

विद्रूप है। इस महावीर की रग-रग में रुधिर नहीं, आग ही पिघल कर बह रही थी।

प्रत्येक मनुष्य के हृदय में प्रेम और सौन्दर्य की कोमल भावनाएँ अन्त-र्वृत्ति के रूप में वर्त्तमान रहती हैं। स्नेह और प्यार मानव हृदय का स्वाभाविक गुण है। ब्रह्मचर्य के कठोर व्रत ने इस कोमलता को भीष्म के हृदय में कभी पनपने नहीं दिया। उनके मनने कभी किसी को स्वप्न में भी प्यार की नजर से नहीं देखा। ६५ उनके मनके कुंज में न कभी प्यार की बयार डोली, न विरह की कोयल कूकी। भीष्म के जीवन में पुरुष भावों का तो खुलकर विकास हुआ, लेकिन स्नेह, सौन्दर्या-नुभूति आदि कोमल भाव उनके अचेतन मन में अवदमित होते गए। पुरुषत्व का आदर्श प्राप्त करने के लिए उनने अपने कोमल, नारिसुलभ भावों को दबा डाला। कोमलता उनके मानस के चेतन स्तर से तिरोहित होकर अचेतन में जा छिपी और उनके अनजाने पनपती गई, हरी होती गई। प्रत्येक व्यक्ति के मानस में पुरुष या नारी की कोई आदिम छवि (Archetype) वर्त्तमान रहती है। पुरुष के मन में बसनेवाली नारी छवि को युग ने एनिमा (Anima) की संज्ञा दी है। इस नारी-छवि को पुरुष दबा सकता है, दूर नहीं कर सकता, हटा सकता है, मिटा नहीं सकता, भुला सकता है, भिन्न नहीं कर सकता। पुरुषोचित आदर्श की सतत उपा-सना के कारण यह नारी छवि अन्तर्मुखी होकर बलवती होती गई, वेगवती होती गई, अपने अन्दर अपार कोप-शक्ति लेकर फूट पड़ने के लिए प्रतीक्षा करने लगी। भीष्म के धर्म, विवेक और कर्म ने ६६ उनके स्नेह हृदय और अनुभूति को सदा नियंत्रण में रखने का प्रयास किया। स्नेह, करुणा, प्रेम, अनुभूति, दया, समर्पण, क्षमा आदि भाव अत्यन्त कोमल होने के कारण स्त्रियोचित कहे जा सकते हैं, और ज्ञान, प्रतिशोध, दंड, युद्ध, शासन, संयम, नियंत्रण आदि भाव सबल होने के कारण पुरुषोचित। आत्म नियंत्रण एक मर्दाना भाव है। भीष्म के पुरुष के सामने नारी घूँघट काढ़े कोने में दुबकी रही। भीष्म का हृद्गत स्नेह जब-जब सिर उठाता

६५—बही न कोमल वायु, कुंज मन का था कभी न डोला,
पत्तों की झुरमुट में छिप कर विहग न कोई बोला,
चढ़ा किसी दिन फूल, किसी का मान न कर पाया मैं,
एक बार भी अपने को था दान न कर पाया मैं।—६०

६६—जीवन के अरुणाभ प्रहर में कर कठोर व्रत धारण,
सदा स्निग्ध भावों का यह जन करता रहा निवारण।
न था मुझे विश्वास, कर्म से स्नेह श्रेष्ठ, सुन्दर है,
कोमलता की लौ व्रत के आलोकों से बढ़ कर है।—६२

स्वरण से प्रभु के नियम को चाप, तू बना है चाहता भगवान अपना आप

भौं उठा पाये न तेरे सामने बलहीन,
इसलिए ही तो प्रलय यह ! हाय रे हियहीन ।
शमित करने को स्वमद अति ऊन,
चाहिये तुमको मनुज का खून ।"

आज सम्राट् 'अशोक' चतुर्दिक् शोक बाँटते फिरते हैं; उनके नाम के साथ यह कितना बड़ा व्यंग्य है । वे गोदियों के लाल लूटते हैं, सिन्दूर सज्जित भाल लूटते हैं । वे लुटेरे हैं, हत्यारे हैं । अशोक अपने 'हृदय के कान' से वैधव्य की करुण चीत्कार और बूढ़े पिता की आर्त्त पुकार सुन रहे हैं:—

"रो रही हैं वे कि जिनका जल गया शृंगार,
रो रहीं जिनका गया मिट फूलता संसार,
जल गई उम्मीद, जिनका जल गया है प्यार;
रो रहीं जिनका गया छिन एक ही आधार ।
चूड़ियाँ दो-एक की प्रति गृह हुई हैं चूर,
पुछ गया प्रतिगेह से दो-एक का सिन्दूर ।
बुझ गया प्रतिगृह किसी की आँख का आलोक,
इस महा विध्वंस का दायी महीप अशोक ।"

अशोक को स्वयं अपने आप से घृणा हो गई । आत्म ग्लानि से वे तिलमिला उठे । उन्हें रह-रह कर याद आती है ;—

"हाय रे गर्हित विजय मद ऊन
क्या किया मैंने ! बहाया आदमी का खून ।"

मनुष्य के हृदय में देवता और दानव का, करुणा और क्रूरता का एक साथ निवास है । जिस प्रकार अंगार की लौ राख से ढँकी रहती है, उसी प्रकार व्यक्ति का देवत्व भी स्वार्थ, हिंसा और अभिमान से आच्छादित रहता है । आत्मग्लानि और पश्चात्ताप की फूँक पाकर राख उड़ जाती है और देवत्व की दिव्य आभा चमक उठती है । बहिर्मुखता की चकाचौंध में मनुष्य की आत्मा की लौ मलिन पड़ जाती है, लेकिन अन्तर्मुखी होते ही वह अपने को पहचान कर पुलकायमान हो उठती है । जिस प्रकार भगवान शङ्कर की अर्द्धनारीश्वर मूर्ति में पुरुष का ओज और नारी की सुकुमारता एक आलिंगन में आबद्ध रहती है, उसी प्रकार सम्राट् अशोक के हृदय में पुरुष और नारी वर्तमान हैं । उनके हृदय का पुरुष पराजित हो जाता है और नारी करुणा के दीप बालती है । उनके पौरुष की हार पर करुणा मन्द-मन्द मुस्कराती है,— 'पायलों की सुन मृदुल झनकार, गिर गई कर से स्वयं

तलवार।' अशोक का हृदय-प्रदेश अब करुणा की अरुण किरणों से आलोकित हो उठा है। वे भगवान से हाथ जोड़कर यह वरदान माँग रहे हैं:—

"शत्रु हो कोई नहीं हो आत्मवत् संसार,
पुत्र-सा पशु-पक्षियों को भी सकूँ कर प्यार।
मिट नहीं जाये किसी का चरण-चिह्न पुनीत,
राह में भी मैं चलूँ पग-पग सजग संभीत।
हो नहीं मुझको किसी पर रोष,
धर्म का गूँजे जगत में घोष।
बुद्ध की जय! धर्म की जय! संघ का जय गान,
आ बसें मुझमें तथागत मारजित् भगवान!"

और तब उन्मादिनी विजय-सुन्दरी रक्त-कर्दम के कमल का हार लिए हुए रक्त पर बहती हुई अशोक के निकट आ लगीं, लेकिन:—

"पर डिगे तिल भर न धीर महीप,
थी जला करुणा चुकी तब तक विजय का दीप।"

इस प्रकार, इस लम्बी कविता में कवि ने मानव के उद्वेलित हृदय में से हिंसा को पराजित करती हुई करुणा के अवतार का नाटकीय अंकन किया है। दिनकर ने अशोक के सिसकते हृदय में प्रवेश किया है, उसके स्पंदनों को सुना है, अनुभव किया है और स्वयं उसके साथ आँसू बहाया है। इस कविता के छन्द भी रुकते-रुकते अपने चरण आगे बढ़ाते हैं। अशोक की परिवर्तित चित्त-दशा के अनुरूप छन्दों की गति और लय में परिवर्त्तन होता चलता है।

सामधेनी की अधिकांश कविताएँ अत्यन्त साधारण कोटि की हैं। ये कवि के शिथिल और अलस क्षणों में लिखी गई प्रतीत होती हैं। जिन कविताओं में देश की तत्कालीन परिस्थितियों का अंकन हुआ है वे अधिक बलशाली और वैदग्ध्य-पूर्ण हैं। 'राही और बाँसुरी' जैसी कविताओं में व्यर्थ का वाक्विस्तार खटकता है, 'आग की भीख', 'जवानियाँ', 'साथी', दिल्ली और मास्को' और 'जयप्रकाश' के कारण सामधेनी के नाम की सार्थकता सिद्ध होती है।

बापू

मानवता के इतिहास में महात्मा गाँधी का एक विशिष्ट स्थान है। 'बापू' जैसे छोटे प्यारे पद में मानवता का सार समा गया है। अपने जीवनकाल में इतनी पूजा और श्रद्धा संसार के किस व्यक्ति को मिली है? किस व्यक्ति के निधन पर इतनी आँखें एक साथ रो पड़ी हैं? बापू का उदात्त चरित स्वयं एक महाकाव्य है।

बापू हमारे युग के नायक हैं। कवि अपने समकालीन नायक का चित्र सम्पूर्णता से नहीं उतार पाते। आज के जीवन में राजनीतिक चहल-पहल के कारण एक विशृंखलता आ गई है। इससे वर्त्तमान युग के कवि आश्वस्त होकर किसी महाकाव्य का प्रणयन नहीं कर पाते। जमकर किसी चरित का सांगोपांग वर्णन इस हो-हल्ले में नहीं हो पाता। चित्र में अंकित करते समय तत्कालीन वातावरण की गर्मी और वैयक्तिक विचारों की सनसनाहट कवियों के सामने आ खड़ी होती है। महाकाव्य के नाम से इधर जो दो-चार ग्रंथ नजर आते हैं वे उछल-कूद में ही लिखे गए प्रतीत होते हैं।

'बापू' के इर्द-गिर्द (दिनकर की) कल्पना बहुत दिनों से मँड़रा रही थी।' लेकिन अनुभूति-पक्ष की दुर्बलता के कारण वह उनकी गोद में नहीं उतर सकी। इस लिए कवि की कल्पना बापू की तस्वीर उतारने में असमर्थ रही। बापू के विराट व्यक्तित्व के सामने साधारण आदमी अपनी त्रुटियों का स्मरण कर अनायास नत-मस्तक हो जाता है। बापू की निश्छल सरल मुस्कान आदमी को अपनी ओर खींचती है। उनकी मुस्कान की चाँदनी में वह अघाकर नहाता है; लेकिन अपनी लघुता का ध्यान आते ही वह घबड़ा उठता है। बापू की रोशनी से आँख नहीं मिला सकने के कारण वह अँधेरे में भागता है। बापू के अतिमानव व्यक्तित्व में गौरीशंकर की उच्चता और मानसरोवर की शीतलता है। शिखर देखकर कवि के मन शिशु का पाँव पिराता है और सरोवर देखकर मचलता है। बापू के सत्य के साक्षात्कार से विस्मय उत्पन्न होता है; उनकी करुणा की परस से तन-मन पुलकित हो जाता है। दिनकर ने 'बापू' में विराट् का, गौरीशंकर शिखर का अवलोकन किया है, इसलिए इसमें विस्मय और रोमांच के क्षणों का अधिक वर्णन है। चित्त में आनन्द दशा की प्राप्ति के लिए द्रष्टा और दृश्य का तादात्म्य आवश्यक है। एकात्मभाव के अभाव में, विषमता के कारण, आनन्द की प्रकृत उद्भूति नहीं हो पाती। चित्त की साधा-

स्वीकृत अवस्था ही आनन्दोपभोग की अधिकारिणी है। मैं और तुम के द्वैत का तिरोभाव होना चाहिए। दिनकर बापू के सामने अपनी मानवीय दुर्बलताओं को न बिसार सके। बापू और साधारण मनुष्य के बीच की खाईं बड़ी चौड़ी है :—

"कितना विभेद ! हम भी मनुष्य, पर तुच्छ स्वहित में सदा लीन
पल-पल चंचल, व्याकुल, विपण्ण, लोहू के तापों के अधीन !
पर, तू तापों से परे कामनाजयी, एक रस निर्विकार,
पृथ्वी को शीतल करता है, छाया द्रुम-सी बाहें पसार।"

संसार के तापों को सहते हुए भी बापू प्रसन्न हैं। उनकी एकरस, निर्विकार मूर्ति को देखकर कवि को विस्मय होता है :—

"जाने कितने अभिशाप मिले, कितना है पीना पड़ा गरल,
तब भी नयनों में ज्योति हरी, तब भी मुख पर मुस्कान सरल
सामान्य मृत्तिका के पुतले, हम समझ नहीं कुछ पाते हैं,
तू ढो लेता किस भांति पाप जो हम दिन रात कमाते हैं"।

दिनकर का वीर हृदय बापू के अहिंसावाद को सोलहो आना अपनाने से लाचार दीखता है। प्रौढ़ता में शांति है, यौवन में उद्वेलन है। दिनकर देश की सुस्ती को स्वाहा करने के लिए जवानी की मस्ती चाहते हैं। वे गाँधी जी की 'शठ सन विनय' वाली नीति को नापसन्द करते हैं। विनम्रता दुष्ट को और उद्दंड बनाती है। 'कुरुक्षेत्र' में 'खुश करने की नीति' की आलोचना की गई है। गाँधी जी के समझौतावाद से नया खून बेतरह घबराया रहता है। युवकहृदय सर्व या शून्य (All or none) की नीति पसंद करता है। आदर्श जगत् में बापू की तपस्या की स्तुति करते हुए भी कवि यथार्थ जगत् में जयप्रकाश के 'जूझ मरने' पर रीझे हुए हैं। दिनकर अपने वीर नायक के गले अंगार-हार पहनाना चाहते हैं। बापू इन अंगारों से परे हैं। इसलिए कवि के 'उद्वेलित ज्वलित गीत' बापू के सामने शर्माते हैं।

साम्प्रदायिक विद्वेष की धधकती ज्वाला में गाँधी—अकेला गांधी—निर्भीकता से कूद पड़ते हैं, लपटों में मुस्कुराते हैं। यह दृश्य दिनकर को मन्त्र-मुग्ध कर रहा है। दहकते अंगारों पर निर्भय होकर चलना, हथेली पर आग सुलगाकर सिर का हविष् चढ़ाना—सच्चा शूर धर्म है। विषैले सर्पों के फन पर मचलने वाले गाँधी में अपने 'आदर्श वीर' की एक झलक पाकर कवि की वाणी वीरछंदों में फूट पड़ती है। —

"मत साथ लगे कोई मेरे, एकाकी आज चलूँगा मैं,
जो आग उन्हें है भन रही उसमें जा स्वयं जलूँगा मैं।

बापू में सच्चे प्रेमी की आत्मा छिपी हुई है। ईसा के समान बापू भी सभी प्राणियों को प्यार करते हैं। यदि कोई उनका तिरस्कार भी करे तो वे उसका सदा सम्मान ही करते हैं। 'वे जहर का जवाब अमृत से देते हैं :–

"प्रेमी की यह पहचान परुषता को न जीभ पर लाते हैं,
दुनिया देती है जहर, किन्तु, वे सुधा छिड़कते जाते हैं।"

बापू का समयुगीन होना बड़े सौभाग्य की बात है। पूर्व जन्म के पुण्य से ही ऐसे देवता के दर्शन होते हैं। दर्शन न सही, उनके तन को छूकर बहने वाली हवा तो मुझे लगती है :—

"यह छोटी-सी भंगुर उमङ्ग, पर कितना अच्छा नाता है,
लगता है पवन वही मुझको जो छूकर तुझको आता है।"

'बापू' को 'छोटी-सी पुस्तक' की जगह लम्बी-सी कविता कहना अधिक उपयुक्त होगा। बापू की बढ़ती हुई लोकप्रियता ने इसे पुस्तिका का रूप प्रदान किया। प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल कविता की प्रकृति में भी स्वाभाविक परिवर्तन किया जा सकता है, लेकिन, दिनकर की काव्य-प्रकृति सहज झुकना नहीं जानती। बापू के भव्य शांत व्यक्तित्व को चित्रित करने वाली उदात्त शैली का अभाव पुस्तक में जहाँ-तहाँ खटकता है। 'बापू' में बापू की हिमानी चाँदनी का परस नहीं होता। उनकी बूधिया हँसी देखने को जी तरसता है। दंगे फसाद के कोलाहल से थोड़ा उठ कर बापू का आवाहन करना चाहिये था। उनका व्यक्तित्व पद्म-पत्र की तरह जल में रहते हुए भी उसके ऊपर उठा रहता है।

'बापू' की भाषा-शैली लक्षणा शक्ति के सहारे बिम्ब ग्रहण कराने में सः कुशल है, लेकिन, लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता अनुभूतियों की कमी को नहीं दूर करती। दिनकर अपने ओजगुण के लिए सर्वत्र प्रशंसित हैं। 'बापू' में यह गुण भरा-पूरा है।

+ × +

आज से पाँच सौ पचास वरस पहले मिथिला की सघन अमराइयों में एक प्रेमोन्मत्त कोकिल की मधुर काकली सुनाई दी थी। इस कल-कूजन में वह अभिनव सुधा और मादक सम्मोहन व्याप्त था जिससे सम्पूर्ण उत्तरापथ का हरितांचल लहरा उठा। यौवन के रूप और माधुर्य, सम्मोहन और सम्वेदन, संयोग और वियोग के जो गीत विद्यापति ने गाए वे उसी मस्ती के साथ उन्हीं अमराइयों में से फिर न गुंजरित हुए! विद्यापति ने यौवन के मधुर पक्ष का चित्रण किया है। उनकी कविता स्वर्ग में स्नान करती हुई कामिनी हेरते ही हृदय में पंच-बाण हनन करती है। कहीं उ का हार टारते हुए वक्ष को थपथपाते हुए और मुखचंद निहारते हुए अपने 'पाहुन'

सपने में देखकर कोई रमणी रोमांचित हो रही है, कहीं भादर माह में भरे बादर को देखकर कोई विरहणी सूने मन्दिर में 'हमर दुख क नहिं ओर' गा रही है और कहीं कोई कामिनी 'कि जौवन रिये दूरे' की कसकती तान छेड़ रही है। विद्यापति ने यौवन के माधुर्य-पक्ष का संदेश विश्व को सुनाया है। यौवन के ओज-पक्ष का संदेश अभी तक नहीं सुनाया गया था,—यह दिनकर द्वारा परिपूरित हुआ। जगत में यौवन के माधुर्य और ओज की विशद निवृत्ति के लिए ही मानो विद्यापति और दिनकर की कविताएँ अवतरित हुईं।

संयोग से, विद्यापति और दिनकर दोनों शैव हैं। दोनों 'हर-हर बम' का नदोच्चार करते हैं। दोनों के शङ्कर जटा में नागिनी खोंसे, शृंगी फूँकते हुए तांडव नृत्य करते हैं। दोनों भैरवी और भवानी की जय-जयकार करते हैं। विद्यापति के शंकर सगुण साकार भगवान हैं, दिनकर के रुद्र विप्लव और विनाश के विराट रूप हैं। एक की भैरवी जगज्जननी कालिका है तो दूसरे की भवानी लाल क्रांति की अधिष्ठात्री है। विद्यापति की चण्डिका महिषासुर को कट-कट चबाती है, दिनकर की भवानी भार और वीरों का रक्त पीकर छूम-छनन नाचती है।

विद्यापति और दिनकर दोनों हिन्दी के लिए वरदान स्वरूप हैं। विद्यापति की कला परमेश्वर हर के शिर पर सुशोभित होने वाले बालचन्द्र की तरह निर्दोष है, दिनकर की कला शंकर के तृतीय नेत्र में प्रज्वलित होने वाली अग्नि-शिखा की तरह भास्वर और प्रचंड है। वह शशि-कला सर्वथा निष्कलंक है, यह अग्नि-शिखा यदा-कदा धूमायित है। विद्यापति स्वयं अनन्त वसन्त हैं। दिनकर ने अभी कुछ ही वसन्त देखे हैं। भगवान से प्रार्थना है कि यह तरुण राष्ट्र-कवि अपने जीवन में शत-शत वसन्त के दर्शन करें।